मराठे और अंगरेज



लेखक

नरसिंह चिन्तामणि केलकर

द्वारा लिखी मराठी पुस्तक

"मराठे आणि इंग्रेज" का हिन्दी अनुवाद



अनुवादक

हरिकृष्ण जोशी



प्रकाशक

आदर्श हिन्दी पुस्तकालय

४९२ मालवीय नगर

इलाहाबाद

दूसरा संस्करण] जनवरी १९७१ [मूल्य १२)

प्रकाशक
गिरिधर शुक्ल
आदर्श हिन्दी पुस्तकालय
४६२ मालवीय नगर
इलाहाबाद

मुद्रक—
उत्तम प्रिंटिङ्ग प्रेस
१०३६ बलुआघाट
इलाहाबाद-३

हमारी अप्राप्य एव विलुप्त ग्रन्थो के प्रकाशन की योजना

ो मे अपने अपने प्राचीन साहित्य का बहुत बडा गौरव और महत्व समझा जाता है। हमारी सभ्यता, उन्नति और विकास का स्रोत बहुत कुछ हमारे प्राचीन साहित्य के उत्तमोत्तम ग्रथो के आधार पर बना है। अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर अब तक, मानव जीवन के निर्माण और विकास मे भी प्राचीन साहित्य के उत्तमोत्तम ग्रथो के द्वारा ज्ञान की वृद्धि हुई है, पर खेद है इस सम्बन्ध मे भारत-निवासियो ने स्वत अपने प्राचीन साहित्य रत्न भण्डार से जितना लाभ नही उठाया, उससे अधिक लाभ विदेशियो ने उठाया है। दूर देशो से भारत मे आकर उन्होंने यहाँ के भारतीय साहित्य का मनन कर अपने ज्ञान को बढाया एव इसके साथ ही भारत के सम्बन्ध में उन्होंने ऐसे अनेक उत्तमोत्तम ग्रथ लिखे, जो मौलिक रूप से इस समय हमारे लिये बडे लाभदायक सिद्ध हुए हैं।

हजारो साल पहले से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक, मध्य एशिया तथा यूरोप की अनेक जातियों के लोगों का भारत मे भ्रमण के हेतु अथवा शासक की हैसियत से आवागमन होता रहा है और उनमे से अनेक ऐसे प्रतिभावान, योग्य लेखक और विद्वान भी आये, जिन्होंने वर्षों यहाँ रह कर यहा की प्राचीन सभ्यता, सस्कृति एव धार्मिक ग्रथो का अध्ययन करके भारत के सम्बन्ध में अपनी निजी भाषा मे ऐसे अनेक उत्तमोत्तम ग्रथ लिखे, जिनका बहुत बडा मौलिक महत्व समझा जाता है। खेद है सैकडों हजारों की सख्या में ऐसे भूल्यवान ग्रथो का पुनर्मुद्रण न होते रहने से अब वे विलुप्त और अप्राप्य होते जा रहे हैं। इसीलिये आगे आने वाली पीढ़ियों के लाभ की दृष्टि से भारत के सम्बन्ध में लिखे ऐसे सस्कृत, अरबी, फारसी, अङ्ग्रेजी आदि भाषाओ के उत्तमोत्तम ग्रन्थों का राष्ट्र भाषा हिंदी मे उनका अनुवाद छाप कर प्रकाशित करना आवश्यक समझ कर मैंने इस अभाव की पूर्ति करने का साहस किया है।

अनेक विद्यानुरागी, विद्वान और सम्मानित व्यक्तियों ने मेरी इस योजना को पसन्द किया है और ऐसे महानुभावों की शुभ कामना और आशीर्वाद पाकर ही मैंने इस शुभ कार्य में हाथ लगाया है। मेरे अपने विद्यार्थी जीवन में इतिहास ही मेरा मुख्य विषय था। अतएव, सदा से ही इस ओर अपनी रुचि, दिलचस्पी और जानकारी होने के कारण मैंने सर्व प्रथम अपनी इस योजना का शुभारम्भ उन महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थों से ही प्रारम्भ किया है, जो बिलकुल अप्राप्य और विलुप्त हो गये हैं और जिनका प्राप्त होना अब दुर्लभ है।

हमारी इस योजना को सफल बनाने में जो महानुभाव अपने सत्परामर्श और उत्तमोत्तम सुझाव देकर मुझे अपना सहयोग प्रदान करेंगे, उनका मैं बड़ा ही आभारी हूँगा।

आदर्श हिन्दी पुस्तकालय
४६२ मालवीय नगर, इलाहाबाद

गिरिधर शुक्ल
व्यवस्थापक

प्रस्तावना

आज से प्राय: सौ वर्ष पहले पूना की मराठाशाही का अन्त हो गया था। यह पुस्तक उसी का प्रथम शत सांवत्सरिक वाङमय श्राद्ध है।

मराठाशन्ही का वास्तविक अन्त किस दिन हुआ, इसके विषय मे मतभेद होने की सम्भावना है। कितने ही लोग इस दिन को १२ फरवरी सन् १७९४ मानते हैं, क्योंकि उस दिन प्रसिद्ध मराठा वीर महादजी सिंधिया की मृत्यु हुई थी। महाद जी सैनिक दृष्टि से मराठाशाही के प्रधान आधार-स्तम्भ थे, इस सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है।

कितने ही लोग मराठाशाही के अन्तिम दिन को १३ मार्च सन् १८०० मानते हैं, क्योंकि उस दिन विख्यात मराठा राजनीतिज्ञ नाना फड़नवीस काल-चक्र के शिकार हुए थे। नाना के सम्बन्ध मे अङ्गरेज इतिहासकारो ने यह लिख रखा है कि नाना के साथ ही मराठों की बुद्धिमता भी चली गई।

कितने ही लोग इस दिन को ३१ दिसम्बर सन् १८०२ मानते हैं, क्योंकि उस दिन बसई की सन्धि हुई थी और बाजीराव अङ्गरेजो का गुलाम बन गया था। इसके अलावा अङ्गरेजों की मध्यस्थता से मराठी राज्य के केन्द्र (हृदय) के टुकड़े-टुकड़े हो गये थे।

कुछ लोग इस दिन को २३ सितम्बर सन् १८०३ मानते हैं, क्योंकि उस दिन बसई के संग्राम में सिंधिया का प्रत्यक्ष पराभव हो गया था और मराठे सरदारों का संघ छिन्न भिन्न हो गया था। इससे संसार में प्रसिद्ध हो गया कि अब मराठाशाही के प्रबल होने का कोई उपाय नहीं है।

कितने ही इस दिन को १७ नवम्बर सन् १८१७ मानते हैं। उसका कारण यह है कि उस दिन पूना में पेशवाओं के राजप्रासाद पर अङ्गरेजों के झण्डे फहराये गये थे।

कुछेक विद्वानों ने ३ जून सन् १८१८ को ही इसकी मान्यता दी है, क्योंकि उस दिन बाजीराव ने असीरगढ़ के निकट ढोलकोट में जनरल मैलकम को आत्म समर्पण कर दिया था और उनके हाथ में राज्य दान का अधिकार छोड़ दिया था।

कितने ही लोग उस दिन को ता० २६ मई सन् १८४९ मानते हैं क्योंकि उस दिन मराठाशाही की जड़, सतारा का राज्य अङ्गरेजो ने अपने कब्जे में कर लिया था।

ऊपर की ए सात तारीखों में से कौन सी तिथि सही है, यह अपने-अपने विचार हैं। साधारणतः सन् १८१७ १८ के बीच का ही वर्ष मराठाशाही के अन्त का सम्वत्सर माना जाता है और यही हमको भी उचित प्रतीत होता है।

प्रति सांवत्सरिक श्राद्ध एक निश्चित तिथि को ही किया जाता है किन्तु शत सांवत्सरिक श्राद्ध वर्ष भर में किसी भी दिन करने के काम चल सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक ठीक ता० १ जून, १९१८ को प्रकाशित करने का विचार था। उसको पूर्ण करने का कार्य शिथिल पड़ गया। परन्तु कुछ समय के बाद यह निर्णय होने पर कि हम लोगों को माघ मास में भारत के बाहर जाना पड़ेगा और कदाचित हम सन् १९१९ के पहले यहाँ पहुँच न सकेंगे, इसलिए पुस्तक को प्रकाशित करने का काम यथा सम्भव शीघ्र समाप्त कर लेना चाहिए।

जब से मराठे और अङ्गरेजों में सम्बन्ध स्थापित हुआ, उस समय से लेकर पेशवाई के अन्त होने के समय तक—केवल इन दोनों के विषय ही का—संक्षिप्त इतिहास इस पुस्तक के प्रारम्भ में दे दिया गया है। अन्त के अध्यायों में कुछ प्रधान प्रधान बातों का ही वर्णन है। इस पर भी यदि अङ्गरेज और मराठों के सम्बन्ध में पूर्ण और अपनी इच्छा के अनुकूल विवेचन करना हो तो इतनी ही बड़ी एक और पुस्तक लिखनी पड़ेगी। हमने जो मसाला एकत्रित किया है उससे यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है और सम्भव है कि यदि पूरा समय मिल गया तो कदाचित् ऐसा भी हो जायेगा। यह हमें मालूम है कि वर्तमान पुस्तक में विचार किये हुए अनेक विषयों का विस्तृत वर्णन स्थानाभाव के कारण नहीं किया जा सका है जिससे कुछ भाग केवल याददाश्त के समान बन गये हैं। वास्तव में वर्तमान पुस्तक के समान पुस्तक ऐसे मनुष्य द्वारा लिखी जाने की आवश्यकता थी, जिसने अपनी सारी जिन्दगी में इतिहास का अध्ययन किया हो।

पूना
१ मार्च सन् १९१८ } नरसिंह चिन्तामणि केलकर

विषय-सूची

आठवाँ अध्याय

मराठाशाही की सैनिक व्यवस्था

नवाँ अध्याय

मराठा राज्य की विभागीय व्यवस्था

दसवाँ अध्याय

ग्यारहवाँ अध्याय

—:०:—

मराठे और अंगरेज

— ० —

पहला अध्याय

अङ्गरेजो के पहले का महाराष्ट्र

मराठो और अङ्गरेजो की सबसे पहली भेंट कहाँ और कब हुई इसका विश्वस्त लिखित प्रमाण नही मिलता और न परिश्रमी एव सूक्ष्म दृष्टि इतिहास सशोधक ही इसका अनुमान बाँध सकते हैं। जब इन दोनो की पहली भेंट हुई होगी, तब ये दोनो एक दूसरे को पहिचानते भी न रहे होंगे। जिस समय अङ्गरेज पहले-पहल यहाँ आये थे उस समय इस देश पर मुसलमानों का राज्य था और इसलिए उनकी दृष्टि मे मुसलमानो का महत्व जमना स्वाभाविक था। फिर मराठो की ओर उनका लक्ष्य क्यो जाता? सूरत अथवा कोकण के अन्य बन्दरों पर जहाज से उतर कर अङ्गरेज लोग सीधा दिल्ली का रास्ता पकडते थे। इधर मराठो ने उन दिनों अङ्गरेजो का नाम भी न सुना रहा हो तो आश्चर्य क्या! क्योंकि उस समय भारत म डच और पोर्तगीज व्यापारी ही प्राय आते-जाते थ। इसलिए टोपीवाला मे टोपीवाला के मिल जाने से मराठो का भी इनकी ओर विशेष रीति से ध्यान जाने का कोइ कारण नहीं था। मराठो को देखकर अङ्गरेजो ने भी समझा होगा कि नीचे मूतना जिस पर पैरो तक लटकने वाला अङ्गरखा और सिर पर विचित्र पगडी पहिनने वाले ये लोग किसी आधी जगली जाति के मनुष्य हैं। इसी तरह टोकनी के समान अङ्गरेजो की टोपी, उनके गले मे बडा लम्बा चौडा गलपट्टा और उनका गोरा रग देखकर मराठे कहते रहे होंगे कि ये कैसे विचित्र प्राणी हैं? अभी भी गावों में कैंची, चाकू आदि बेचने वाले काबुलियों के आने पर जिस तरह बालक उनके आसपास इकट्ठे हो जाते हैं, उसी तरह अङ्गरेज व्यापारियो को देख कर उस समय भी ऐसे ही इकट्ठे होते रहे होंगे। पहले पहल के अङ्गरेज प्रवासियो ने

भारत-वासियो का जो वर्णन लिखा है उसमे भी बस्ती के लड़को की कौतूहलपूर्ण दृष्टि की झलक दिखाई देती है और यह ठीक भी है क्योंकि दो विदेशियो की पहिली भेंट एक दूसरे को आश्चर्य मे डालने वाली होती है।

पहली भेंट के समय अङ्गरेजो को यह कल्पना भी न हुई होगी कि किसी दिन इनका राज्य जीत कर हम लोग इनके स्वामी बन बैठेंगे और न मराठो ने ही सोचा होगा कि हमारे सामने सिर नीचा करने वाले विनय एव शिष्टाचारपूर्वक बोलने वाले तथा ग्राहको को प्रसन्न करने की चेष्टा करने वाले ये नये नये व्यापारी एक दिन हमारे राजा होंगे, परन्तु दैव की लीला विचित्र है। उसके योग से जगत् मे अनेक चमत्कारिक घटनायें हुआ करती हैं जिनमे से छ हजार मील के समुद्रीय मार्ग को पार करते हुए व्यापारी बनकर अङ्गरेजो का यहाँ आना और फिर इस देश के स्वामी बन जाना एक है। इतिहास मे इतनी दूर पर रहने वाली जातियो मे इतना निकट सम्बन्ध हो जाने का शायद यह पहला ही उदाहरण है। अब जगत् मे कोई भी मनुष्य ऐसे नहीं दिखाई देते जो अनादिकाल से किसी एक ही देश के निवासी हो। हजारो वर्ष पहले वर्तमान मनुष्य समाज के पूर्वज अपना निज स्थान छोड़कर भिन्न भिन्न देशो मे जा बसे थे जिसका पता भी अब उनके वशजो को नही है। इसलिए मानव वश का उत्पत्ति-स्थान शोधने की दिव्य दृष्टि प्राप्त होने पर भी उसका स्थानीय देशाभिमान शायद ही नष्ट हो और उस देशाभिमान के बदले विश्व बन्धुत्व या वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना उसके हृदय मे जागृत हो सके। यदि हम लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक महोदय के लिखित प्रमाणो के अनुसार यह भी मान लें कि आर्य-जाति उत्तरी ध्रुव से क्रमश नीचे-नीचे भूमध्य रेखा पर्यन्त आई है तो भी भारतवर्ष मे उन लोगो का निवास इतने दीर्घकाल से है कि उन्हे इस बात का भान अथवा विश्वास ही नही हो सकता कि हम यहाँ विदेशी हैं। अङ्गरेजो के और हमारे पूर्वज उत्तरी ध्रुव के पास किसी एक ही स्थान मे चाहे भले ही रहे हो, पर यह बात मनुष्य समाज की स्मृति पटल पर अब नही रही और साहित्योत्पत्ति से भी पहले की होने के कारण अब उस पर अधिक जोर देने की आवश्यकता भी नही है। अब तो यही मानना उचित है कि अनादिकाल से हम हिन्दू-आर्य भारत के और अङ्गरेज यूरोप के निवासी हैं। कुछ भी हो, मराठे और अङ्गरेज चाहे आदिकाल के भाई बन्धु हो, अथवा न हो पर अब इस प्रकार उनका निकट सम्बन्ध हो जाना एक महान आश्चर्य की बात अवश्य है।

सत्रहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे, हिन्दुस्तान मे, एक ही समय पर दो राज सत्ता उदयोन्मुख हुई, जिनमे से एक तो अङ्गरेजो की थी जो यहाँ पहले पहल नवीन अस्तित्व मे आने वाली थी और दूसरी मराठो की थी जिसका कि पुनरुज्जीवन हो रहा था। तेरहवी शताब्दी के पहले यहाँ प्राय हिन्दुओ का ही राज्य था पर उनमे पहले के समान एक भी ऐसा सम्राट नही था जिसका शासनाधिकार सम्पूर्ण भारत मे रहा हो।

उस समय सम्पूर्ण देश मे दस-बीस स्वतन्त्र राजा थे और शेष इनके जीते हुए, अथवा इनके आश्रय मे रहने वाले उपराजा, माण्डलिक नायक, जागीरदार, मालगुजार, पटेल आदि थे। हिन्दुस्तान मे स्थानीय स्वतन्त्रता की परिपाटी बहुत प्राचीन है। पहले के विजयी राजा अधिक यदि कुछ करते तो केवल इतना कि अपना राज लेकर लौट जाते थे। विजयेच्छा चाहे कितनी ही प्रबल क्यों न रही हो, पर वे आजकल के समान जीते हुए देश से गोह के समान चिपट नही जाते थे और न जोंक के समान देश का रक्त पी पीकर पेट भर जाने पर ही उसे छोड़ते थे। भारत मे देश विजय, केवल कीर्ति और शौक के लिए की जाती थी, पेट के लिए नही। महाभारत अथवा रामायण मे दिग्विजयो का जो वर्णन है उससे यही सिद्ध होता है कि प्राचीन काल मे दिग्विजय के लिए निकला हुआ वीर अपने प्रति-पक्षी के नमन करने अथवा सम्मानपूर्वक आश्रित हो जाने पर लौट जाता था। यदि कोई राजा किसी दूसरे राजा को जीतता तो उसके राज्य मे अपने प्रतिनिधि को सदा के लिए नही रखता था और यदि रखता भी था तो इन प्रतिनिधियो का अधिकार उसकी अन्तर-राज्य-व्यवस्था मे हस्तक्षेप करने का नही होता था। उस समय "उत्तर दायित्व" का अर्थ कुछ दूसरा माना जाता था। यदि किसी स्वाभिमानी राजा को अपनी सभ्यता श्रेष्ठ मालूम होती थी तो भी वह उसे दूसरो पर लादने या बलात् दूसरे के मुह मे ठूसने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नही लेता था। अशोक आदि राजाओ ने भी दूसरे देशो को जीता था, पर पराजित लोगो की अन्तर्व्यवस्था मे हस्तक्षेप करने की आकाक्षा कभी नही की। धर्म, रीति-व्यवहार, न्याय, शिक्षा, प्रबन्ध, ग्राम-व्यवस्था, व्यापार, उद्यम आदि बाते सनातन-पद्धति के अनुसार करने की स्वतन्त्रता लोगो को पूर्णरूप से थी, और राज्याधिकारी तथा प्रजा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध कभी-कभी ही हुआ करता था। प्रत्येक जाति की पञ्चायत रहा करती थी। इन्ही पञ्चायतो के द्वारा राजाज्ञा का पालन कराया जाता था। विजित राष्ट्र कर देते थे और उस कर का भार ग्राम्य संस्था पर हुआ करता था। ग्राम्य संस्था के सिवा दूसरा कोई अधिकारी नही माना जाता था।

मुसलमान लोग हमारे देश मे तेरहवी शताब्दी के अन्त मे आए। उनके समय में उक्त स्थिति मे कुछ थोडा सा अन्तर पडा। ये लोग विदेशी थे, अन इनकी विजय केवल कीर्ति के लिए नही हुआ करती था। पश्चिम के समान पूर्व मे भी जहाँ-जहाँ ये लोग गये वहाँ-वहाँ इन्होने सदा के लिए अपना डेरा डाला और अपना तथा अपने अनुयायियो के पेट भरने का भार विजित देश की प्रजा के मत्थे मढा। केवल कर लगाने से इन्हें सन्तोष नही होता था। अपनी आजीविका चलाने और आमोद प्रमाद के लिए इन्हे वार्षिक वसूली की आवश्यकता दीखने लगी इसलिए प्रजा पर कर का बोझ स्थायी रूप से शासक रखते थे तो भी उन्होंने ग्राम संस्था की व्यवस्था मे कभी हाथ नहीं डाला। धर्म का प्रसार करने की ओर उनका पूरा लक्ष्य था,

सम्बन्ध व्यक्ति विशेषों से ही था। ये लोग यहाँ परदेश से तो आये थे, पर इन्होंने मूल-देश से अपना सम्बन्ध सर्वथा तोड़ लिया और भारत को अपना देश मान लिया था। यहाँ पर स्थायी निवास करने के कारण उन्होंने अपने घर द्वार यहीं बनवाये। यहीं खेती-बाड़ी की और व्यापार उद्यम भी यहीं आरम्भ किया। मस्जिद आदि पवित्र भवन भी यहीं बनवाये। यहाँ का पैसा यहाँ ही खर्च किया। सारांश यह कि मुसलमान विजेताओं ने हिन्दुस्तान को ही अपना देश माना और यहीं का देशाभिमान रक्खा। दूसरी बात यह है कि मुसलमानों ने हिन्दुओं को विजित होने के कारण अधिकार भ्रष्ट नहीं किया। गाँवों की दफ्तरदारी, परगना और महालों के ताल्लुकेदारी, प्रान्त की सूबेदारी और सेना की सरदारी मुसलमानी जमाने में हिन्दुओं को भी मिला करती थी और उनमें से यदि कोई हिन्दू मुसलमान हो जाता था तो फिर पूछना ही क्या था? विलायती अथवा देशी मुसलमान का भेद बादशाह की दृष्टि में कुछ भी नहीं होता था। लेकिन मुसलमानों को हिन्दू स्त्रियों से सम्बन्ध करने में आपत्ति न होने के कारण हिन्दुओं को शाहजादों तक के अधिकार मिलना शक्य था। कहा जाता है कि अहमदनगर की बादशाही, बरार की इमादशाही के पहले दोनों राजा, जन्म से ब्राह्मण थे। मुसलमान लोग आलसी, आराम-तलब और अभिमानी होने के कारण स्वतः कभी कोई राज काज नहीं करते थे, यहाँ तक कि अपनी जवाबदारी के काम को भी जहाँ तक बनता वहाँ तक दूसरों अर्थात् हिन्दुओं पर ही डाल देते थे और उन्हीं से वे काम लेते थे। इन सब कारणों से हिन्दुओं को यह भान नहीं होता था कि हम स्वदेशी होने पर भी विदेशियों के अधीन हैं। इसलिए वे यही समझते थे कि मुसलमान राज्य हमारे ही भरोसे राज्य करता है और इसीलिए वे बादशाही नौकरी करना बड़े सम्मान और प्रतिष्ठा की बात मानते थे। उस समय अभिजात वर्ग को नेतृत्व ग्रहण करने में प्राचीन प्रतिष्ठा के साथ साथ नवीन सम्मान प्राप्त करने का भी अवसर था। मुसलमानों के शासनकाल में हिन्दुओं की प्राचीन जागीरें भी कायम रहीं और नवीन भी मिलीं। मुसलमान राजा उत्तर हिन्दुस्तान में केवल उदयपुर को छोड़ अन्य सब राजपूत राज्यों को विजित कर उनके स्नेह भाजन बने। सोलहवीं शताब्दी में दक्षिण में भी मुसलमान राजाओं का स्वामित्व न मानने वाला और उनसे विरोध करने वाला विजयनगर के राजा के सिवा और कोई नहीं रह गया था। दक्षिण समुद्र के समीप मुसलमानों का राज्य अन्त तक स्थापित न हो सका जिससे भारतीय प्राचीन परम्परा के अनुसार हिन्दू और द्रविड़, अर्थात् अनार्य राजा वहाँ स्वतन्त्र राज्य करते रहे।

तेरहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक मुसलमानों का राज्य अबाधित रीति से चला। उत्तर हिन्दुस्तान में इनका जितना विशेष प्रभाव था दक्षिण में उतना ही कम था। यद्यपि उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण में मुसलमानी स्वतन्त्र राज्य पहले स्थापित हो गये थे और वे दिल्ली के बादशाह की अधीनता से स्वतन्त्र हो गये

थे, तो भी इन राज्यों के छोटे होने के कारण इन्हें हिन्दू अधिकारी तथा हिन्दू प्रजा के प्रेम पर अवलम्बित रहना पड़ता था। दक्षिण में मुसलमान राजाओं के आश्रित हिन्दू सरदार ही, उनके राज्य के स्तम्भ थे, दिल्ली के पास से ही मुसलमानी स्वतन्त्र राज्यों की सीमा लग जाती है और वह ठेठ कास्टण्टिनोपल पर्यन्त पहुँच जाती है। अधिक क्या, हिन्दुस्तान के मुसलमानी राज्य वृक्ष की शाखा कही जाय तो भी अनुचित न होगा। इसलिए दिल्ली के दरबार में प्राय अन्य मुसलमानी देशों से आये हुए असल मुसलमानों का आगमन सदा होता रहता था और उनके यहाँ निवास तथा धर्म प्रचार करने के कारण दिल्ली के आसपास मुसलमानों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई थी, परन्तु दक्षिण देश में यह बात नहीं थी। दक्षिण में आने के लिए इनके मार्ग में दो बातें विघ्न रूप थीं—एक तो दक्षिण देश बहुत दूरी पर था, दूसरे, दक्षिण के मुसलमानी राज्य आरम्भ से ही ब्राह्मणी अर्थात् ब्राह्मणों की कृपा से स्थापित होने वाले राज्य थे, इसलिए इन लोगों का झुकाव स्वभावतः न्यूनाधिक रूप में हिन्दुओं की ही ओर था। जिस तरह जफर खाँ को एक ब्राह्मण ने दासत्व से छुड़ाया उसी तरह दिल्ली के बादशाह के विरुद्ध विद्रोह कर अपने राज्य को उससे स्वतन्त्र कर लेने में भी उसके सहायक हिन्दू ही हुए। फिर दक्षिण में मुसलमानों की बस्ती कम थी, इसलिए उनकी रीति रिवाजों का प्रभाव भी हिन्दुओं पर न पड़ सका, प्रत्युत हिन्दुओं का अधिकांश में उन पर पड़ा। किसी भी ओर से देखा जाय, यही विदित होगा कि दक्षिण में मुसलमानी राज्य स्थापित हो जाने पर भी हिन्दुओं को अपने अधिकारों और प्रभाव के कम होने की शिकायतें करने के कारण अधिक नहीं थे।

दक्षिण में, मुसलमानी शासन, मराठों को अधिक असह्य नहीं मालूम हुआ। इसका कारण यह है कि राजा के मुसलमान होने पर भी देश प्रबन्ध और सेना सम्बन्धी कारबार प्राय हिन्दुओं के ही हाथ में रहता था। उनके साथ धर्म-छल सहसा नहीं किया जाता था और राज्य की ओर से फकीरों के समान ब्राह्मणों को भी वंश-परम्परा के लिए धर्मार्थ दान दिया जाता था। यह प्रसिद्ध ही है कि बीजापुर का एक बादशाह दत्तात्रय का भक्त था। किला की सनदें मुसलमान सूबेदारों के नाम पर भले ही दी जाती रही हों पर वास्तव में देखा जाय, तो सत्ता का काम काज करने वाले हिन्दू कर्मचारियों के हाथ में रहती थी। सरदार मुरारराव गोवलकोण्डा के एक बादशाह के दीवान थे। इसी तरह वहाँ के अन्तिम बादशाह पर मदन पण्डित नामक एक ब्राह्मण का इतना प्रभाव था कि उसके कारण बादशाह की और शिवाजी की मैत्री अबाधित रूप से सदा रही। दादू-नरसू काले, मलिक अम्बर के समान ही प्रसिद्ध थे और उन्होंने बादशाह की रियासत में जमीन के लगान की व्यवस्था बहुत अच्छी की थी। अहमदनगर के दरबार की ओर से मुगल दरबार में जाने वाले वकील प्राय ब्राह्मण ही होते थे। बुरहानशाह का प्रधानमन्त्री ब्राह्मण था। बीजापुर के दरबार में एसु—

पण्डित नाम का एक ब्राह्मण 'मुस्तहफी' का काम करता था। गोवलकोंडा दरबार के आकण्णा और मादण्णा नामक दो मन्त्री प्रसिद्ध ही हैं। मराठे सरदारों को भी बड़ी बड़ी मनसबदारियाँ दी जाती थी। एक बहमनी बादशाह ने २०० मराठा को अपना शरीर रक्षक नियत किया था। लाखोजी जाधव राव नामक एक मराठा सरदार ने बादशाहों को गद्दी पर बैठाने और पदच्युत करने के खेल कई बार खेले। इससे उसे यदि ब्राह्मणी बादशाही का 'किङ्ग मेकर' — राजा गढ़ने वाला कहा जाय तो अनुचित न होगा। मुरारराव जाधव ने एक बार बीजापुर दरबार की इज्जत बचाई थी। शाहजी ने बीजापुर और अहमदनगर के दरबारो मे बहुत ऐश्वर्य प्राप्त किया था और अहमदनगर के बालक बादशाह को अपनी गोदी मे बिठला कर अनेक वर्षों तक बादशाही शासन किया था। शिरके जाधव निम्बालकर घाटगे मोरे महाडीक, गूजर मोहिते आदि सरदार स्वयं बड़े धनवान थे और अपने पास दस-दस बीस बीस हजार सेना रखते थे। ये सब मुसलमानी राजाओ के ही आश्रित थे। इन "ब्राह्मणी मुसलमानी" राज्यो मे इस प्रकार स्नेहभाव रखने वाले मराठे जब दक्षिण मुगलो के आक्रमण होते, तब उग्र रूप दिखाने लगते थे। मराठो ने मुगलो के साथ करीब दो सौ वर्षों तक युद्ध किया और अपनी सम्पूर्ण सत्ता उनके हाथों मे कभी नही जाने दी। मुगलो के आक्रमण के दो सौ वर्ष पहले से तैयार होने वाली क्षात्र कर्तृत्व भूमि मे जो स्वातन्त्र्य बीज डाला गया था उसमे मुगलो के हिन्दू धर्म-नाशक नीति की तथा हिन्दुओ की स्वतन्त्रता अपहरण करने की गर्मी पाकर अङ्कुर फूट निकला और समय पाकर वह वृक्ष बन गया जिसमे कि छत्रपति शिवाजी के समय मे स्वतन्त्र हिन्दू साम्राज्य का मिष्ठ और उत्तम फल लगा।

हिन्दू लोगो का एक ऐसा भी समुदाय था जिसने मुसलमानी शासन के आने पर कभी सिर नहीं झुकाया था यद्यपि वह इस शासन मे पूर्ण स्वतन्त्र नही था, तो भी स्वतन्त्रप्राय अवश्य था। चौदहवी शताब्दी मे जब मुसलमानी सत्ता का प्रवाह महाराष्ट्र देश मे पहुँचा तो क्षण भर के लिए उसने मराठो को अवश्य झुका लिया परन्तु शीघ्र ही इन लोगो ने समुद्र मे डुबकी लगाने वालो के समान उस प्रवाह पर आक्रमण किया और जैसे वे प्रवाह का पानी मुँह मे लेकर उसे उस प्रवाह पर ही थूक देते हैं उसी प्रकार मराठो ने किया। सारे हिन्दुस्तान मे यदि कोई थे जिन्हे मुसलमानो ने पूर्ण रीति से कभी जीता न हो तो वे केवल मराठे थे। युद्ध वीर राजपूत भी अन्त मे मुसलमानो के शरण मे गये पर मराठो ने कभी ऐसा नही किया। इससे मालूम होता है कि कदाचित् महाराष्ट्र भूमि का ही यह प्रताप हो कि वहाँ सदा स्वातन्त्र्य युद्ध की ही फसल होती रही हो। यह कहना कि महाराष्ट्र देश की नदियो का जल भी ऐसा ही स्वातन्त्र्य-बुद्धि-वर्द्धक है शायद आपालङ्कार कहलाये परन्तु महाराष्ट्र की भौगोलिक रचना, उसके आसपास की पर्वत-श्रेणियाँ, खाइँ, वहा की पर्वतीय समशीतोष्ण वायु

आदि बातो का असर मराठा पर पडा हो, इसमे कुछ आश्चर्य नही है। यदि महाराष्ट्र के पहाडी किलो को ही देखा जाय, तो उनमे से एक आध किले के मस्तक पर खडे होकर चारो ओर नजर फेकने वाले का यह मान हुए बिना नही रहेगा कि जिनके अधिकार मे ये किले थ वे यदि जगत् को तुच्छ समझते रहे हो तो कोई आश्चर्य नही। जबकि पल्लेदार तोपो का अविष्कार नही हुआ था और उनके द्वारा कोस आधा कोस की दूरी पर से किले को सटबदी धराशायी नही की जा सकती थी, तब तक ये किले स्वतत्रता निधि के सरक्षण के लिए मजबूत फौलादी सन्दूको के समान थे। इन किलो के आश्रय म रहने वाले लोग, साहसी चपल और कष्ट सहिष्णु होते थे, अत उन्हें दूसरो के आश्रय मे पराधीन होकर रहना सङ्कट रूप प्रतीत होता था। प्रत्येक महाराष्ट्र निवासी, मुसलमानो के आने के पहले से चली आई हुई पद्धति के अनुसार अपनी पूर्वजोपार्जित मौरूसी जमीन में खेती करता था और उसे रूखा सूखा जो कुछ मिलता उसी म सन्तुष्ट रहकर अपने स्वाभिमान की रक्षा करता था। यही कारण है जो महाराष्ट्र की पचास-साठ हजार वर्गमील भूमि का पट्टा मुसलमान पूर्णतया कभी अधिकृत न कर सके। मराठों की व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य-प्रियता यद्यपि ग्राम्य सस्था के आडे कभी नही आती थी तथापि एक छत्र शासन मे उन्ह घृणा होने के कारण उन पर ऐसा शासन विशेषकर परकीयो का—कभी भी बहुत दिनो तक न टिक सका। जब कोई शत्रु उन पर चढकर आता था तब वे कुछ काल तक एक हो जाते थे परन्तु शान्ति के समय मे अपनी स्वातन्त्र्य प्रियता के कारण परस्पर कलह किया करते थे। यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि मराठा ने परकीय सीथियन लोगो को दो बार पराजित कर भगाया था। परन्तु चालुक्य, गुप्त शिलाहार और यादवो ने अनेक बार परस्पर रण सग्राम किये। मराठा म अकेले रहने और दूसरा से झगडे करने का स्वभाव अत्यधिक है, परन्तु है वह स्वातन्त्र्य प्रियता के कारण। उत्तर भारत मे बारहवी शताब्दि से ही मुसलमानी शासन थोडा बहुत शुरू हो गया था परन्तु दक्षिण में आने के लिए उसे दो ढाई सौ वर्षों का समय लग गया और फिर भी वह अधिक समय तक न टिक सका और उस पर भी मालवा प्रात तथा सह्याद्रि पर्वतमाला के ऊपर के प्रदेश मे तो मुसलमानो को कभी स्थान ही नही मिला। इतना ही नही दिल्ली की बादशाहत के कमजोर होते ही मावले मराठों ने उस बादशाहत रूपी भव्य भवन के पत्थरो को एक के बाद एक निकालना प्रारम्भ कर दिया और अत मे उन्होंने दिल्ली तथा दिल्ली की बादशाही को हस्तगत कर ५० वर्षो के लगभग साम्राज्य सत्ता के सुख का अनुभव किया। यद्यपि यह ठीक है कि वे अपनी महत्वाकाक्षा के अनुसार दिल्ली मे हिन्दू साम्राज्य स्थापित न कर सके तो भी जब अङ्गरेज लोग अपनी साम्राज्य सत्ता स्थापित करने लगे तब उनके काम म मराठो की ही ओर से वास्तविक रोक टोक हुई। एलफिन्स्टन, सर विलियम हण्टर, सर अलफ्रेड लायल आदि अङ्गरेज इतिहासकारो ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया

है कि "हमने भारत की साम्राज्य सत्ता मुसलमानों से नहीं, मराठों से ली है। मुसलमानों के हाथों से तो यह सत्ता कभी की निकल गई थी और अन्त में, हमसे (अङ्गरेजों से) जो लड़ाइयाँ हुई वे मुसलमानों से नहीं मराठों से हुई। सारांश यह है कि अङ्गरेज साम्राज्य सत्ता के सम्बन्ध में, मराठे ही उत्तराधिकारी हैं मुसलमानों में नहीं। दक्षिण पर होने वाले मुगलों के आक्रमण पहले पहल मराठों पर नहीं, विद्रोही मुसलमानी राज्यों पर हुए, इसलिए मुसलमान और मराठे दोनों ने कन्धे से कन्धा मिला कर उनका सामना किया, परन्तु जब मराठों ने देखा कि मुसलमानी राज्यों की दाल मुगलों के आगे नहीं गलती, तब उन्होंने स्वयं आत्म रक्षण की तैयारी की। अहमदनगर का राज्य बचाने के लिए चाँदबीबी, मलिक अम्बर और शाहजी भोसले ने बहुत प्रयत्न किये, परन्तु जब वे सफल नहीं हुए और सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अहमदनगर का राज्य मुगलों ने ले ही लिया तब कितने ही मराठे सरदारों ने मुगलों के आश्रित हो कर उनकी मनसबदारी स्वीकार कर ली और कई बीजापुर दरबार में चले गये, परन्तु कुछ ऐसे भी थे जो पूर्ण स्वतन्त्र होने का विचार करने लगे। मुगलों के आक्रमण यदि दक्षिण पर न होते तो मराठा साम्राज्य की स्थापना भी इतनी शीघ्र न होती। बहमनी राजाओं के आश्रित रह कर मराठों ने जो महत्व प्राप्त किया था वही उनके स्वतन्त्र होने में कारणीभूत हुआ। उससे मराठों में यह भावना होने लगी कि युद्ध मुसलमान के लिए क्यों किया जाय? हम अपने लिए ही क्यों न करें जिससे कि स्वतन्त्रता प्राप्त हो? इन लोगों ने महाराष्ट्र के किलों की मरम्मत कराना पहले से ही प्रारम्भ कर दिया था और अकबर ने जो दक्षिण पर आक्रमण किया, उसने दक्षिण में मुसलमानी राज्य को नष्ट करने के साथ साथ मराठा राज्य की स्थापना के कार्य में सहायता दी। इस प्रकार जब कि सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अङ्गरेज लोग व्यापारी कम्पनी की स्थापना कर हिन्दुस्तान में व्यापार करने के उद्योग में लगे हुए थे उसी समय मराठे हिन्दुस्तान में स्वराज्य स्थापना के प्रयत्न में व्यस्त थे। वे केवल मुगलों की आज्ञा से अपने जहाज हिन्दुस्तान के बन्दरों पर लाकर व्यापारी माल का सौदा करना चाहते थे। इसी प्रकार मराठे भी अङ्गरेज लोगों को नहीं पहिचानते थे और भारत में—कम से कम महाराष्ट्र में—तो नष्टप्राय हिन्दू साम्राज्य की प्राण प्रतिष्ठा अवश्य ही पुनः करना चाहते थे और इसके लिए मुगल सदृश बलवान शत्रु से भी भिड़ने को तैयार थे। इस समय अङ्गरेजों ने अपने हाथ में तराजू और मराठों ने तलवार धारण की थी। दोनों को मुगलों के अन्तरङ्ग में भिन्न भिन्न रीति से प्रवेश करना था। शिवाजी के जन्म लेने के समय सूरत भर में अङ्गरेजों की व्यापारी कोठी को स्थापित हुए केवल पन्द्रह वर्ष हुए थे। इस प्रकार दोनों—मराठे और अङ्गरेज—उदयोन्मुख थे। आगे इनका पारस्परिक सम्बन्ध कैसे हुआ और उसका अन्तिम परिणाम क्या हुआ यह हम आगे के प्रकरणों में बतलावेंगे।

दूसरा अध्याय

अङ्गरेज हिन्दुस्तान में क्यो और कैसे आये ?

अङ्गरेज लोग हिन्दुस्तान मे पहले व्यापार के लिए आये। इनके पहले प्राचीन काल से यूरोप मे जिन जिन राष्ट्रो का उदय हुआ उनमे से बहुतो का व्यापारी सम्बन्ध हिन्दुस्तान से रहा है। इसलिए यह अनुमान भी अनुचित न होगा कि एशिया और उसमे भी भारत का व्यापार जिस राष्ट्र के हाथ मे होता था वह राष्ट्र बहुत ऊँचे दर्जे का माना जाता था। कहा जाता है कि ईसवी सन् के दो हजार वर्ष पहले से अर्थात् खाल्डियन लोगो के समय से यह व्यापार यूरोपियन लोग करते आ रहे हैं। यह कहना ठीक हो या न हो, पर इसमे तो सन्देह नही कि यूनानी सत्ता के समय से लेकर यूरोप और भारत का सम्बन्ध इतिहास द्वारा पूर्ण तया सिद्ध हो चुका है। इस सम्बन्ध का प्रारम्भ ईस्वी सन के ३२७ वर्ष पहले भारत पर सिकन्दर बादशाह की चढ़ाई के समय से हुआ। इस चढ़ाई के साथ आये हुए इतिहासकार और वकीलो ने हिन्दुस्तान का परिचय यूरोप निवासियो को कराया। सिकन्दर को भी इस पहली चढ़ाई के बाद यह मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान देश सम्पत्ति की अटूट निधि है। चन्द्रगुप्त के दरबार मे मैगास्थनीज नामक जो यूनानी वकील रहता था उसने हिन्दू लोगो के चरित्र के सम्बन्ध मे अपना मत इस प्रकार प्रगट किया है—"स्त्रियो के अत्युच्च पातिव्रत और गुलामी के अभाव आदि बातो में हिन्दुस्तान की समता करनेवाला शायद ही कोई देश होगा। सम्पूर्ण एशिया-खण्ड मे हिन्दू लोगों की अपेक्षा अधिक पराक्रमी कोई दूसरा नही है। हिन्दुओ को अपने दरवाजे पर ताले लगाने की कोई कभी जरूरत नही पड़ती। वे स्वप्न मे भी झूठ बोलना नही जानते और न वे अदालतो की सीढियाँ चढ़ना ही जानते हैं। ये लोग उत्तम किसान और कुशल कारीगर तथा परिश्रमी होते हैं। इन्हे किसी प्रकार का व्यसन नही है।' यूनानी सत्ता के नष्ट हो जाने के बाद रूमी सत्ता का उदय हुआ। रोम वालों का व्यापारिक सम्बन्ध हिन्दुस्तान से बहुत रहा। रेशमी और अन्य ऊँचे दर्जे का कपडा, जवाहरात, मोती, सुगन्धित, पदार्थ, मसाले, हाथी दाँत आदि सामान रूमी लोग भारतवर्ष से ले जाते थे। इसी प्रकार अनेक तरह के रंग और औषधियाँ भी यहाँ से जाती थी। यह बात ध्यान में रखने लायक है कि उस समय हिन्दुस्तान से यूरोप को कच्चा माल नहीं जाता था। हिन्दुस्तान से जो रत्न, मोती आदि जाया करते थे उन्ही पर रोमन लोगो का आमोद प्रमोद अवलम्बित रहता था।

रूमियों के पतनानन्तर फ़ोनिशियन लोग वैभव शिखर पर आरूढ़ हुए। इनका लक्ष्य व्यापार की ओर विशेष था। हिन्दुस्तान में यूरोप का व्यापार इन्होंने पूर्ण रीति से अधिकृत कर लिया था। जिस समय इनकी कला खूब बढ़ी हुई थी उसी समय एक बात ऐसी हुई जिससे वह क्षीण होने लगी और अन्त में लुप्त हो गई। वह यह बात थी कि अफ्रीका के दक्षिणीय समुद्र से हिन्दुस्तान को आने जाने के एक नवीन मार्ग का पता लगा। पहले ऐसे तीन मार्ग थे और इन्हीं मार्गों से हिन्दुस्तान का व्यापार होता था। स्वेज़ डमरूमध्य के बीच में पड़ जाने से पूर्व समुद्र से भूमध्य समुद्र में माल आने के दो मार्ग थे। एक तो ईरान की खाड़ी में से होकर, ज़मीन पर यूफ्रेटिस नदी के तीर-तीर, एशिया माइनर (एशिया कोचक) में से था और दूसरा लाल समुद्र के उत्तरी किनारे पर उतरकर मिस्र देश में से भूमध्य समुद्र तक था। इनके सिवा केवल उत्तर की ओर का एक तीसरा मार्ग था। यह हिन्दुस्तान के उत्तर के मध्य एशिया के आक्सस या आमू-दरिया के किनारे किनारे जाता हुआ कास्पियन समुद्र पर से काले समुद्र तक था। इस मार्ग की दो शाखायें थीं—एक कास्पियन समुद्र के उत्तर में और दूसरा दक्षिण से। ये दोनों शाखायें जाकर काले समुद्र में मिल जाती थीं। अफ्रीका के दक्षिण सिरे की प्रदक्षिणा देकर हिन्दुस्तान में आने-जाने के नवीन मार्ग का पता चलने के पहले तीनों मार्गों का उपयोग किया जाता था। इन तीनों मार्गों के जाने में अड़चनें बहुत थीं और खर्च, श्रम तथा भय भी बहुत अधिक था। नवीन मार्ग का पता चलने के बाद उसका बहुत भारी उपयोग हुआ। यह मार्ग सन् १४९८ में वास्कोडिगामा नामक एक पुर्तगीज़ ने ढूँढ़ निकाला और तभी से यूरोपीय जातियों के आने जाने का मार्ग अच्छी तरह खुल गया और वे एक के बाद एक आने लगीं। सोलहवीं शताब्दी में पोर्तुगीजों का, सत्रहवीं में डच लोगों का और अठारहवीं में फ्रेंच लोगों का प्रभाव भारत में था। इसके बाद अङ्गरेजों के प्रभाव का आरम्भ हुआ।

नवीन मार्ग का पता लग जाने पर भारतवर्ष में ईसाई धर्म का प्रवेश प्रगट रीति से हुआ, यद्यपि इसके पहले अर्थात् ईसवी सन् ७५ में भी भारत में ईसाई धर्म का प्रचार हो चुका था। कहा जाता है कि सेंट थामस नामक एक ईसाई धर्म प्रचारक ईसवी सन् ६८ में मद्रास में मरा अथवा मारा गया। इसके कितने ही वर्षों पहले मलाबार और कारोमण्डल तटस्थ प्रान्तों में प्यांटीनस नामक एक ईसाई पादरी हिन्दुस्तान में आया और इस प्रकार धीरे धीरे ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी के अन्त तक मलाबार प्रान्त के किनारे पर ईसाई धर्म का बीज अच्छी तरह जम गया। सन् ४९६ में नेस्टोरियन नामक ईसाई पन्थ के धर्मोपदेशक, बाबुल से आकर मलाबार प्रान्त के किनारे पर उतरे और उन्होंने धर्म प्रचार का काम प्रारम्भ किया। आठवीं शताब्दी में आर्मीनिया के सेंट टामस नामक पादरी ने मलाबार के किनारे पर गिरजाघर बनवाया। यही भारत में सबसे पहला गिरजाघर था। कहा जाता है कि सन् ८८३ में इङ्गलैण्ड

के राजा अल्फ्रेड ने अपने दो धार्मिक प्रतिनिधि सेन्ट टामस की कब्र की यात्रा करने को भेजे। इस प्रकार यद्यपि बीच-बीच में यूरोपियन लोगों के भारत में आने के प्रमाण मिलते हैं, परन्तु पोर्तुगीज लोगों के आने के बाद हिन्दुस्तान में ईसाई धर्म का प्रचार विशेष बढ़ा।

धर्म प्रचार और व्यापार ये दो हेतु ध्यान में रखकर पोर्तुगीज लोग भारत में आये। आगे चल कर विदित होगा कि पहला हेतु दूसरे हेतु के लिये सहायक साबित न हुआ। वास्कोडिगामा, सबसे पहले कालीकट शहर में उतरा। उस समय यह शहर खूब उन्नति पर था। यहाँ के राजा को "जमोरिन" कहते थे। यहाँ का व्यापार कोई छः सौ वर्षों से अरब के मुसलमानों के हाथों में था। गामा ने जमोरिन को सन्तुष्ट कर अपने ऊपर उसका प्रेम सम्पादन कर वहाँ के राजा को एक पत्र दिया। उसमें लिखा था कि "हमारे राज्य में आपके घराने के सरदार वास्कोडिगामा के आने से हमें बहुत सन्तोष हुआ है। हमारे राज्य में दालचीनी, लौंग, सोंठ, मिर्च और जवाहिरात खूब होते हैं। हम चाहते हैं कि इनके बदले में आपके यहाँ से सोना, चाँदी आदि वस्तुएं यहाँ आवें।

इस प्रकार हिन्दुस्तान को आने जाने के नवीन मार्ग का पता लगाने से जगत् के इतिहास में एक बड़ी भारी क्रान्ति हुई। यूरोप में पुर्तगाल देश का महत्व बढ़ा। वेनिस जिनोआ आदि राष्ट्रों का व्यापार बैठ गया, और नाविक विद्या में जो राष्ट्र प्रवीण थे वे उन्नत को प्राप्त हुए।

सन् १५०३ में पुर्तगाल से अलबूकर्क हिन्दुस्तान में आया। वास्कोडिगामा केवल व्यापार-वृद्धि का हेतु दृष्टि के आगे रखकर तदनुसार व्यापार करता था, परन्तु अलबुकर्क की दृष्टि उससे भी आगे गई और वह राज्य विस्तार के हेतु को आगे रखकर यहाँ व्यवहार करने लगा। इसने १५१० में गोआ प्रान्त अपने अधिकार में किया और सन् १५१५ में वह गोआ में ही मरा। १५२४ में गामा तीसरी बार भारत में आया, और १५२? में कोचीन में वह भी मर गया। १५०३ से १६०० अर्थात् १०० वर्षों तक भारत में पोर्तुगीजों का दौर दौरा खूब रहा, परन्तु आगे उनकी कला गिरने लगी, क्योंकि यूरोप में पोर्तुगीजों की सत्ता स्पेन सत्ता के अधिकार में चली गई और यद्यपि पोर्तुगाल १६४० में स्वतन्त्र हो गया था, तथापि भारत में उसका व्यापार डच और अङ्गरेजों के हाथों में चला गया। पोर्तुगीजों के ह्रास के और भी कारण हैं। उन्होंने क्रूरता भी बहुत की व विलासप्रिय अधिक हो गये थे और उनके राज्य में निज धर्म की प्रबलता होकर दूसरे धर्मों के प्रति द्वेष अधिक बढ़ गया था। इसी प्रकार यूरोपियन पुरुष और एतद्देशीय स्त्रियों के परस्पर विवाह करने से भी पोर्तुगाल का लाभ न होकर हानि ही हुई।

पोर्तुगीजों के बाद भारत में डच लोगों का प्रभाव बढ़ा। अङ्गरेजों के समान

डच लोग भी हिन्दुस्तान म आने के लिए यूरोप के उत्तर से होकर यहाँ आने का मार्ग ढूंढ रहे थे, परन्तु इसमे सफलता नहीं मिली। तो भी, पोर्तुगीजो की हुई खोज से लाभ उठाने म वे बिलकुल नहीं चूके। पोर्तुगीजो के सौ वर्षों के व्यापार से लिस्बन नगर ने बहुत कुछ उन्नति कर ली। जो माल इस नगर को हिन्दुस्तान से आता था, उसे जाकर दूसरे देशो म बेचने के लिये पोर्तुगीज व्यापारियो को डच व्यापारियो की सहायता लेनी पडी। डच लोग, लिस्बन से सब प्रकार का माल ले जाकर यूरोप के उत्तर भाग की पूर्ति करते थे। फिर आगे जाकर डच लोगो का मोर्चा हिन्दुस्तान की ओर मुडा। लिन्सकोटन नामक डच व्यापारी लिस्बन नगर म कुछ दिनो तक रह कर वहाँ से पोर्तुगीजो के साथ गोआ आया। वह वहाँ तेरह वर्षों तक रहा और व्यापार के सम्बन्ध म उसने बहुत कुछ जानकारी प्राप्त की। सन् १५५० म स्वदेश लौटकर सन् १५८३ म उसने अपना कार्य विवरण प्रकाशित किया। उसके बाद आम्स्टर्डम के व्यापारियों ने सभा करके एक व्यापारी पोतसमूह भेजने का निश्चय किया और उसके अनुसार कार्नेलियस पोटमन की अध्यक्षता म सन् १५९५ म चार जहाज अफ्रीका के रास्ते से हिन्दुस्तान आये और ये ढाई वर्ष तक यहाँ रहकर वापिस गये। तदुपरान्त पाँच छ वर्षों म डच लोगो ने भारत की पन्द्रह यात्रायें की और अनेक कम्पनियो की स्थापना की थी। इन सब कम्पनियो को एक मे मिलाकर डच पार्लमेण्ट ने "डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी' नामक एक बडी कम्पनी सन् १६०२ मे सगठित की।

सत्रहवी शताब्दी भर पूर्व का व्यापार डच लोगो के ही हाथ मे रहा, क्योकि इस शताब्दी मे समुद्र पर इन लोगो का अबाधित अधिकार रहा। डच लोगो का उद्देश्य केवल व्यापार वृद्धि था। पोर्तुगीज के समान अरब से लोगों का व्यापार नष्ट कर ईसाई धर्म वृद्धि करने का नवीन प्रदेश जीत कर पोर्तुगीज राज्य बढ़ाने का उद्देश्य डच लोगो का नही था। उन्होने कही भी राजकीय अन्तर्व्यवस्था म कभी हाथ नही डाला।

डच लोगो ने सबसे पहली कोठी सन् १६५२ मे मद्रास के पास पालकोलू स्थान पर स्थापित की। फिर छ वर्ष बाद, अर्थात् १६५७ मे पोर्तुगीजो का सीलोन के जफनपट्टास का किला ले लिया और १६६४ मे मलाबार किनारे के पोर्तुगीजो के सब थाने जीतकर सन् १६६६ म उन्हे सेंटथामी से भी निकाल बाहर किया। इस प्रकार डच लोग हिन्दुस्तान मे सब समर्थ होकर रहने लगे। पर इसी समय उनके इस वैभव को नष्ट करने वाली एक दूसरी सत्ता भारत मे धीरे धीरे प्रबल हो रही थी, अर्थात् अंग्रेजो की सत्ता बढ़ रही थी।

अम्बोयाना मे डच लोगो ने सन् १६२३ म अंग्रेजो का जो कत्ल किया वही कत्ल भारतवर्ष में ब्रिटिश सत्ता स्थापित करने मे कारणीभूत हुआ और डच लोगो की व्यापारी पद्धति के सकुचित होने के कारण उनकी सत्ता डगमगाने लगी। क्रूरता म तो इन लोगो ने पोर्तुगीजो को भी मात कर दिया, इसलिये उनके प्रति यहाँ के

निवासियो को बहुत ही अप्रीति के भाव पैदा हो गये। इधर तो सामुद्रिक सत्ता रखने वाले राष्ट्र आगे बढे, उधर डच लोगो के राज्य का पाया पूर्व की ओर बहुत ही कमजोर हो गया। इन सब कारणो से अन्त मे ये लोग अगरेजो के सम्मुख न टिक सके। सन् १७५८ म क्लाइव ने चिनसुरा म डच लोगो का पूर्ण पराभव किया और फिर डच लोगो के अधिकार म भारत का कुछ भी हिस्सा न रह गया। डच लोगो के बाद भारत के व्यापार के लिए अगरेजो और फ्रेंचो मे झगडा चला, पर अन्त मे फ्रेंचो का भी पराभव कर अगरेज भारत मे बरोकटोक सचार करने लगे।

भारतवर्ष म पहले-पहल अगरेजो का आगमन ९ वी शताब्दी मे हुआ था, अर्थात् राजा अल्फ्रेड ने अपने प्रतिनिधि भारतवर्ष को भेजे थे। इन प्रतिनिधियो के आने के कोई चार-पाच सौ वर्ष बाद अर्थात् चौदहवी शताब्दी म सर जाज मण्डेव्हिल नामक अगरेज यहाँ आया। ऐतिहासिक दृष्टि से उक्त अगरेजो के दोनो बार के आगमनो म अभी शङ्का है, परन्तु यह निश्चित है कि सर जाज मण्डेव्हिल की लिखी हुई भारत की प्रवास-सम्बन्धी पुस्तक सन् १४९९ म इगलैंड मे छपी थी और कहा जाता है कि इगलैंड के छापेखाने म छपी हुई यही सबसे पहली पुस्तक है। यदि यह बात सच है तो भारतवर्ष के सम्बन्ध म अगरेजो की छापी हुई सबसे पहली पुस्तक का होना एक बडा विलक्षण योग है। उक्त दोनो बार अगरेजो का आगमन यदि सच मान भी लिया जाय तो भी वह चिरस्थायी रूप से नही हुआ होगा। वे लोग भारत म आकर केवल देश का देख गये होगे, परन्तु अर्वाचीन काल मे आकर यहा पर बस जाने वाला सबसे पहला अगरेज पादर टामस स्टीफन था। सन् १५७९ के अक्टूबर मास म स्टीफन इसाई धर्म का प्रचार करने और मौका लगने पर व्यापार करने के उद्देश्य से गोआ आया। उसके बाद वह आजन्म भारत ही म रहा। इसने भारत की लोक-स्थिति और व्यापार का मनोरञ्जन वर्णन लिखकर विलायत को भेजा। साष्टी अर्थात् थाने मे रहकर हिन्दुओ को उपदेश करते हुए ईसाई धर्म के प्रचार करने में उसके बहुत वर्ष व्यतीत हुए। इसी स्टीफन साहब ने मराठी कोकनी भाषा और रोमन लिपि मे "क्राइस्ट पुराण" नामक एक उत्तम ग्रन्थ लिखा और मराठी-कोकनी भाषा का व्याकरण भी इसने पोर्तुगीज भाषा म रचा। सन् १५८३ म राल्फफिच नामक अगरेज के स्थल मार्ग से ईरान की खाडी पर्यन्त आने पर पोर्तुगीजो ने उसे कैद कर लिया और गोआ भेज दिया। जब वह वापिस लौटकर विलायत गया, तब उसने वहा भारतवासियो तथा उनकी सम्पत्ति का जो चित्ताकर्षक वर्णन किया उससे वहाँ के निवासियो म भारत के सम्बन्ध मे उत्सुकता बढाने वाली कल्पना उत्पन्न हुई। फिर सन् १५८६ में टामस क्वण्डिश सारे भू-मण्डल का पर्यटन करते-करते यहाँ आया। उसके लौटकर विलायत पहुँचने के बाद उसकी सहायता से विलायत के प्रमुख व्यापारियो ने एक प्रार्थना-पत्र तैयार किया और वह महारानी एलिजाबेथ के सन्मुख उपस्थित किया

के खाने पर एक लाख चालीस हजार रुपये खर्च करने पड़े थे। सन् १६१६ में उनके केवल एक जहाज के माल की कीमत चौदह लाख रुपये कूती गई थी। अंगरेजों ने अपनी पहली व्यापार-यात्रा के समय [illegible] लाख तिरासी हजार रुपयों की पूंजी एकत्रित की थी। इस यात्रा में चार हजार और ४८० अंगरेज आये थे। इस यात्रा में अंगरेजों को बड़ा भारी लाभ हुआ। तीस हजार रुपयों की लौंग के दाम इंगलैंड में तीन लाख साठ हजार रुपये खड़े हुए। इनकी पहली नौ-यात्राओं में छियालिस लाख रुपयों की पूंजी लगी थी जिस पर सैकड़ा पीछे दो सौ रुपया का नफा हुआ था। सन् १६१२ में जब इंगलैंड में बहु-जन संगृहीत पूंजी इकट्ठी की गई, तब एक करोड़ बासठ लाख रुपये इकट्ठे हुए। यह पूंजी ६३४ लोगों ने ही एकत्रित कर ली थी। शिवाजी के जन्म के छः वर्ष पहले अंगरेजी व्यापार-कम्पनी ने पार्लमेंट के सम्मुख अपना सन् १६०१ से १६२१ तक, बीस वर्ष का, जो चिट्ठा पेश किया था उस पर से विदित होता है कि कम्पनी ने ८६ जहाज बाहर भेजे थे। उनमें से ३६ वापस गये, ६ डूबे, ५ खराब हो गये, ११ शत्रु के हाथ लगे और २५ उस समय भारतवर्ष में माल भर रहे थे। इन बीस वर्षों में नक़द पूंजी और विलायती माल दोनों मिलाकर ६३ लाख ३८ हजार इंगलैंड से बाहर भेजे गये। इसमें से ३६ जहाज जो माल लाये थे उनकी खरीद की कीमत ३७ लाख ९२ हजार रुपये थी। इस माल की बिक्री इंगलैंड में करने पर २ करोड़ छियालीस हजार रुपये खड़े हुए, अर्थात् ३७ लाख पर १ करोड़ ५२ लाख का फायदा हुआ।

सन १६१८ के लगभग, शिवाजी के जन्म के ९ वर्ष पहले, अंगरेज व्यापारियों ने हिन्दुस्तान में अपना व्यापार जमा लिया और मुग़ल बादशाहत की अव्यवस्था को देखकर वे और भी अधिक जोर से व्यापार को बढ़ाने का विचार करने लगे। इस वर्ष सर टामस रो ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट में यों लिखा था —

आवश्यकतानुसार हमें फर्मान (आज्ञापत्र) मिल गये हैं। यहां बादशाह की केवल इच्छा कानून है, इसलिए सम्पूर्ण दरबारी व्यवहार पैसे पर चलता है। इन लोगों के साथ गरीबी से व्यवहार करना लाभदायक नहीं है। उन्हें हमसे घृणा है। उनके धन धान्य-पूर्ण स्थानों को भिखारी बनाकर वहाँ का सब व्यापार हमने नष्ट कर दिया है। हमारा जितना अधिक प्रभाव उन पर पड़ेगा उतना ही अधिक हमारा काम सिद्ध होगा। इन लोगों को तलवार की धार के नीचे रखना चाहिये। यदि अधिकारी गण हमारी मांगें पूरी नहीं करेंगे, तो हम निःसंकोच होकर यहाँ के व्यापारियों के जहाज पकड़कर अपना काम निकालेंगे।

तीसरा अध्याय

पिछली घटनायें

गत प्रकरण में लिखे अनुसार सत्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल में लगभग मराठे और अङ्गरेज दोनों ही अपना अपना उद्देश्य सिद्ध करने में व्यस्त थे, इसलिए इन दोनों के बीच कहीं न कहीं गाँठ पड़ना अनिवार्य था और यह भी सम्भव नहीं था कि ये दोनों परस्पर शान्तिपूर्वक मिलते। मुगलों और अङ्गरेजों का सम्मिलन शान्ति से होने का कारण मुगलों के हाथ में सत्ता का होना था। अङ्गरेजों को व्यापार के लिए मुगलों से परवाने लेने और कई मुभीते करवाने थे एवं मुगलों को अङ्गरेजों से आमोद प्रमोद एवं विलासिता की विलायती सामग्री और व्यापारी माल पर चुङ्गी वसूल करनी थी। अङ्गरेज मुगलों से हाथ बाँधकर नम्रता से और मुगल यह समझकर कि हम अङ्गरेजों पर उपकार कर रहे हैं, अभिमान से व्यवहार करते थे। नम्रता और अभिमान में झगड़ा होने का कोई कारण नहीं था, परन्तु मराठे और अङ्गरेजों में ऐसा कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। मराठों ने इस समय मुगलों से युद्ध करना आरम्भ कर दिया था। युद्ध में सब अपने अपने अनुकूल दाँव लगाते ही हैं। मराठों के पास इतनी तैयारी नहीं थी कि वे मुगलों के सम्मुख खड़े होकर युद्ध कर सकें और मुगल साधनों से भर-पूर तथा अभिमानी थे जिससे चपल और सीधे-सादे मराठों के लिए छापा मारना तथा रसद और खजाना लूट लेना ही सम्भव एवं इष्ट था। मुगलों ने मराठों की राजकीय स्वतन्त्रता पर जो आक्रमण किया उसके आगे मराठों का खजाना आदि लूटना अधिक निन्द्य नहीं था और ऊपर कहे अनुसार मुगलों और मराठों के बीच युद्ध छिड़ जाने से मराठों के विरुद्ध मुगलों की इस शिकायत से कि मराठे लूट मार करते थे, उनकी मूर्खता ही झलकती है। युद्ध में शत्रु पर मार्मिक प्रहार करने की तो नीति ही है। इसी प्रकार युद्ध करने वालों के साथियों का दुःख उठाना, चाहे वे स्वयं भी युद्ध न भी करें, कोई आश्चर्य की बात नहीं है और न इसमें किसी का दोष ही है। इन दिनों अङ्गरेज पूरी तरह से मुगलों के आश्रित थे, अतः मराठों के बीच संघर्षों में मुगलों के साथ-साथ उनका सम्पर्क हो जाना भी सम्भव था।

इस समय पराक्रम के कारण मराठों का आधिपत्य शिवाजी को मिला था। निजामशाही का नाश हो जाने पर शाहजी बीजापुर-दरबार की नौकरी करने लगे और

१६३८ के लगभग एक बड़ी भारी सेना के साथ अपने बादशाह के लिए दक्षिण में देश जीतने को निकले और वहीं जाकर बस गये। शाहजी प्रायः २० वर्ष तक कर्नाटक में रहे। वे बीच बीच में इधर आया तो करते थे, परन्तु सन् १६३६ के बाद पूना में स्थायी रूप से कभी नहीं रहे। शाहजी ने अपनी जागीर के समान अपनी स्त्री जीजाबाई तथा पुत्र शिवाजी को भी त्याग दिया था मानो उन्होंने नवीन विवाह तथा नवीन जागीर प्राप्त करके और अधिक ऐश्वर्य के साथ रहने का निश्चय किया हो। यद्यपि शिवाजी को पितृ प्रेम का लाभ नहीं हुआ तो भी अपने पिता की जागीर उन्हें प्राप्त हुई। इस छोटी सी जागीर के टुकड़े अपनी तेजस्विनी माता के आशीर्वाद और अपनी महत्वाकांक्षा के बल से, बीज से वृक्ष उत्पन्न के समान, शिवाजी ने हिन्दू साम्राज्य निर्माण कर अपने पिता को लज्जित करने की आशा की और यह आकांक्षा ईश्वर-कृपा से पूर्ण भी हुई। यहाँ शिवाजी का सम्पूर्ण चरित्र लिखने का अवकाश न होने से हम उनके चरित्र-क्रम पर उड़ती हुई नजर फेंकना ही बहुत है।

शिवाजी को कुछ बड़े हो जाने पर उन्हें अपनी जागीर का प्रबन्ध करना पड़ा और ऐसा करते समय जागीर की सीमा पर रहने वाले उद्दण्ड किलेदारों से प्रथम उन्हें झगड़ना पड़ा। यह समय राज्य-क्रान्ति का सन्धिकाल था, इसलिए ऐसे अवसर पर इन लोगों की अच्छी बन आई थी। ये किले किसी के भी अधिकार में नहीं रह थे और न उनमें किसी मुसलमान बादशाह की फौज ही थी, इसलिए जिसके हाथ जो किला पड़ जाता था वही उसका स्वामी बनकर आस-पास के स्थानों पर धावे मारता और अपना निर्वाह तथा अपने स्वातन्त्र्य की रक्षा भी साथ ही साथ करता था। इन किलेदारों को जीतने अथवा उन्हें वश में करने का कार्य करने से शिवाजी को राजनीति और युद्ध-कौशल की जीती जागती शिक्षा मिली। किलेदारों के रङ्ग ढङ्ग पर से शिवाजी को भी किले अधिकृत करने की इच्छा हुई और उन्होंने केवल १६ वर्ष की अवस्था में तोरण नामक किला लेकर स्वराज्य-समारम्भ के मुहूर्त का पाया खड़ा किया। किले लेने तथा नवीन किले बाँधने से शिवाजी में आत्म विश्वास की वृद्धि हुई और जिस वर्ष शाहजी ने बीजापुर दरबार से जागीर प्राप्त की उसी वर्ष शिवाजी ने वहाँ घाटी किला की समानता रखने वाले विजयदुर्ग, सुवर्णदुर्ग, रत्नागिरि आदि कोंकण प्रान्त के किले को जीत कर पिता को नयी जागीर से भी अधिक विस्तृत और स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। शिवाजी की धाक चारों ओर जम गई। सन् १६४८ में स्वयं बीजापुर दरबार के पाँच-सात सौ पठान नौकर शिवाजी के पास नौकरी करने की इच्छा से आये और शिवाजी ने उन्हें रख भी लिया। शिवाजी के इस कृत्य को बादशाह ने राज विद्रोह कहकर शाहजी के द्वारा उन्हें दबाने का प्रयत्न किया, परन्तु जब वह असफल हुआ, तो शिवाजी पर चढ़ाई करना प्रारम्भ कर दिया। शिवाजी ने भी मुगलों की सहायता आवश्यकतानुसार स्वीकार कर अपने और मुगलों के बल से बीजापुर के बादशाह से युद्ध छेड़ा।

यह युद्ध १६५३ से १६६२ तक चला। इसी बीच मे शिवाजी ने अफ़ज़ल खाँ को सन् १६५६ म मारा, कोंकन प्रान्त जीतकर मराठा नो सेना का बीजारोपण किया और कल्याण से लेकर गोआ तक और भीमा से लेकर वारण पर्यन्त १५० मील के लगभग लम्बा और १४० मील चौड़ा प्रदेश अपने राज्य म मिलाया। तब कहा बीजापुर दरबार ने समझा कि अब शिवाजी को वश करना अपनी शक्ति के बाहर है और फिर उस शाहजी की मध्यस्थता म शिवाजी स सन् १६६२ म संधि कर लेनी पड़ी। इस युद्ध स अवकाश मिलते ही शिवाजी ने मुगलो की तरफ अपना मोर्चा फेरा। एक बादशाहत का दर्प-दमन करने पर दूसरे को भी वही दशा कर सकने का आत्म विश्वास शिवाजी में उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। सन् १६६१ [illegible] मुगलो की सेना ने शिवाजी के अधिकार से कल्याणी और भीवडी ले ली और उनमे छेड़-छाड शुरू की। इस समय से मुगलो और शिवाजी के बीच जो युद्ध प्रारम्भ हुआ वह सन् १६७२-७३ तक ठहर-ठहर कर होता रहा। इसी बीच म अर्थात् बीजापुर के बादशाह और दिल्ली के बादशाह स युद्ध करते समय शिवाजी और अंगरेजों का प्रथम सम्बन्ध हुआ। जिस समय बीजापुर के बादशाह से युद्ध हो रहा था उसी समय सन् १६४८ मे शिवाजी ने राजापुर [illegible] की जिससे अंगरेजों पर उनका बड़ा भारी प्रभाव जम गया। यद्यपि शिवाजी का ध्यान बादशाही प्रदेश पर विशेष था, तो भी अंगरेज उनकी निगाह स अलग नहीं थे, क्योंकि रागणा में बीजापुर की सेना का पराभव करने के पश्चात् जब वे राजापुर [illegible] अङ्गरेजों की कोठी होने से पन्हाला का घेरा डालने वाले मुसलमानों को अङ्गरेजों से गोला-बारूद की सहायता मिलने का सन्देह शिवाजी को हुआ। शत्रु की सहायता करने वाले अङ्गरेजों की कोठी लूटने के सिवा उनका और भी अधिक प्रबन्ध करने का विचार शिवाजी ने किया और इसीलिए राजापुर से पैसा वसूल करने के बाद [illegible] अङ्गरेजों की कोठी लूटी और अङ्गरेज व्यापारियों को पकड़कर एक पहाड़ी किले में [illegible] तक कैद रक्खा। राजापुर की इस लूट म अङ्गरेजों की दस हजार हून की क्षति हुई, अतः अङ्गरेजों की कोठी का लूटना मंजूर नहीं किया गया। कुछ भी हो, अङ्गरेजों का और शिवाजी का जो प्रथम सम्बन्ध हुआ वह किस प्रकार हुआ यहां हम [illegible] चाहते हैं। इस पहली भेंट स ही अङ्गरेजों पर शिवाजी की धाक जम गई। राजापुर [illegible] समाचार सूरत पहुँचे, इसलिए वहाँ के अङ्गरेजों को भी शिवाजी के [illegible] का भय होने लगा। उस समय जहाँ-तहाँ शिवाजी ही शिवाजी दिखते थे। [illegible] भी हो, उन्हें उसमे शिवाजी का ही भ्रम होता था और उनका यह भ्रम दो तीन वर्ष बाद सत्य भी निकला।

सन् १६६६ म शिद्दी याहव खाँ ने अङ्गरेजों स यह कहलाया [illegible] की कि तुम चाहते हो कि राजापुर मे डच लोग कोठी न बनवावें और मैं चाहता हूँ कि शिवाजी मेरे राज्य मे प्रवेश न करें, अतः हम तुम दोनो यह संधि कर लें कि मैं तो डच लोगों

को अपनी कोठी न खोलने दूँ और तुम मुझे शिवाजी के विरुद्ध सहायता दो। परन्तु सूरत के गवनर के शिद्दी की ये शर्तें स्वीकार नहीं की, क्योंकि उन्हें भय था कि इन शर्तों का सुनते ही शिवाजी हम पर आक्रमण कर देंगे और फिर सम्भालना कठिन हो जायगा। इस प्रकार दृढ़ सङ्कल्प करने के बाद अङ्गरेजों ने शिद्दी से सन्धि करने का विचार छोड़ दिया और भीतरी आर्थिक सहायता पहुँचा कर उससे स्वीकार करा लिया कि हम राजापुर में डच लोगों को कोठी स्थापित न करने देंगे।

राजापुर के बाद शिवाजी और अङ्गरेजों की भेंट सूरत में हुई। राजापुर में जिस तरह बीजापुर की सहायता से अङ्गरेजों ने कोठी स्थापित की थी, उसी प्रकार सूरत में भी मुगलों की सहायता से अपने व्यापारों की कोठी खोली। पहले सूरत ही अङ्गरेजों के व्यापार का मुख्य बन्दरस्थान था और वहाँ बहुत माल उतरा करता था। इसलिए मुगलों को भी चुङ्गी की आय अच्छी होती थी। इस धन पूर्ण स्थान को लूटने की इच्छा यदि शिवाजी को हुई भी हो तो आश्चर्य ही क्या? मालूम होता है कि १६६३ के पहले भी शिवाजी ने सूरत पर एकाध बार चढ़ाई की होगी, क्योंकि १६६३ के फरवरी मास की चौथी तारीख को वहाँ की कोठियों के अङ्गरेज गवनर ने अपने पत्र में लिखा था कि—'रायल मर्चेंट और अफ्रिकन नामक दो जहाज ता० २६ जनवरी को रवाना हुए हैं। इनके देरी से रवाना होने का कारण यह है कि शिवाजी ने सूरत पर चढ़ाई कर नगर लूटा था, इसलिए बहुत दिनों तक कामकाज बन्द रहा था और नावों पर से माल उतरना कठिन हो गया था। हमारे पहले पत्र के पश्चात् फिर एक बार शिवाजी के आने की अफवाह उड़ी थी और उस पर से पहले की अपेक्षा इस बार अधिक गड़बड़ी हुई। लोग गाँव छोड़ छोड़ कर भग गये। उन्होंने अपनी धन सम्पत्ति और व्यापारी माल किले में रख दिया। कई ने तो किले के भीतर को माल से पूर दिया था। बड़े बड़े बरतन नदी में डाल दिये थे। शिवाजी के द्वारा हाथ पाँव तोड़े जाने की खबर उड़ने के कारण लोग उसकी क्रूरता से बहुत डरने लगे हैं और नगर की रक्षा के लिए बादशाही सेना के न आने पर शिवाजी के आने की अफवाह पर से ही लोग बस्ती छोड़ कर भाग जाते हैं।'

सन् १६६४ की जनवरी में शिवाजी ने सूरत पर चढ़ाई की। उस समय नगर रक्षा के काम में शहर के मुगल गवनर को अङ्गरेजों की तोपों से बड़ी भारी सहायता मिली। यद्यपि शिवाजी की चढ़ाई, वास्तविक रीति से देखी जाय, तो अङ्गरेज अथवा डच व्यापारियों पर नहीं वरन मुगलों पर था, तो भी गोरे व्यापारियों ने अपने बचाव का प्रबन्ध भी कर रखा और मुगलों को भी सहायता दी। कोठी की रक्षा कर सकने के कारण कम्पनी ने सूरत में रहने वाले प्रेसिडेंट सर जार्ज आक्सडेन को एक सुवर्णपदक तथा दो सौ मुहरों की थैली पारितोषिक रूप दी। अकबर बादशाह ने भी इन्हें बहुमान

सूचक खिलअत दी और सूरत के अङ्गरेज व्यापारियो पर जकात मे भी कुछ रिआयत कर दी।

आगामी वर्ष शिवाजी ने ८५ छोटे और ३ बडे जहाज लेकर कारवार पर चढ़ाई की। यहाँ भी अङ्गरेजो की कोठी थी। कारवार सुदृढ स्थान नहीं था, अत उसका शीघ्र ही पतन हुआ और शिवाजी से सन्धि की गई। सन्धि के अनुसार शिवाजी को दी जाने वाली रकम म से अपने हिस्से क ११२ पाउण्ड अङ्गरेजो न उसी समय दे दिये। सन् १६७० म शिवाजी ने सूरत पर फिर चढाई की। इस बार उनकी १५,००० सेना ने शहर पर अधिकार कर लिया। उस समय कितने ही अगरेज व्यापारी मारे गये और कुछ व्यापारियो का माल लूट भी लिया गया। इन व्यापारियो की कोठी को शिवाजी ने बिलकुल छोड दिया। इस समय यहा फ्रेन्च लोगो की भी कोठी थी, परन्तु शिवाजी के आगे उनकी भी न चली और उन्हें अपनी सीमा मे स शिवाजी को भाग देना पडा। इस चढाई में बहुत सा माल और धन शिवाजी के हाथ लगा।

इसके बाद शिवाजी और अगरेजों की भेंट सन् १६७३ मे हुबली म हुई। यहाँ भी अगरेजो की कोठियाँ थी। अगरेजो का कहना है कि शिवाजी की इस चढाई म उन्हे पौने लाख रुपया क लगभग की हानि उठानी पडी। इस क्षति की पूर्ति के लिये अगरेजो ने शिवाजी से कहा, परन्तु उन्होंने उत्तर दिया कि यह हानि यदि हुई भी होगी, तो जान-कर हुई होगी, इसलिए भरी नहा जा सकती। यहाँ पर भी शिवाजी का उद्देश्य अंग्रेजो को लूटने का नही, वरन् मुगलो पर आक्रमण करने का था, तथापि उस समय नगर मे सब देशों के व्यापारी होने के कारण उनके माल की भी लूट हुई और वे भी बीच म पड जाने से वैसे ही पिस गये। हुबली की इस क्षति और राजापुर की क्षति को बबई के डिपुटी गवनर आनजियर बहुत दिनो तक शिवाजी से मागते रहे, पर उन्होंने उसे नियमानुकूल स्वीकार नहीं किया। शिवाजी को जञ्जीरें के सिद्दी पर जलमार्ग से आक्रमण करने म अङ्गरेजो की सहायता की आवश्यकता थी, अत उन्होने अङ्गरेजो को वचन दिया कि जो हुआ सो हुआ, अब आगे तुम पर किसी प्रकार का आक्रमण न करेंगे तथा तुम यदि राजापुर म कोठी खोलना चाहो, तो उसमें भी हमे कोई आपत्ति न होगी। पर पहले के अनुभव के कारण विशेष प्रकार से विश्वास हो जाने के सिवा राजापुर मे पुन कोठी खोलने का अङ्गरेजो को साहस न हुआ। विरुद्ध शिवाजी को सहायता करने मे भी उन्हे सङ्कट का ही भय हुआ होगा, क्योंकि बम्बई से जञ्जीरा पास होने के कारण शिवाजी की सहायता करने से सिद्दी की सामुद्रिक सेना का घेरा बम्बई पर पड जाने का भय था। इसीलिए अगरेजो ने शिवाजी को यह कह कर कि 'हम ठहरे व्यापारी हमको इस युद्ध के पचडे मे क्या काम केवल अपनी रक्षा के सिवा युद्ध की मारकाट म पडने की हमारी इच्छा नही हैं' अपना काम निकाल लिया, लेकिन तब भी नुकसानी मिलने का उजर वे नहा भूले। १६७३ के आठ महीने म निकल्स नामक

अगरेज व्यापारियो का वकील सम्भाजी की मार्फत शिवाजी से मिला, परन्तु इस मुलाकात से कुछ सार नही निकला।

सन् १६७४ म मराठो की दस सहस्र सेना साष्टी मे आई और बसई प्रान्त म उसने चौथ वसूल करना प्रारम्भ किया इसलिए बम्बई के अगरेजो को बहुत भय उत्पन्न हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि रायगढ म शिवाजी का जो राज्याभिषेक हुआ उसमें बम्बई क अगरेज व्यापारियो की तरफ से हेनरी आक्सडन नामक अगरेज दो अगरेज व्यापारियो के साथ शिवाजी का अभिनन्दन करने और नजराना देने के लिये आये। इस समय शिवाजी और अगरेजो का निकट का परिचय शाति के साथ हुआ और दोनो मे सधि होने का भी निश्चय हो गया। तारीख ६ अप्रेल सन् १६७४ में इस सधि पर हस्ताक्षर हो गये। इस सधि पत्र मे २० धारायें थी जिनमे निम्नलिखित मुख्य थी—

(१) राजापुर मे जो अगरेजो को हानि उठानी पडी है वह शिवाजी अगरेजों को भर देग और राजापुर दाभोल चौल और कल्याण मे कोठी खोलने की अगरेज व्यापारियो को इजाजत दी जायगी तथा शिवाजी के अधिकृत सम्पूर्ण राज्य मे अङ्गरेज व्यापार कर सकेंगे। अङ्गरेज माल का क्रय विक्रय अपनी मनमानी दर से करेंगे और माल की दर के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की सख्ती शिवाजी की ओर से न होगी।

(२) शिवाजी के राज्य म जो माल आवेगा उस पर अङ्गरजो का प्रतिशत २॥) चुगी देनी होगी।

(३) अङ्गरेज और शिवाजी के सिक्के एक दूसरे के देश मे अपनी कीमत पर चल सकेंगे।

(४) दोनो को एक दूसरे के छीने हुये जहाज वापिस करने होंगे। राजापुर की क्षति के सम्बन्ध में दूसरा ही निश्चय किया गया। उसके अनुसार वहाँ की क्षति १० - ००० मुहरें कूता गई थी। इसका रकम अङ्गरेजो का नकद न मिलकर इस भाँति देने का निश्चय किया गया कि अगरेज तीन वर्षों तक प्रतिवर्ष ५००० हजार मुहरो के हिसाब से, १५ ००० मुहरो का माल शिवाजी से खरीदें। जिसम से सिर्फ साढे सात हजार मुहरें नकद दें और शेष साढे सात हजार मुहरें राजापुर म अगरेजो की कोठी स्थापित होने पर आने वाले माल का जो चुगी उन्हे देनी होगी उसम से काट लवें। जीते हुये जहाज लौटाने की शर्त शिवाजी ने बडे कष्ट से स्वीकार की क्योंकि लूट पर राजा का विशेष अधिकार और प्रेम होता है। शिवाजी के सिक्के की शर्त भी बडी कठिनाई स मानी गई। उनका कहना था कि सिक्का म जितनी धातु हो उसी के अनुसार उनकी कीमत रहे लिखा हुई कीमत न मानी जाय। परन्तु अन्त में शिवाजी ने इन शर्तों का आग्रह भी छोड दिया। सधि नियम के अनुसार राजापुर म अगरेजो ने फिर कोठी स्थापित की पर वह पहले जैसी लाभदायक न हो सकी।

सन् १६७८ में ५७ जहाजों की सेना और ४ हजार पैदल सेना लेकर शिवाजी का विचार पनवेल और शिद्दी कासम पर आक्रमण करने का था, परन्तु अंगरेजो ने बीच में पडकर शिद्दी की रक्षा की। यद्यपि अंगरेजो ने व्यापारी होने के कारण दूसरों के झगडे में न पडकर तटस्थ रहने का निश्चय किया था तथापि उनके हाथो से प्राय विचार के अनुसार काम नहीं होता था। जंजीरा से लेकर बम्बई तक समुद्र किनारे पर शिद्दी और मराठा के जहाजों का सदा परस्पर युद्ध होता रहता था। बम्बई बन्दर अंगरेजों के अधिकार में था, इसलिए मराठा के प्रदेश पर चढाई करके अथवा समुद्र-किनारे की प्रजा को त्रास पहुँचाकर शिद्दी के लडाकू जहाज बम्बई बन्दर में आश्रय लेते थे, इससे शिवाजी को बारम्बार यही संशय होता था कि अंगरेज लोग भीतर ही भीतर शिद्दी से मिल तो नहीं है। एक बार तो बम्बई के प्रेसिडेन्ट को शिवाजी ने एक धमकी का सन्देशा भी भेज दिया था कि "शिद्दी का इस बार प्रबन्ध करो, नहीं तो तुम्हें आपत्ति में पडना पडेगा" तब कहीं अंगरेजो ने अपना तटस्थपन दूर कर सबसे पहले शिद्दी का प्रबन्ध किया। शिद्दी के त्रास के कारण मराठी सेना के बम्बई पर आक्रमण का एक दो बार योग आया, परन्तु टल गया। सन १६८० के अप्रैल के महीने में जब शिवाजी के राज्य में से पकडे हुये कितनेक हिन्दू लोगो को शिद्दी ने रखना चाहा, तब बम्बई के अंगरेजों ने इक्कीस हिन्दुओं का पता लगाकर उन्हें इस संकट से मुक्त किया। सन १६८९ में पश्चिम किनारे पर लडाकू जहाजों की संख्या बहुत कम करने के लिये कम्पनी के डा'' ने निश्चय किया। इससे बम्बई निवासियो को मराठा का बहुत भय लगने लगा, परन्तु शिवाजी की मृत्यु हो जाने पर उनका वह भय शीघ्र ही कम हो गया।

इतिहास संशोधकों ने जो कागज-पत्र प्रकाशित किये हैं उनमें भी शिवाजी और अंगरेजो के सम्बन्ध का पूरा वर्णन कुछ अधिक नहीं मिलता। बखरी में तो अंगरेजों के नाम निशान तक का प्राय पता नहीं है। ऐसी दशा में किसी भी व्यवहार का सूक्ष्मवृत्त मिलना असम्भव है। परन्तु शिवाजी के समय भारत में रहने वाले अंग्रेजो की व्यापार कम्पनी के कागज-पत्र उनके कार्यालय में अब भी मिलते हैं और उनमें से बहुत से छप भी गये हैं। इनके और अन्य बातो के आधार पर से अंग्रेज इतिहासकारो ने इस विषय पर बहुत कुछ लिखा है। उससे तो यही विदित होता है कि अंगरेजो और शिवाजी के बीच में जो कुछ सम्बन्ध हुआ उसमें शिवाजी ने अंग्रेजो पर अपना अच्छा दबदबा जमा लिया और वे शिवाजी से डर कर, उनसे नम्रता और सम्मान के साथ व्यवहार करते थे। कितने ही स्थानो पर अंगरेज ग्रन्थकारों ने लिखा है कि "अंगरेजों के आगे शिवाजी की कुछ नहीं चली और उन्हें हारना ही पडा", परन्तु उन्हीं ग्रन्थकारो ने जो पूरा वर्णन दिया है उसी पर से उनके इस कथन का खण्डन सहज में ही हो जाता है। श्रीयुत सर देसाई ने अंगरेजों के अनेक ग्रन्थो का परिश्रम-पूर्वक पर्यालोचन कर अपनी

'मराठी रियासत' नामक पुस्तक में इस विषय पर कुछ पृष्ठ लिखे हैं। उनके कुछ भाग का अनुवाद यहाँ दिया जाता है।

'शिवाजी के द्वारा बहुत कुछ उपद्रव होने पर भी उन्हें सम्मानपूर्ण मान्य किये बिना अङ्गरेज न रह सके। अङ्गरेजों को अनाज सामग्री और जलाऊ लकड़ी शिवाजी के ही राज्य से मिलती थी, अतः जब सूरत में शिवाजी जाते थे तो बम्बई के व्यापारी अङ्गरेज उन्हें बड़ी नम्रता और विनय से समझाते थे। सन् १६७२ में जब कुमाओं जिले के पोर्तुगीज उपनिवेश 'पोर्ट बन्दर' को शिवाजी ने अधिकृत करने का प्रयत्न किया तो बम्बई के अंग्रेज मन ही मन घबरा उठे और उन्हें प्रसन्न करके उनसे स्नेहपूर्ण संधि करने के लिए मिस्टर उस्टिक को भेजा। इस सन्धि में शिवाजी को ही लाभ था, क्योंकि अंग्रेजों के व्यापार के कारण उनके और हुए प्रदेश का मूल्य बढ़ने लगा था और दूसरे अंग्रेजों से मैत्री हो जाने पर वे मुगल सेना को अपने थाने की सीमा के भीतर से शिवाजी के ऊपर आक्रमण करने को नहीं जाने देते थे। अतः शिवाजी सन्धि करने को तैयार हो गये। उस्टिक ने पहले की क्षति के ३२ हजार 'पगोडा' माँगे परन्तु शिवाजी ने यह स्वीकार न करके कहा कि "तुम राजापुर में कोठी खोलो और शिद्दी के पराभव करने में हमारी सहायता करो तो हम आगे किसी प्रकार की हानि न पहुँचा कर तुमसे मैत्री रखेंगे।' अंगरेजों को ये दोनों शर्तें स्वीकार नहीं हुईं। दूसरी बार फिर सन् १६७३ के मई मास में अंगरेजों ने निकोल्स नामक वकील शिवाजी के पास भेजा। वह सम्भाजी की मार्फत शिवाजी से मिला परन्तु उस समय भी कोई महत्व की बात तय न हो सकी।

"शिवाजी को जहाँ तहाँ विजय मिलने के कारण मराठों को उनके कार्य पसन्द आने लगे। तब उनकी सम्मति में शिवाजी ने सन् १६७४ में यथाविधि राज्यपद ग्रहण किया। इस अभिषेकोत्सव में बम्बई के डिप्टी गवर्नर हेनरी आक्सेण्डन उपस्थित थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से अन्य दो अंगरेज व्यापारियों को साथ लेकर वे उक्त उत्सव के समय रायगढ़ आये। उस समय मौका लग जाने से शिवाजी से इनका सन्धि करने का विचार हुआ। इस इच्छा से ये लोग सन् १६७४ के अप्रेल मास के अन्त में बम्बई से जहाज द्वारा रवाना हुए। पहले चौल जाकर ये दूसरे दिन रोहा पहुँचे। रोहा से पालकी करके निजामपुर आये। पाँचवे दिन रायरी पर्वत के नीचे पाचाड नामक गाँव में आकर ठहरे। उस समय शिवाजी प्रतापगढ़ में थे, अतः इन्हें कुछ दिनों तक यहाँ ही ठहरना पड़ा। नारायणजी पण्डित नामक शिवाजी का एक चतुर कामदार पाचाड में अंगरेजों से मिला। शिवाजी का उद्देश्य उसने अंगरेजों को अच्छी तरह समझा दिया। अंगरेजों का कहना था कि "जञ्जीरा के शिद्दी से युद्ध न करके शिवाजी उससे सन्धि कर लें और हम व्यापारी सुभीता दे दें जिससे हम दोनों को लाभ हो, नारायण पण्डित ने अंगरेजों से कहा कि "यदि शिवाजी के सम्मुख आप शिद्दी की बात निकालेंगे तो आपका

कुछ भी काम न होगा। क्योंकि शिवाजी शिद्दी का मूलोच्छेदन करना चाहते हैं, इसलिए वे आपका कहना कभी न मानेंगे। व्यापार के सम्बन्ध में आपका कहना उचित है और शिवाजी भी अपने राज्य में व्यापार बढ़ाना चाहते हैं। अभी तक इन झगड़ों के कारण उन्हें इस ओर जैसा चाहिए वैसा लक्ष्य देने का समय नहीं मिला, परन्तु अब राज्याभिषेक हो जाने के बाद वे राज व्यवस्था का काम हाथ में लेंगे।" नारायणजी की इन बातों को सुनकर अंगरेज वकील समझ गये कि नारायण एक अधिकार विशेष रखने वाला चतुर पुरुष है, अतः उन्होंने उसे एक अंगूठा भेंट में दी।

"तारीख १५ मई को जब शिवाजी रायगढ़ लौटकर आये तब अंगरेज वकील किले पर गये। राज-भवन से एक मील दूरी पर इन्हें ठहरने के लिए बंगला दिया गया और वे वहाँ बड़े आनन्द से रहने लगे। शिवाजी उस समय बड़ी गड़बड़ में थे, तो भी चार दिन बाद नारायणजी की मार्फत वे इन अंगरेज वकीलों से मिले। व्यापार वृद्धि के सम्बन्ध में अंगरेजों का कहना उन्हें बहुत पसन्द आया और इस सम्बन्ध में विचार कर सन्धि की शर्तें निश्चित करने का काम शिवाजी ने पेशवा मोरोपन्त पिंगले को सौंपा। फिर शिवाजी को नजर भेंट देने के लिए अंगरेज वकील, जो वस्तुएं लाये थे वे किस प्रकार भेंट की जायं इस बात का निश्चय वे नारायण पण्डित से मिलकर दो दिनों तक करते रहे, और वे वस्तुएँ मोरोपन्त पेशवा की मार्फत शिवाजी को भेंट की गई। नारायणजी के यह कहने पर कि "बड़े बड़े अधिकारियों को भी भेंट करना अच्छा है" वकीलों ने बहुत से अधिकारियों को भी पोशाकें दीं। अन्त में नारायणजी की मार्फत सन्धि के सम्बन्ध में शिवाजी का अभिप्राय अंगरेजों को मालूम हो गया। अभिषेक के दिन बड़े दरबार में अंगरेजों का प्रधान वकील उपस्थित था। इस उत्सव का हृदयग्राही वर्णन उसने लिख रक्खा है। अभिषेक के कुछ दिनों बाद अंगरेजों से शिवाजी की सन्धि हुई और उस पर सम्पूर्ण अधिकारियों के हस्ताक्षर हो गये। तब अंगरेज वकील बम्बई को लौटे और वे रक्षा बन्धन के समय में लगभग वहाँ पहुँचे।

"शिवाजी की नाविक सेना कितनी अच्छी थी इसका जो उल्लेख कारवार के अंगरेज व्यापारी ने सन १६६५ में किया है, उससे विदित होता है कि उस समय कम से कम ८५ छोटे और तीन बड़े जहाज शिवाजी के पास थे। कागज-पत्रों के देखने से विदित होता है कि उस समय यूरोप का सबसे बलिष्ठ राज्य भी इतनी नाविक शक्ति से भयभीत हो सकता था, तो भी अंगरेजों का यही अनुमान है कि शिवाजी का बेड़ा बहुत बड़ा न रहा होगा।

"पश्चिमी किनारे के अंगरेज चुपचाप नहीं बैठे थे। वे जहाँ तक बनता था अपना दाँव लगाने की ही चिन्ता में रहते थे। उनका जञ्जीरा के शिद्दी के साथ अच्छा व्यवहार था। बम्बई बन्दर में अंगरेजों के पास अपनी नाविक सेना रखने की आज्ञा शिद्दी बारम्बार मांगता था, क्योंकि वह शिवाजी पर आक्रमण करना चाहता था।

परन्तु शिवाजी के भय के कारण अंग्रेज उनकी प्रार्थना मान्य नहीं करते थे और इसी लिए प्रकट रीति से सिद्दी को आश्रय न देने के कारण मुगल बादशाह का भी डर अंग्रेजों को था। सन् १६७३ में अक्टूबर मास में सिद्दी सम्बूल ने बम्बई बन्दर में प्रवेश कर शिवाजी के कुरला की ओर के प्रदेश में उपद्रव करना शुरू किया। उसने एक ब्राह्मण को वश में कर और उसे अपना जासूस बना कर शिवाजी के प्रदेश में इसलिए भेजा कि वहाँ के प्रमुख ब्राह्मणों को वश में करके ला सके। पकड़े हुए ब्राह्मणों को सिद्दी ने बहुत कष्ट दिया। जब यह बात शिवाजी को मालूम हुई तब उन्होंने अंग्रेजों को ऐसी अवस्था में फटकार बताई कि कम्पनी के प्रेसिडेन्ट ने तुरन्त ही शिवाजी के प्रदेश में उपद्रव करने वाले ११ व्यक्तियों को पकड़ा। उनमें से तीन को तो मृत्यु दण्ड दिया और शेष को गुलाम बना कर अमेरिका के पश्चिमी किनारे पर सेन्ट हेलना द्वीप को भेज दिया। दूसरे वर्ष फिर ऐसी ही बातें हुईं और सिद्दी ने अनेक ब्राह्मणों को कष्ट दिया। सिद्दी की दृष्टि में ब्राह्मण ही गुप्तचर थे क्योंकि वे शिवाजी की सहायता खूब करते थे। आगे और दूसरे काम में लग जाने पर सिद्दी से बदला न लिया जा सका। सन् १६८० में अप्रैल मास में सिद्दी शिवाजी के राज्य से कुछ लोगों को पकड़ कर बम्बई लाया। जब यह अंग्रेजों को मालूम हुआ तब उन्होंने २१ आदमियों को पुनः उनके देश को भेज दिया परन्तु अंग्रेजों का सिद्दी को अपने यहाँ स्थान देना शिवाजी को पसन्द नहीं हुआ अतः सिद्दी और अंग्रेज दोनों पर दबाव रखने के लिए सन् १६७६ की वर्षा ऋतु में शिवाजी ने बम्बई के समीप के खांदेरी द्वीप पर अधिकार कर लिया। तब से वे अंग्रेजों और सिद्दी पर अच्छी तरह दाब रख सके। शिवाजी के खांदेरी ले लेने पर अंग्रेजों को बड़ा बुरा मालूम हुआ और वे यह कहकर अपना हक साबित करने लगे कि पोर्तगीजों ने यह हमें दिया है परन्तु बसई के पोर्तुगीजों ने जब यह सुना तब वे अंग्रेजों को फटकार बता कर अपना हक साबित करने लगे। फिर अंग्रेजों ने सिद्दी से मित्रता करके शिवाजी की नौ-सेना पर चढ़ाई की। शिवाजी के कर्मचारियों ने पहले तो बिना सामना किए अंग्रेजों को द्वीप में आने दिया और जब वे घुस आए, तब उन सबों का संहार कर डाला। इसके बाद फिर अक्टूबर मास में रिवेञ्ज नामक पन्द्रह तोपों का जहाज और दो सौ सैनिकों से भरे हुए अन्य जहाजों को लेकर अंग्रेज खांदेरी के पास मराठों को रोकने के लिए आए। कप्तान मिचेल और केग्विन उस जहाजी बेड़े के मुखिया थे। उस समय अंग्रेज और मराठों का खूब दिल खोल कर युद्ध हुआ और दोनों की बहुत हानि हुई। तो भी जिस द्वीप पर अंग्रेजों की बहुत दिनों से दृष्टि थी उस खांदेरी द्वीप को वे न ले सके। इस समय शिवाजी की नौ सेना का मुखिया दौलत खाँ था। खांदेरी से पौन मील की दूरी पर उंदेरी नामक एक और छोटा द्वीप पथरीला है। बम्बई से आगबोट में बैठकर दक्षिण की ओर जाने पर ये मिलते हैं। इन द्वीपों में बस्ती नहीं थी, परन्तु यहाँ से अंग्रेजों को ईंधन मिलता था

और बम्बई बन्दर म जाने वाले सब जहाजों पर यहाँ से नजर रक्खी जा सकती थी। इन द्वीपो को लेने के लिए अगरेजो ने अनेक उपाय किए और इन्हीं के लिए शिवाजी से युद्ध करने की आज्ञा डायरेक्टरो की कोठी से कई बार माँगी गई पर वह उन्हें प्रत्येक बार यही लिखता था कि "खाँदेरी उन्देरी के लिए हमे युद्ध करने की जरूरत नहीं है, यह कई बार लिखा जा चुका है। इसके सिवा इस प्रकार युद्ध करने का हमारा व्यवसाय भी नहा है और न उसमे लाभ ही है इसलिए हम बार बार यही कहते हैं कि जिस तरह से भी हो युद्ध बन्द करो।' इस लिखने पर यहाँ के लोगों का अगरेजों के प्रति जो परिणाम हुआ उससे बम्बई निवासियो को बडा दुःख हुआ। उन्होंने विलायत को एक पत्र भेजा और उसमे लिखा कि यहा के लोग इन कारणो से हमे घृणा की दृष्टि से देखते हैं कि "तुम (अगरेजों) इतनी शेखी किस बल पर मारते हो? तुमने कौन सी ऐसी विजय प्राप्त की है? तुम्हारी तलवार ने कौन सा ऐसा बडा काम किया है? कौन तुम्हारी आज्ञा मानता है? तुम्हारे पास है क्या? डच लोगो ने तुम्हे शह दी ही थी। पोर्तुगीजो ने कुछ पुरुषत्व के काम भी किए थे, परन्तु तुम्हारी तो जो देखो वही हँसी उडाता है। बम्बई भी तो तुमने जीत कर नहा ली, और फिर उसके रखने की भी तुममे सामर्थ्य नहीं है। ऐसा होने पर भी तुम लोग जो लडाई करने को शेखी बघारते हो सो किस बिरते पर?" यद्यपि इन शब्दो को सच्चे सिद्ध कर दिखाने वाले मराठा के पुरस्कर्ता शिवाजी इस समय ससार म नहीं थे तो भी मरने से पहले अगरेजो ने तत्परता से उन्हें अपने अनुकूल बना लिया था। उस समय खाँदेरी लेने की धुन अगरेजो ने बिलकुल छोड दी थी। उनको जो नाविक सेना खाँदेरी के पास शिद्दी के सहायतार्थ थी वह उन्होंने वापिस मगवा ली थी और सन १६८० के मार्च मास में शिवाजी के वकील के साथ उन्होंने सधि कर ली थी जिसम शिद्दी को बम्बई म आश्रय न देने की मञ्जूरी दी और सन १६७४ की सधि पुनः स्वीकार की।

"अगरेजो पर शिवाजी का कितना भारी दबदबा था इसका उल्लेख ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के इतिहास म जगह-जगह पर मिलता है। किसी भी मराठे सरदार के आने पर अगरेजों को शिवाजी के आने का ही भय-पूर्ण भ्रम हुआ करता था। शिवाजी के नाम ने एक सामान्य रूप धारण कर लिया था। सन १७०३ म अगरेज व्यापारियों ने सूरत की डायरी में लिख रक्खा है कि —"शिवाजी फिर सूरत पर चढाई करने वाला है और उसकी सेना तो पहले स ही सूरत के आसपास गोली चला रही है। इसी भय से अगरेजो ने सूरत के थाने को विशेष दृढ किया और कितने ही अगरेज कर्मचारियों को फौजी काम करने की आज्ञा दी। जिन्होंने इस आज्ञा का पालन नहा किया उन्हें दण्ड दिया गया। यह सब शिवाजी के नाम का प्रभाव था। बगाल के अगरेज व्यापारियों को तो शिवाजी अमर प्रतीत होते थे। जब सन् १६८० मे शिवाजी की मृत्यु हुई तब बम्बई के प्रेसिडेन्ट ने यह मृत्यु-समाचार कलकत्ते भेजा था।

वहां से यह उत्तर आया कि —"शिवाजी इतनी बार मर चुका है कि उसके मरने का विश्वास ही नहीं होता उसे लोग अमर ही समझते हैं। उसके मरने के समाचारों पर विश्वास न होने का कारण यह है कि उसे जहाँ तहाँ विजय ही मिली। अब हम उसे तब मरा हुआ समझेंगे जब कि उसके समान साहस-पूर्ण काम करने वाला मराठा में कोई नहीं होगा और हम मराठों के पंजे से छुटकारा मिलेगा।"

जिस खांदेरी ऊँन्दरी में शिवाजी और अंगरेजों की मुठभेड़ हुई उसका सविस्तर वृत्तान्त इस प्रकार है—ऊँन्दरी के पास खांदेरी नाम एक छोटा सा द्वीप है। यह बम्बई के पास है और नाव तथा चोरों का जगह है। इसलिए मराठे, हबशी और अंगरेजों तीनों ही इसे अपने अधिकार में लेने का प्रयत्न करते थे। अपनी मृत्यु से एक वर्ष पूर्व ही शिवाजी ने इसे अपने अधिकार में ले लिया था। वहां से हबशियों को यह मालूम होने पर कि अंगरेज हबशियों को सहायता अथवा आश्रय देते हैं अंगरेजों का शह देने का बहुत अच्छा सुभीता था क्योंकि अंगरेज और हबशियों ने मराठों के विरुद्ध अपना गुट्ट बना लिया था। १६७९ के अगस्त मास में शिवाजी ने तीन सौ सिपाही और तीन सौ मजदूर, युद्ध का सामान तथा बारूद गोले के साथ खांदेरी की तट बन्दी और मरम्मत करने के लिए भेज थे। यह देखकर बम्बई के गवर्नर ने भी माल के तीन जहाजों में चालीस गोरे शिवाजी के नौकरों को रोकने के लिए भेजे, परन्तु वे कुछ न कर सके। दस बारह दिन तक खांदेरी के आसपास घूमकर वे जहाज वापिस लौट आये। तब फिर सोलह तोपों का लड़ाऊ जहाज देकर फिर उन्हीं लोगों को भेजा। ता० १९ सितम्बर को मराठों ने अंगरेजों की इस टुकड़ी के एक लेफ्टिनेण्ट को मारा और छह खलासी कैद कर लिये। इस समय चौल में शिवाजी की नाविक सेना तैयार हो रही थी। यह खबर बम्बई के अंगरेजों ने कितने ही जहाज भाड़े में लेकर, एक जहाजों का काफिला तैयार किया जिसमें करीब २०० सिपाही थे। इन दोनों की लड़ाई १६ अक्टूबर १६७८ में हुई जिसमें पहले-पहल अंगरेजों को ही हारना पड़ा, परन्तु रिवहज नामक अंगरेजी जहाज के विशेष जोर लगाने और मराठों के पाँच जहाज डूब जाने पर मराठे लोग पीछे हटे और नागोथाना की खाड़ी में घुस गये।

इसी समय शिवाजी की पाँच हजार सेना कल्याणी में आई। इस सेना की 'थाना' पर से होकर माहिम जाकर बम्बई पर चढ़ाई करने की इच्छा थी, परन्तु पोर्तुगीज सरकार ने 'थाना' पर से जाने की इजाजत नहीं दी। इधर यद्यपि मुख्य नाविक सेना लौट गई थी, तो भी उसमें से कुछ लोग रात्रि के अंधेरे में अंगरेजों की आँख छिपाकर खाँदेरी से भोजन सामग्री मराठों को बरोक टोक पहुँचाते थे। फिर खाँन्दरी किले पर तोपें पर तोपें चढ़ाकर मराठों ने अंगरेजों के बेड़े पर गोले चलाये। तब अंगरेजी बेड़ा वहाँ से उठकर, नागोथाना की खाड़ी के मुहाने पर जाकर ठहर गया। नवम्बर में हबशियों का बेड़ा भी सूरत के अधिकारियों से मैत्री कर और सामान आदि लेकर खाँदेरी के

पास अगरेजों के बेडे से आ मिला, परन्तु अगरेज और हबशी दोनों इस द्वीप को अपने-अपने अधिकार म लेना चाहते थे, इसलिए दोनो का साथ मिल कर आक्रमण करने का, विचार बहुत दिनो तक स्थिर न रह सका। तब कासम सिद्दी न अकेल ही खान्देरी पर तोपें चलाई परन्तु जब उसने देखा कि यहाँ दाल नहीं गलती तब सामने के ऊँदेरी द्वीप पर अपनी सेना उतारी और उस अपने अधिकार म ले लिया। इधर शिवाजी ने रायगढ़ से अपना वकील बम्बई के अगरेजो क पास भेजकर सधि की बातचीत शुरु की। जब शिवाजी के वकील ने अगरेजो से कहा, "तुम हबशी लोगो स मिलकर काम करते हो और इसका उदाहरण खांदेरी का युद्ध है।" इस पर बवई क गवनर ने अपना बेडा खांदेरो से वापस मगवा लिया और शिवाजी क वकील को विश्वास दिलाया कि सिद्दी मराठो पर आक्रमण न करने की प्रतिज्ञा करेंगे, तभी उ० हम बबई बन्दर म स्थान देंगे, अन्यथा नही।

सन १६८० म शिवाजी की मृत्यु हुई और सभाजी गद्दी पर बैठे। इस समय सिद्दी लोग पश्चिम किनारे पर आक्रमण कर रहे थे, इसलिए सभाजी न सिद्दियो स युद्ध प्रारम्भ कर दिया। सिद्दी और सभाजी क बेडे की पहली लडाई बबई और अली बाग के बीच में, ऊँदेरी द्वीप के पास, हुई। उसम सिद्दियो की विजय हुई। इस युद्ध म उन्होंने ७० मराठो क मस्तक काट। इन मस्तको को बबई म लाकर और उन्हें भालो पर लटका बम्बई बन्दर क किनारे पर एक श्रेणी म लगाना चाहा, परन्तु बम्बई बन्दर अगरेजों के अधीन होने के कारण, अगरेजो न सिद्दियो की विजय-श्री का यह भयकर प्रदशन नही होने दिया। इसी समय सभाजी ने अगरेजों स भी युद्ध प्रारम्भ कर दिया क्योंकि ऊपर कही हुई सधि की सिद्दी-सबधी शर्त का पालन अगरेजों ने नही किया था। सन् १६८२ म सभाजी ने बम्बई बन्दर क एलिफेन्टा द्वीप की मरम्मत और तटबन्दी की। १६८३ म मस्कत क अरब लोगो ने अगरेजो का प्रेसीडेंट नामक जहाज तोडकर लूट लिया। इस पर राजापुर के अगरेजो ने बम्बई के अगरेजो को लिखा कि ये अरब लोग सभाजी के ही भेजे हुए थे। तब बम्बई वालो ने अपना वकील सभाजी के पास भेजा, जिसे सभाजी ने सप्रमाण यह दिखला दिया कि हमारी और अरब लोगों की बातचीत तक नही हुई है।

सन् १६८६ मे कम्पनी का मुख्य कार्यालय सूरत से बम्बई आ गया और सूरत, दूसरे दर्जे का थाना हो गया, परन्तु सभाजी का ध्यान इस समय बम्बई पर नही था। उनका ध्यान दक्षिण कोकन प्रात के गोआ की ओर खिंच रहा था। वे पोर्तुगीज लोगो पर चढाई करना चाहते थे, इसलिए उनका सबध अगरजो से बहुत ही कम हो गया था।

राजाराम का सबध भी अगरेजो से बहुत सा नहीं रहा, क्योंकि उनका समय मुगलों से दूर देश म जा कर लडने ही म प्राय व्यतीत हुआ। सन् १७०३ क फरवरी

मास म मराठे सूरत की ओर गये और सूरत से दो मील क आस पास के गाँवो को उन्होंने लूटा और जलाया। इस समय ये लोग सूरत म बिना प्रवेश किये ही लौट आये थे, परन्तु कम्पनी के अधिकारियो ने तो इस समय भी सूरत म लड़ने की उचित तैयार कर ली थी १७०६ में अहमदाबाद के पास मराठो ने मुगलो का परास्त किया। इस समय सूरत और भडोच के बीच मरठ्ठा क। सेना फैली हुई थी। इस सेना ने इन दोनो शहरो क लोगो स कर वसूल किया।

इसी समय कान्होजी आग्रे का प्रताप बढ़ने लगा और इसकी और अंगरेजो की कोंकन प्रात के किनारा पर मुठभेड हाने लगी। कान्होजी अपनी ही हिम्मत पर सामुद्रिक काम करता था। यह अंगरेजो को थोड़े समय म ही विघ्न स्वरूप दिखाई देन लगा। इसने खादेरी पर अधिकार कर उस बसा दिया था।

सन १७१८ मे दक्षिण कोकन के सावन्त-वाडी क देसाइयो ने सात हजार सेना लकर कारवार की अंगरेजो की कोठी पर घेरा डाल रहे और जब अंगरेजो का कुमक जल मार्ग से आने पर हुई, तो उसी समय देसाइयों का घेरा उठ गया, क्योंकि शाहू महाराज की सेना ने सावन्त-वाडी क उत्तर प्रदेश पर चढ़ाई कर दी थी। देसाइयो ने अंगरेजो के पास अपना वकील भेजा और उसके द्वारा देसाइयों और अंगरेजो की सधि हुई।

शिवाजी के समय म कान्होजी आग्रे मराठो नौ-सेना म खलासी का काम करता था। वह अपने पराक्रम के कारण राजाराम क समय मे उसी सेना का मुख्य सेनापति हो गया। शाहू महाराज के दक्षिण म आने पर मराठो मे जब फूट हो गई तब कान्होजी ने पहले तो ताराबाई का पक्ष लिया, पर फिर वह शाहू के पक्ष म मिल गया। इस समय सावन्त वाडी स लेकर बम्बई तक प्राय सब किनारा उसी क अधिकार म था, तथा शाहू महाराज न उसे खादेरी कुलाबा, सुवर्णदुर्ग और विजयदुर्ग क किले कोट थाने थाने और सरखेल की पदवी प्रदान की। उसने हबशियो का प्रभाव मिट्टी म मिला दिया और वह कोंकन के किनारे पर आने-जाने वाले सम्पूर्ण परदेशी जहाजो से चौथ वसूल करने और उन्हे लूटने भी लगा। उसके पास दस बड़े जहाज थे जिन पर ४ से १० तक तोपें चढ़ी रहती थी। उस समय अंगरेजो के पास ३२ तोपो का एक जहाज २० स २८ तोपो तक के ४ जहाज और ५ से १२ तोपो तक क २० जहाज थ। इनका खर्च पांच लाख रुपये वार्षिक था। पोर्तुगीज और सिद्दियो का अधिकार कम हो जाने के कारण अंगरेजो और आग्रे की ही प्राय मुठभेड होती था। १७१६ म मलाबार किनारे पर इन दोनो का पहला युद्ध हुआ जिसमे आग्रे का पराभव हुआ। सन १७१७ म जब आग्रे ने अंगरेजो का "सकसेस नामक जहाज पकडा तब अंगरेजो ने क्रोधित होकर विजयदुर्ग के किले को घेर लिया परन्तु वे उस न ले सके। ता० १८ अप्रैल सन् १७१७ म अंगरेजी बेड़े का हार खाकर लौट जाना पड़ा। सन् १७१८ के

अक्टूबर मास में अंगरेजों ने खांदेरी पर आक्रमण किया, परन्तु यहाँ भी उनका पराभव हुआ और उन्हें वापिस लौट जाना पड़ा। इस प्रकार अंगरेजों के खांदेरी लेने के सब प्रयत्न निष्फल हुए। इस समय अंगरेजी व्यापारियों के जहाजों को सताने का काम आंग्रे घडाके में कर रहा था। उसने बम्बई के अंगरेजों को कहला भेजा था कि "तुम और पोर्तुगीज मेरा अभी तक कुछ नहीं कर सके हो, इसलिए मेरे रास्ते में व्यर्थ मत आओ।" इसने कितने ही अंगरेजों को बहुत दिनों तक कैद में रखा था। सन् १७२० में आंग्रे ने शार्लट नामक अंगरेजी जहाज पकड़कर विजयदुर्ग के बन्दर में ला रखा था। उसने कोंकन किनारे के सम्पूर्ण छोटे बड़े स्थानों पर तोपों के मोर्चे लगा रखे थे, जिनके द्वारा उसके मराठे और यूरोपियन कर्मचारी दूर दूर तक मार करते थे। सन १७२२ में अंगरेजों और पोर्तुगीजों ने मिलकर कुलाबा में आंग्रे पर चढ़ाई की, परन्तु उसमें वे सफल न हो सके। फिर १७२४ में डच लोगों के सात जहाजी काफिलों ने ५० तोपों के साथ विजयदुर्ग पर आक्रमण किया, परन्तु इन्हें भी यश नहीं मिला। सन् १७२६ में आंग्रे ने फिर कम्पनी का एक माल से भरा हुआ व्यापारी जहाज पकड़ा। इस प्रकार आंग्रे का जहाजी बेड़ा दिन पर दिन बढ़ने लगा। १७१६ में उसने फिर किंग विलियम नामक कम्पनी का जहाज पकड़ा और कप्तान मकलीन नामक अधिकारी के पाँव में बेड़ी डाल कर बहुत दिनों तक उसे कैद में रखा और ५०० रुपये के लेने पर उसे छोड़ा। १७३१ में कान्होजी आंग्रे की मृत्यु हो गई। जब तक वह जीता रहा, तब तक अंगरेज इसका कुछ भी न कर सके। कान्होजी के मरने के पश्चात् उसके ज्येष्ठ लड़के सम्भोजी ने १७३३ के जून मास में बम्बई के प्रेसीडेण्ट के पास सन्धि करने के लिए दो वकील भेजे, परन्तु सम्भोजी तुरन्त ही मर गया और उसके भाइयों में परस्पर कलह उत्पन्न हो गई। तब कान्होजी का दासी पुत्र मानाजी आगे आया और उसने पोर्तुगीजों की सहायता से कुलाबा पर अधिकार कर लिया। फिर बाजीराव पेशवा की मध्यस्थता से शाहू महाराज से उसने मैत्री कर ली और अपनी सत्ता बढ़ाने लगा। बम्बई के गवर्नर को यह सहन नहीं हुआ, अतः उन्होंने मानाजी के विरुद्ध हबशियों को सहायता दी, परन्तु मानाजी ने भी शत्रुओं के बेड़े पर अधिकार कर लिया और हबशियों के कितने ही किले ले लिये। पैनवी खाड़ी पर उसने अपना अधिकार जमाया और इस प्रकार वह बम्बई बन्दर तक आ पहुँचा। इधर पहले बाजीराव पेशवा को सबसे पहले जञ्जीरे के हबशियों को ठिकाने लगा देने के लिए अंगरेजों की सहायता लेने की आवश्यकता हुई, अतः राजापुर के घेरे के समय ही शाहू महाराज के नाम से बम्बई के गवर्नर को एक पत्र भेजा, जिसमें प्रार्थना की कि आप हमारे शिद्दी आक्रमण के कार्य में बाधा न डालें। फिर हबशी और पेशवा के बीच में मध्यस्थता का कार्य भी अंगरेजों को ही मिला, परन्तु पेशवा और आंग्रे के बीच मैत्री होने के कारण अंगरेजों और पेशवा के बीच मैत्री होना सम्भव नहीं था। इसके सिवा अंगरेज और हबशियों की सन्धि, आंग्रे के विरुद्ध हो चुकी

थी, जिसमे यह बात ठहरी थी कि दोना के मिलकर आग्रे का पराभव करने पर अगरेजा को खाँदेरी द्वीप और उस पर का सम्पूर्ण फौजी सामान तथा कुलावा भी मिलेगा और पेठरण तथा नागोथाना की खाडियो के बीच के प्रदेश मे अगरेज अपनी कोठियाँ स्थापित कर सकेगे और स्थल पर के जो स्थान हस्तगत होंगे वे हबशियो को मिलेंगे। यद्यपि यह सधि अगरेज और हबशियो के बीच मे हुई थी, तथापि उस समय हबशियो की सत्ता गिर रही थी, अत अगरेजा को हबशियो की सहायता से कुछ भी लाभ नही हुआ प्रत्युत अगरेजी कम्पनी के नौ सेना का व्यय बहुत अधिक बढ गया इसलिए इस सधि से अगरेजो को भी कुछ भी लाभ नही हुआ। उधर शाहू राजा की सहायता से आग्रे को सत्ता बढने लगी, और यदि मानाजी और सम्भाजी की आपसी गृह-कलह न बढती तो आग्रे ने गोआ से लेकर बम्बई तक सम्पूर्ण कोकन पट्टी के किनारे पर अधिकार कर लिया होता। पेशवा की गृह कलह के समान आग्रे की गृह कलह ने भी अगरेजो के लिए पथ्य का काम किया। बम्बई के अगरेजा ने कप्तान इञ्चबर्ड को मानाजी आग्रे के पास कुलाबा भेजा और सम्भा जी आग्रे के साथ उनकी लडाई के विषय मे चेताने के लिए द्रव्य और फौजी सामान से सहायता देने को कहलाया। सन् १७३८ के दिसम्बर मे मिस्टर बेगवेन की तथा सम्भाजी आग्रे के बेडे की राजापुर की खाडी मे मुठभेड हुई, परन्तु सम्भाजी का बेडा भाग जाने के कारण बच गया। इसी मास मे सम्भाजी आग्रे ने अगरेजो का डार्बी नामक व्यापारी जहाज हस्तगत कर लिया। १७३९ मे उसने अगरेजो के साथ सधि करने का प्रयत्न किया। इस सधि मे सम्भाजी की यह शर्त थी कि अगरेजो के व्यापारी जहाज आग्रे के दस्तखती आज्ञा पत्र से पश्चिम किनारे पर व्यापार कर सकेंगे और आग्रे की ओर से उन्हे किसी प्रकार की हानि न पहुँचे, इस लिए अगरेजो को २० लाख रुपये वार्षिक देना होगा, परन्तु अगरेजो को यह बात स्वीकार न हुई। सन् १७३९ के मार्च मास मे कप्तान इञ्चबर्ड ने मानाजी आग्रे के ८ लडाऊ जहाज पकडे, परन्तु मानाजी ने भी तुरन्त ही अर्थात् नवम्बर महीने मे एली फन्टा पर अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार सम्भाजी और मानाजी आग्रे अगरेजो के साथ कभी युद्ध और कभी सधि कर रहे थे कि इसी बीच मे पेशवा और अगरेजो मे मैत्री हो गई और इस मैत्री के कारण दोनो आग्रे के हाथ से कुलाबा निकल जाने की बारी आई, तब दोनो भाइयो ने उस समय परस्पर काम चलाऊ मैत्री कर अपना मतलब साध लिया। इस वर्णन से सन् १७३९ तक अगरेजो के साथ शिवाजी, सम्भाजी और आग्रे का सम्बन्ध कैसे हुआ और किस प्रकार रहा यह विदित हो जाता है, परन्तु मराठो और अगरेजो का बसई-युद्ध के कारण इससे भी निकट सम्बन्ध हुआ है, यह आगे दिखलाया जाता है।

सन् १७३७ तक अगरेजो को मराठो का प्रत्यक्ष परिचय बहुत अधिक नहीं था, न मराठो के उत्कर्ष से अधिक भय ही था, परन्तु फिर भी उन्हे मराठो से वास्तविक

डर होने लगा। सन् १७३१ में मराठों ने थाना के पोर्तुगीज लोगों पर आक्रमण किया। उस समय पोर्तुगीज और अंगरेजों में परस्पर मनमुटाव होने के कारण बम्बई के अंगरेजों ने मराठों को उत्तेजना दी। परन्तु तुरंत ही अंगरेज समझने लगे कि यह हमने भूल की है। सन् १७३७ के अप्रैल मास में सूरत के एक अंगरेज ने बङ्गाल में रहने वाले अपने एक मित्र को जो पत्र लिखा था उसमें उसने अपने जाति-भाइयों को मराठों का परिचय इस प्रकार कराया था कि "शाहू राजा की अधीनता में रहने वाले मराठे लोगों ने पोर्तुगीज लोगों पर इतनी भारी विजय प्राप्त की है कि उससे अनुमान होता है कि धीरे-धीरे बम्बई बन्दर पर भी चढ़ाई कर ये बहुत शीघ्र हमें (अंगरेजों को) हरा देंगे।' इस वर्ष मराठों ने थाने का किला पोर्तुगीजों से ले लिया, सो थाने की खाड़ी की ओर से बम्बई पर मराठों के चढ़ आने का भय अंगरेजों को होने लगा। तब उन्होंने अपनी सेना और गोला, बारूद आदि सामग्री वहां भेजी। इधर मराठों से वे दिखाऊ ढङ्ग से मिठास और स्नेह का व्यवहार करने लगे। उन्होंने स्वयं जाकर मराठों को यह समाचार दिया कि थाने का किला छीन लेने के कारण तुम पर पोर्तुगीज लोग बम्बई से चढ़ाई करने वाले हैं और किले के लोगों को गोला बारूद से सहायता पहुँचाई। इस कारण पोर्तुगीजों का आक्रमण सफल न हो सका तथा उनका सरदार दांतअंतोनियो मारा गया। इसके पहले एक बार जब शिद्दी ने बम्बई पर आक्रमण किया, तब पोर्तुगीजों ने अंगरेजों की ओर के समाचार शिद्दी को दिये थे। इसलिए अंगरेजों ने पोर्तुगीजों के समाचार मराठों को देकर बदला चुकाया और सन्तोष माना, परन्तु यूरोप के अन्य इतिहासकारों ने लिखा है कि अंगरेजों ने वह चुगली की थी। थाना के बाद मराठों ने तारापुर लिया और सन् १७३९ के फरवरी मास में वोर्सोवा नामक स्थान लेकर बसई पर घेरा डाला। इस समय पोर्तुगीजों ने अंगरेजों से बड़ी दीनता से सहायता मांगी, परन्तु अंगरेजों ने कुछ कारण दिखलाकर सहायता देना अस्वीकार कर दिया। अन्त में, चिमना जी अप्पा पेशवा को सफलता मिली और पोर्तुगीज उनकी शरण आये। इस लड़ाई में मराठों को हजारों प्राणों की जो हानि उठानी पड़ी उसका बदला उन्हें बसई हस्तगत हो जाने पर दूसरे रूप में मिला। बसई के किलेदार जानमिन्टो ने इस सम्बन्ध में बम्बई के गवर्नर को लिखा था कि "मराठों की इच्छा थाना लेने की अपेक्षा बम्बई लेने की अधिक है। उनके थाना लेने का कारण यह है कि यह बम्बई के मार्ग के नाकबन्दी का स्थान है। आज जिस प्रकार तुम्हारा मराठों से स्नेह है वैसा ही एक समय हमसे भी था परन्तु उन पर विश्वास नहीं होता। 'बम्बई बन्दर की सम्पत्ति लेने की उनकी बहुत इच्छा है। आज तुममें स्नेह पूर्वक व्यवहार करने का कारण यह है कि अंगरेज पोर्तुगीजों से एक साथ शत्रुता करने में असमर्थ हैं। ज्योंही साष्टी बन्दर पर मराठों का पांव जमा कि समझो, तुम्हारा भी नाश-काल समीप

ही है। किले पर जो तोपें मारी गई हैं उनके टुकडो पर के चिह्नों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तुमने मराठो को गोला बारूद से सहायता दी है और तुम्हारे तीन गोलन्दाज भी मराठो की सेना म थे। इसीलिए मराठो की तोपो के निशाने हमारे लिए बाधक हुए।' बसई के घेरे के समय पोर्तुगीजो ने अगरेजो से सहायता मांगी थी, क्योकि उन्हे भोजन सामग्री और बारूद के चार सौ पीपे तथा पाच हजार गोलो की आवश्यकता थी, परन्तु मराठो ने ऐसा जबरदस्त घेरा डाला था कि अगरेज सहायता पहुँचाने म असमर्थ थे, तो भी उन्होंने थोडी बहुत सहायता पहुँचाई। सेना को वेतन चुकाने के लिए पोर्तुगीजो ने कुछ नगद रुपयो की सहायता भी मांगी थी परन्तु अगरेजो ने देना स्वीकार नही किया। केवल ईसाई मन्दिर के चांदी के बतन और पीतल की तोपो को बधक रखकर पन्द्रह हजार रुपये दिये।

बसई सरीखा मजबूत किला मराठो के हाथ लगने पर अगरेजो को यह भय होने लगा था कि ये बम्बई बन्दर भी सहज ही मे ले लगे। बम्बई के किले की ऊंचाई केवल ग्यारह फुट थी, इसलिए उसके चारो ओर खाई खोदने की जरूरत थी। इस कार्य म तीस हजार का खच था। इस खच की रकम १) रुपया सैकडा अधिक चुङ्गी लेकर वसूल करने की लिखित सम्मति बम्बई के देशी व्यापारियो ने दे दी। उनके लेख मे इस प्रकार के वाक्य थे, "अगरेज कम्पनी के शासन म हम बहुत सुखी है। हमारी सम्पत्ति को किसी प्रकार का धोखा नही है। हम अपने धर्म का पालन स्वतन्त्रता-पूर्वक कर सकते हैं। हमारी इच्छा है कि यही सुख हमारी भावी पीढी को भी मिले। हमे बम्बई छोड-कर अन्यत्र सुख से रहने की कोई जगह नही दिखलाई देती। इधर मराठे लोग पास ही आ पहुँचे हैं, इसलिए उनसे बम्बई की रक्षा करने के लिए हम तीस हजार रुपये प्रसन्नता पूर्वक देते हैं। इस लेख के नीचे हिन्दू मुसलमान, ईसाई, पारसी, आदि अनेक जाति और धर्म के लोगो के हस्ताक्षर थे। बसई हाथ से निकल जाने पर उत्तर कोकण प्रान्त मे पोर्तुगीजो को कोई मुख्य आधार नही रहा। चौल और महाड्वाला कोट बन्दर के थाने के स्वय छोडने को उद्यत हो गये और चौल का थाना अगरेजो को देना स्वीकार किया। इसके पश्चात् अगरेजो की मध्यस्थता मे पोर्तुगीज और पेशवा के बीच सन्धि की बातचीत चली और कप्तान इञ्चबड ने ता० १४ अक्टूबर सन् १७४० को बाजीराव पेशवा और गोवा के पोर्तुगीज वाइसराय म सधि करवा दी जिसके द्वारा यह शर्त की गई कि पोर्तुगीज लोग चौल और पहाड के किले मराठो को दे और मराठे साष्टी से अपनी सेना वापस मगा लें और जब तक यह सेना न लौट जाय, तब तक उक्त दोनो किले अपने अधिकार म रखें। पोर्तुगीजो के नाम शेष हो जाने से पेशवा और अगरेजो का प्रत्यक्ष सम्बन्ध अधिक होने लगा। अब उन्हे मराठो की सत्ता प्रत्यक्ष दिखलाई दे रही थी और वे उसे जानने-पहिचानने लगे थे, इसलिए सतारा के भी राज दरबार म प्रवेश करने की इच्छा अगरेज लोगो को हुई और उन्होंने कप्तान विलियम गार्डन नामक

फौजी अधिकारी को शाहू महाराज से मिलाने के लिए सतारा भेजा। इस अधिकारी को अङ्गरेज बम्बई सरकार की ओर से गुप्त रीति से यह समझा दिया था कि तुम ऊपर से तो बहुत स्नेह बतलाना, परन्तु भीतर ही भीतर इस बात की जाँच करना कि पेशवा के वास्तविक शत्रु दरबार में कौन-कौन हैं? इसके सिवा उस समय शाहू महाराज की अपेक्षा बाजीराव पेशवा अधिक प्रबल थे। यह अङ्गरेजों से छिपा नहीं था। इसलिये उनसे भी मिले रहने की इच्छा से अङ्गरेजों ने एक स्नेहपूर्ण पत्र और कुछ भेंट के साथ कप्तान इञ्चबर्ड को पेशवा बाजीराव के पास भेजा।

शाहू महाराज की नजर करने के लिए बबई के बोर्ड ने यह निश्चय किया कि काच आदि का सामान जो थोड़े खर्च में बहुत मिल सके कप्तान गाडन के साथ भेजा जाय। गाडन साहब ता० १२ मई को बंबई से रवाना हुए। उनके साथ काशीपन्त नामक एक व्यक्ति भी था। यह शिद्दी के यहाँ की बातों से जानकारी रखता था। बबई कौंसिल ने गाडन को इस प्रकार बात करने के लिए आज्ञा दी कि—"तुम्हारे साथ के पत्र और नजराने सदा की रीति के अनुसार अदब के साथ जिसके लिए हो उन्हीं देना। शाहू राजा के दरबार में उनके मुख्य-मुख्य सलाहकार कौन-कौन हैं, उनके विचार कैसे हैं और उनका हिताहित सम्बंध किस प्रकार का है? इसका पता सूक्ष्म-दृष्टि से लगाना। दरबार में बाजीराव पेशवा के शत्रु बहुत हैं, इसलिए योग्य अवसर देखकर उनके हृदय में स्पर्धा और ईर्ष्या उत्पन्न करने का प्रयत्न करना और उन्हें समझाना कि पेशवा पहले से ही प्रबल है और इधर पोर्तुगीजों से विजय प्राप्त करने के कारण यह और अधिक प्रबल होगा, इसलिए उसके बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने का यही अवसर है। अपनी कमजोरी उन्हें बहुत न दिखलाना। उन्हें यही बतलाना कि हम बाजीराव से डरते नहीं हैं। यदि हम पर चढ़ाई हो, तो हम अपना बचाव कर सकते हैं। उन्हें यह भी समझाना कि हमारी इच्छा केवल व्यापार करने की है किसी के राज्य लेने की नहीं और न हम किसी के धर्म में ही हस्तक्षेप करते हैं। इस देश का माल ले जाकर हम अपने देश में बेचते हैं और उसके बदले में यहाँ पैसा और माल लाते हैं तथा चुङ्गी भी देते हैं। यह तुम्हारा ही काम है। हमारा व्यापार मराठों के लिए सब तरह से लाभ-दायक है। गाडन साहब २३ मई के लगभग सतारा के पास पहुँचे। २५ वीं तारीख को श्रीपति राव प्रतिनिधि के कर्मचारी अन्ताजी पन्त ने उनका सत्कार किया और शाहू महाराज के सतारा में न होने के कारण गाडन साहब को साथ में रक्षक देकर शाहूजी के पास रहमतपुरा भेजा। ता० ३ जून को वे श्रीपतिराव प्रतिनिधि से मिले और ७ वीं को शाहूजी से उनकी मुलाकात कराई गई। इधर-उधर की बात होने के बाद शाहू महाराज ने गाडन साहब से पूछा कि क्या अब अङ्गरेज मराठों से डरने लगे हैं और इसीलिए उन्होंने अपने वकील मेरे पास भेजे हैं? केप्टन गाडन ने उत्तर दिया, "नहीं, मराठों के डर से मैं यहाँ नहीं भेजा गया हूँ, किन्तु मराठों से मैत्री करने की

मेरे आने का कारण है।" अंगरेजों की ओर से शाहू महाराज को जो चीजें नजर की गई उनमें सुन्दर काँच और चित्र विचित्र पक्षियों को देखकर महाराज बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अंगरेजों से मैत्री रखने का आश्वासन दिया परन्तु गार्डन साहब मन में समझ गए कि पेशवा बाजीराव इतना प्रबल हो रहा है कि उसके आगे महाराज के आश्वासन देने या न देने का कुछ भी मूल्य नहीं है। जब शाहू महाराज को यह विदित हुआ कि बाजीराव और चिमना जी अंगरेजों के विरुद्ध हैं तब उन्होंने कहा, "ये अंगरेज लोग अच्छे आदमी हैं। यदि मैं इन्हें सहारा दूं तो बाजीराव उसे कभी अस्वीकार न करेंगे।" गार्डन साहब ने रानी विरूबाई को भी पत्र और नजराना भेजा तथा बाजीराव के पुत्र नाना साहब से भी वे मिले। जब नाना साहब ने उनसे खोद खोदकर बातें पूछीं तो उन्हें विदित हो गया कि वह अंगरेजों को पानी में देखता है। इस समय बाजीराव बुरहानपुर में थे और यह अफवाह चारों ओर उड़ रही थी दक्षिण में नादिरशाह मराठों पर आक्रमण करने वाला है। ता० २७ की बातचीत में महाराज ने गार्डन साहब से पूछा कि 'तुम आंग्रे का सतान हो ? तब गार्डन ने उत्तर दिया कि वह समुद्र में व्यापारियों को कष्ट देता है। ता० ३० जून को गार्डन साहब मराठों की छावनी से रवाना हुए और ता० १४ जुलाई को बंबई पहुँचे। वहाँ कौंसिल के सम्मुख गार्डन साहब ने यह विवरण उपस्थित किया कि "शाहू महाराज को थाना और साल्टी का लेना पसन्द था परन्तु बंबई पर चढ़ाई करना उन्हें पसन्द न था। बाजीराव का हेतु बंबई पर चढ़ाई करने का नहीं है और बाजीराव के सिवा दूसरों के मत अंगरेजों के अनुकूल हैं। बाजीराव की महत्वाकांक्षा बढ़ रही है। वह मुगलों के राज से पैसा लूट कर बहुत सेना रखना चाहता है। शाहू राजा के पास केवल २६ ००० सैनिक है परन्तु बाजीराव के पास ४०,००० हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर वह मराठों को तुरंत एकत्रित कर सकता है। बाजीराव अपने विचार सदा गुप्त रखता है यहाँ तक कि कई बार तो उसकी सेना को यही नहीं मालूम हो पाता कि आगे का मुकाम कहाँ होने वाला है। बाजीराव पर सेना का पूर्ण विश्वास है। सारांश यह कि बाजीराव के प्रबल होने के कारण राज्य के अन्य सातों मन्त्रियों के विरुद्ध होने पर भी वह अपने ही मन की करता है, इसलिए हम बाजीराव को अप्रसन्न न होने देने की चेष्टा करना उचित है। पूने के अन्ताजी नायक बहरे नामक व्यापारी की इच्छा बंबई में अपना गुमाश्ता रखकर व्यापार करने का है। यह बाजीराव के विश्वासियों में से है, इसलिए इसके कहने पर हम विचार करना उचित है।

ता० २० जुलाई १७३८ को बंबई कौन्सिल का कार्य विवरण-पुस्तिका में इस प्रकार टिप्पणी लिखा गई है कि—

"यद्यपि मराठों को व्यापार से होने वाले लाभ पर लक्ष्य है तथापि बाजीराव के दाँत हमारे बंबई बंदर पर हैं और हमें अपने बचाव में लाने के लिए वह बहुत सावधान

धान है, अत कप्तान इन्चवर्ड ने जो सन्धि की है सब बातों का विचार करते हुए यही उचित प्रतीत होता है कि वह स्वीकार की जाय। बसई ले लेने के कारण मराठे प्रबल हो गए हैं, अत इस समय उनसे विरोध करना उचित नहीं है। यद्यपि हमारी सामुद्रिक शक्ति उनसे कुछ अधिक प्रबल है तथापि उनकी स्थल सेना बहुत ही अधिक बलवान है।"

गाडन साहब जब बम्बई लौटकर जाने लगे तो शाहू महाराज ने बम्बई के गवर्नर को एक पत्र उनके हाथ भेजा। उसमे लिखा था कि "कप्तान गाडन की मार्फत आपका पत्र मिला, समाचार विदित हुए। अगरेजों के साथ मेरा स्नेह सम्बन्ध प्रेम का वैसा बना हुआ है। तुमने उस सम्बन्ध को न तो अभी तोड़ा है और न आगे भी तोडोगे ऐसी आशा है। तुम्हारे व्यापार पर मेरी कृपा दृष्टि रहेगी। सदा पत्र भेजते रहे और स्नेह बढाते रहे।' इसी समय शाहू ने बाजीराव को इस प्रकार पत्र लिखा कि "अगरेज लोग पहले से हमसे ईमान के साथ व्यवहार करते आये हैं। बम्बई के गवनर स्टीफन ला के द्वारा भेजा हुआ गाडन नामक वकील मुझसे मिला था। हमारे साथ स्नेह रखने की उनकी इच्छा है। उनकी पद्धति व्यापारी है और व हमसे निष्कपट रीति से व्यवहार करते रहे हैं। व वचन के पक्के हैं, इसलिए तुम उनसे अच्छी तरह स्नेह रखना।" चिमनाजी अप्पा को भी शाहू महाराज ने ऐसा ही एक पत्र भेजा था। ता० २६ जून, सन् १७३६ को बाजीराव ने बबई के गवनर को इस आशय का पत्र भेजा कि "शाहू महाराज से स्नेह-पूर्वक पत्र व्यवहार करने की आपकी इच्छा उचित है। हमारी विजय के कारण तुम्हें जो हर्ष हुआ उसमे तुम सन्तुष्ट हुए। हमारी भी तुम्हारे समान यही इच्छा है कि तुम्हारा हमारा व्यापार बढे और राज्य तथा प्रजा को लाभ पहुँचे।" इन्हीं दिनों चिमनाजी अप्पा के पास इञ्चवर्ड साहब अगरेजों के वकील बन कर गये थे दोनों की मुलाकात बसई में हुई। चिमनाजी अप्पा ने कहा कि "बसई के घेरे के समय अङ्गरेजो ने जो पोर्तुगीजो को सहायता दी उससे हमे अपने काम में बहुत कष्ट उठाना पड़ा।" इस पर इञ्चवर्ड साहब ने उत्तर दिया कि "अब आप बसई के स्वामी हो गये हैं, अब हम आपकी सहायता करेंगे।' चिमनाजी अप्पा ने यह भी कहा कि 'अब हम दमण चौल आदि स्थान लेने वाले हैं तथा अपनी नौ-सेना भी बढाना चाहते हैं।' तब इन्चवर्ड साहब ने मौका देखकर यह बतलाते हुए कि नौ-सेना के प्रबल हो जाने से आप सामुद्रिक डाकुओ का नाश कर सकेंगे, मुक्त व्यापार-नीति के लाभो पर एक व्याख्यान दे डाला जिसमे उन्होंने कहा कि "आपका देश सम्पन्न और सुखी है। आप व्यापार को बढाओ, जगात कम कर दो, विदेशी व्यापारियों के जहाज प्रत्येक बन्दर मे आने दो, उनकी कोठियो की रक्षा करो। इन बातों से तुम्हारे देश को लाभ होगा। जगत मे विशाल बुद्धि और उदार मन के महत्वाकांक्षी लोग इसी राज-मार्ग का अनुसरण करते हैं।" मालूम होता है कि इनके व्याख्यान की बहुत सी बातें चिमनाजी को पसन्द आई, क्योंकि ता० १२ जुलाई, १७३९ को पेशवा और अङ्गरेजों मे सन्धि हो गई, जिसके

अनुसार अङ्गरेजों को पेशवाई राज्य में व्यापार करने की इजाजत मिली।

चिमनाजी के पास इञ्चबर्ड साहब को भेजते समय बम्बई कौंसिल ने इस प्रकार अपने विचार और हेतु प्रकट करने के लिए उनसे कहा था—'यदि मराठे हमसे स्नेह करना चाहते हों तो हमारी भी उनसे स्नेह करने की इच्छा है। हम इस बात की सावधानी रक्खेंगे कि पातुगीज मराठों पर आक्रमण न करने पावें और न वे बम्बई की बगल में घाटी की ओर तटवर्ती आक्रमण ही कर सकें। बम्बई को अपने अधिकार में रखने से हमारा यही प्रयोजन है कि हम चारों ओर अच्छी तरह व्यापार फैला सकें, इसलिए गाड़ियों पर बैठाये हुए जकात के नाकों पर अङ्गरेजों को विशेष सुभीते दिये जाने चाहिए। मराठों के राज्य में बना कौशल का माल यदि अच्छा होगा और उचित मूल्य पर मिलेगा, तो हम उसे अवश्य ही खरीदेंगे। हम जो थल-सेना और नौ-सेना रखते हैं उसे केवल अपनी रक्षा के लिए रखते हैं। यदि मराठे हमारा स्नेहभाव रक्खेंगे, तो हम समुद्र किनारे पर उनके व्यापार को धक्का न लगने देंगे, प्रत्युत सहायता करेंगे। हमें आंग्रे का भय है, इसलिए पेशवा को अपने लड़ाऊ जहाज माहिम की खाड़ी में न भेजने होंगे क्योंकि आंग्रे इससे लाभ उठा लेवेंगे अर्थात् हम धोखे में पड़ जावेंगे और यह नहीं जान सकेंगे कि पेशवा के जहाज कौन से हैं और आंग्रे के कौन से। ऋण देने की हमें कम्पनी सरकार की आज्ञा नहीं है और व्यापार में इन दिनों नुकसान है इसलिए पेशवा हमसे खंडनी भी न लें। हमने शिद्दी और पोर्तुगीज को पहले सहायता अवश्य दी थी, सो केवल इसलिए कि उनके पतन से हमारे हित में बाधा उत्पन्न होती थी। अब पेशवा की और हमारी मित्रता हो जाने पर हम तटस्थ रहेंगे। मानाजी आंग्रे से हमारी संधि हो गई है और शिद्दी, मुगल बादशाह के अधीन है, इसलिए इन दोनों के विरुद्ध हम आपकी सहायता न कर सकेंगे, परन्तु सम्भाजी आंग्रे हमारा शत्रु है उसे जितना हमसे बन सकेगा हम त्रास दे सकते हैं।"

चिमना जी अप्पा उस समय बीमार थे। इसलिए कप्तान इञ्चबर्ड से प्रत्यक्ष बातचीत करने में राघोबा दादा ही मुख्य थे। कोंडाजी मानकर के साथ सब बातचीत पक्की हुई और संधि की शर्तें जबानी ठहर गईं। फिर लिखवा कर बम्बई कौंसिल के पास स्वीकृति के लिए भेजी गई। इञ्चबर्ड साहब को यह बात प्रायः पसन्द नहीं थी, क्योंकि उन्होंने लिखा था कि "प्रायः मराठे लोग कहते कुछ और लिखते कुछ हैं तो भी यह संधि कर लेना उत्तम है।"

सन् १७५५ में आंग्रे का पतन करने के लिए पेशवा ने अङ्गरेजों से सहायता माँगी और अङ्गरेजों ने बड़ी प्रसन्नता से दी, क्योंकि आंग्रे की सामुद्रिक शक्ति के कारण अङ्गरेज उस पर पहले से ही अप्रसन्न थे। ता० २२ मार्च को मराठे और अङ्गरेजों ने सुवर्ण-दुर्ग को घेर लिया। इस घेरे में अङ्गरेजों की ओर से कप्तान जेम्स ५ लड़ाऊ जहाजों के साथ थे और मराठों के छोटे बड़े ६७ जहाज थे। लड़ने का काम मराठों ने

लिया था और गोलदाजी और निशानाबाजी का काम अङ्गरेज खलासी कर थे। इस प्रकार आग्रे के इस किले पर जय प्राप्त की गई। अङ्गरेजो ने २० वर्ष मे यही एक जय प्राप्त की थी। फिर उन्होने बाणकोट का किला लिया और उसी वर्ष अप्रैल मास मे नानासाहब पेशवा की प्रार्थना पर रत्नागिरि का किला लेने के लिए अङ्गरेजो ने कप्तान जेम्स को फिर भेजा। सन् १७५६ म कर्नल राबर्ट क्लाइव और एडमिरल वाटसन के सरकारी जहाज बम्बई आये और उन्हे लूट की लालच दिलाकर अङ्गरेजो ने आग्रे पर फिर चढाई की। इस चढाई म मराठे भी शामिल थे। इस बार इन लोगो ने विजय दुर्ग का दृढ किला हस्तगत किया। इस आक्रमण मे कर्नल क्लाइव स्वत सम्मिलित था। किले पर अङ्गरेज पहले चढे, इसलिए उस पर अङ्गरेजो का झण्डा उडाया गया, परन्तु पेशवाओ को यह मान्य नही हुआ। अङ्गरेज विजयदुर्ग के किले के बदले मे बाण-कोट का किला मराठो को देने लगे, परन्तु मराठो ने उसे लेना स्वीकार नही किया और अङ्गरेजो को लिखा कि "आप लोगो को ईमान का ऐसा व्यवहार उचित नही।" इस पर गवर्नर बोरशेअर ने लिखा कि "हमने समझा था कि यह अदला बदला तुम्हे पसन्द होगी तभी हमने यह प्रस्ताव किया था।" अन्त मे बम्बई से स्पेन्सर साहब वकील को नाना फडनवीस के पास पूना भेजा गया और ता० १२ अक्टूबर, सन् १७५६ के दिन सधि हुई, जिसम यह निश्चय हुआ कि मराठो को विजय-दुर्ग का किला दिया जाय और बाणकोट का किला अङ्गरेजो के पास रहे। बाणकोट किले के खर्च के लिए मराठे १० गाँव अङ्गरेजो को दे और पेशवाई राज्य म डच आदि यूरोपियन लोग व्यापार न करने पावें। इस सधि क पहिले विजय-दुर्ग के सम्बन्ध म ता० २१ जुलाई, सन् १७५६ को नानासाहब पेशवा ने जो एक पत्र बम्बई के अङ्गरेजो को भेजा था उसका आशय इस प्रकार था कि 'विजयदुर्ग लेने की हमारी इच्छा के कारण हमने अङ्गरेजो से युद्ध किया था, फिर हम वह किला तुम्हे कैसे दे सकते हैं? सब यूरोपियनो मे अङ्गरेज अपने वचन के पाबन्द कहे जाते हैं, इसीलिए हमने विलायत के राजा और अङ्गरेजो से स्नेह रखा। विजय-दुर्ग का किला हमारे राज्य म है। उसी के लिए हमने युद्ध किया था, परन्तु जब अङ्गरेज स्वय अपनी ओर से वचन भङ्ग करते हैं तो यह उचित नही है। अत किला हमारी सरकार क कर्मचारियो के अधीन कर दीजिए।"

इस पत्र के उत्तर म अङ्गरेजो ने निम्न लिखित आशय का पत्र भेजा—"किला अपने अधिकार मे रखने का कारण केवल सधि की शर्तें पूरी करना है। डच लोगो का व्यापार आपने नाममात्र को बन्द कर रखा है। उनका माल आपके राज्य मे जाता है। हमारे और आप के बीच मे किसी प्रकार का भ्रम न होने पावे, इसलिए मैं अपने वकील को आपके पास भेज रहा हूँ।" जान स्पेंसर पूना को भेजे गए। इन्होंने ता० ३१ अक्टूबर सन् १७५६ को बम्बई कौंसिल के सन्मुख यह रिपोर्ट पेश की —"पेशवा के कारभारी अमृतराव के द्वारा मुझे यह विदित हुआ है कि नानासाहब पेशवा की सलाह

से सलाबतजङ्ग के समीप से रहने वाले पेशवा को निकाल लिया है। जिस समय मैं नाना साहब पेशवा से मिला उस समय उनके पास राघोबा दादा, सदाशिवराव भाऊ और अमृतराव थे। नानासाहब और सन्डोवा ने पेशवा और सलाबतजङ्ग के साथ जो घटना हुई थी उसका पूरा हाल मुझसे कहा। पेशवा ने कहा कि अब फ्रान्स का प्रभाव कर्नाटक में न बढ़ सकेगा और घेरिया किले का मामला साफ हो जाने पर हमारे और तुम्हारे बीच में मनमुटाव होने का भी कोई कारण न रहेगा। नानासाहब ने अपनी यह इच्छा भी प्रकट की कि जिस प्रकार मद्रास के मोहम्मद अलीखाँ से अङ्गरेजों का स्नेह है वैसा ही बम्बई के अङ्गरेजों से हमारा रहे और जिस प्रकार मोहम्मद अलीखाँ को गोलाबारूद और सेना की सहायता अङ्गरेजों की ओर से दी गई वैसा ही सहायता हम को भी दी जाय परन्तु मैंने अनेक कारण बतला कर उनसे कहा कि ऐसी सहायता देने में हम (अङ्गरेज) असमर्थ हैं।

"इतनी बातचीत होने तक राघोबा दादा चुपचाप थे कुछ बोल नहीं थे। फिर उन्होंने दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए परवाना और सेना से सहायता देने का हमसे बहुत आग्रह किया परन्तु मैंने फिर भी वही जवाब दिया। घेरिया का किला अधिकार में लेने के लिये गोविन्द शिवराम जा रहे हैं वे भी शायद यही बात कहेंगे। यदि मुगलों पर आक्रमण करने के लिये अङ्गरेजी सेना सहायता देगी तो कम्पनी सरकार को बहुत सी अड़चनों का सामना करना पड़ेगा। नानासाहब का चचेरा भाई सदाशिव राव भाऊ मुख्यतः कार्य भार सम्हालता है। यह बहुत चतुर कर्मण्य और अनुभवी पुरुष है, परन्तु साथ ही जल्दबाज और महत्वाकांक्षी भी बहुत है। पेशवा के दरबार में सदाशिवराव भाऊ को ही साधना उचित है। सन् १७५६ में बम्बई कौंसिल ने नानासाहब पेशवा के पास विलियम एण्ड्रयूज नामक वकील को भेजा और उसे इस प्रकार काम करने को समझाया कि 'इस समय पेशवा के दरबार में नानासाहब और सदाशिवराव भाऊ में मत भेद हो जाने से बहुत गड़बड़ है इसलिए सम्भव है कि बहुत से लोग कम्पनी सरकार की ओर झुकें, परन्तु तुम्हें बहुत सम्भल कर लोगों पर विश्वास करना। शङ्करावजी पन्त, सदाशिवराव भाऊ के पक्ष में मिल गया है वह तुमसे बहुत सी भीतरी बातें बतलायगा। उसकी पूँजी सूरत में गुथी हुई है। उसे आशा है कि हमारी सहायता से वह उसे मिल जायगी इसलिए वह भूठा स्नेह बतलाता होगा, तुम सावधान रहना। रामाजीपन्त के कहने से मालूम हुआ है कि जजीरा और खंदेरी के लेने के लिए हमने पेशवा को सहायता नहीं दी इससे वे हम पर अप्रसन्न हैं परन्तु तुम नानासाहब पेशवा को यह अच्छी तरह समझा देना कि रामाजीपन्त के जजीरे पर आक्रमण करने से पहले हम इसके बाद समाचार भी दिए गए। अकस्मात गङ्गाधरपन्त को हमारे पास भेजा, परन्तु हबशियों के विरुद्ध होना हम उचित नहीं था। यदि रामजी पन्त हमसे पहले पूछते तो हम उनसे कह देते कि जञ्जीरा लेना बहुत कठिन है। हम

ठहरे व्यापारी कोई भी आकर बम्बई से हमारी कोठी स माल खरीद सकता है । हबशी भी आकर खरीदते हैं । हमने उन्हें गोली-बारूद नही बेची । हमने मराठा को कभी वहीं नही रोका, प्रत्युत माहिम की खाडी म, याने स आज्ञा आने तक, हमारे कितने ही आदमियो को रोकना पडा और कितनी ही बार मराठा की चौकियो पर हमारे नाविक अधिकारियो को अपनी तलाशी देनी पडी ।

'नानासाहब स तुम यह भी कहना कि हमने सुना है कि आप फ्रेंचो से पत्र व्यवहार कर रहे हैं और वे आपको जञ्जीरा तथा उँदेरी लेने म सहायता करने वाले हैं, परन्तु यह नीचता और कृतघ्नता है । यदि आपका यह विचार नही है तो फिर सब फौजी बेडा को तैयार होने की आज्ञा क्यो दी गई है और क्या दामाजी गायकवाड को वर्षा ऋतु समाप्त होने ही सूरत पर आक्रमण करने की आज्ञा मिली है ? सूरत के कार-बार म कम्पनी सरकार का बहुत कुछ हाथ फसा हुआ है यह पेशवा अच्छी तरह जानते हैं । पेशवा के व्यवहार से विदित होता है कि हम जो मुगलो के पास से सनद मिली है उसे वे तुच्छ समझते हैं, परन्तु पेशवा स्वय मुगलो की सनद को जो उन्हे मिली है महत्व देते हैं । मुगलो की आज्ञा और सनद के अनुसार सूरत का किला हमारे अधिकार म है । उस पर आक्रमण करना पेशवा को उचित नही है । सूरत के नवाब यदि पेशवा का ऋण नही चुकाते होंगे, तो हम उनसे इसका निर्णय करवा देंगे, परन्तु सूरत पर आक्रमण होना ठीक नही । यदि होगा तो फिर हम भी आपके साथ युद्ध करना पडेगा, इसे ध्यान मे रखिए । बाणकोट मिलने म बदले म यदि तुम्हें बाणकोट के इधर और बम्बई के नजदीक कोई किले की जरूरत हो, तो हम उस पर विचार कर सकते हैं । नानासाहब को यह समझा कर कहना कि हबशियो के विरुद्ध होना हमारे लिए बहुत कठिन काम है । हम पेशवा स स्नेह भाव रखना चाहते हैं, परन्तु नुकसान और अपमान सहन करने को हम तैयार नही हैं ।'

वकील के साथ टामस मास्टिन नामक एक अङ्गरेज और भेजा गया था और उससे कह दिया गया था कि यदि आवश्यकता समझो तो मास्टिन को नानासाहब पेशवा और सदाशिवराव भाऊ मे बराबर मिलने के लिए दुभाषिया के साथ पूना म छोड आना । विलियम प्राइज ता० २४ अगस्त को बम्बई से रवाना हुए और पूना के सङ्गम पर ता० ४ सितम्बर को पहुँचे । पेशवा के पास इनके आगमन के समाचार पहुँचने पर सदाशिवराव भाऊ की ओर से बाबा चिटणवीस प्राइज साहब से मिलने आये और उन्हें सोमवार पेंठ म एक बञ्जारे के घर पर ठहराया । वहाँ नानासाहब सदाशिवराव, भाऊ, राघोबा और विश्वासराव से विलियम प्राइज की मुलाकात हुई । नानासाहब के चले जाने पर सदाशिवराव से इनकी बहुत कुछ कहा सुनी हुई । हबशियो के विरुद्ध अङ्गरेजो के सहायता न देने से दरबार के सब लोग अप्रसन्न थे । ता० २४ को नानासाहब फिर वकील स मिले, परन्तु इस मुलाकात स भी कुछ सार नही निकला । गोविन्द शिवराम ने

वकील को बहुत धमकाया और कहा कि "अङ्गरेजों के व्यापार को पक्का पहुँचाने और उनके थाना की आमदनी बसान से लेने की शक्ति पेशवा के हाथ म है।" इस पर वकील ने भी उत्तर दिया कि "पेशवा के शत्रु अङ्गरेजो से सधि करो को बिलकुल तैयार हैं। यदि पेशवा हमसे सधि नहीं करेंगे तो हम उनके शत्रुओ से सधि करेंगे।" दूसरी मुलाकात म अङ्गरेजो के वकील ने गोविन्द शिवराम स कहा कि "साष्टी विजय-दुर्ग प्रभृति किले हम दिए जाय और सूरत की आमदनी पर कर छोड दिया जाय, तो कदाचित् हम जञ्जीरा लेने मे आपकी सहायता कर सकें।" परन्तु गोविन्द शिवराम ने उनकी यह बात सर्वथा अस्वीकार की। गुजरात के सम्बन्ध म भी वकील मे बारम्बारी की बहुत कहा सुनी हुई। ता० १३ अक्टूबर के दिन भाऊ चढाई के लिए निकला। ता० १६ अक्टूबर को अङ्गरेजो का वकील फिर नानासाहब से मिला और ता० २२ को भी उसने उनसे भेट की, परन्तु जञ्जीरा के सम्बन्ध म बातचीत का कुछ परिणाम न निकल सका। तब नानासाहब ने वकील को एक घोडा और सिरपेंच देकर रवाना किया। प्राइज साहब की सारी वकालत व्यर्थ गई और वे ता० २३ अक्टूबर को बम्बई चले आये। सन् १७६७ म अङ्गरेजो ने टामस मास्टिन को फिर पेशवा के पास भेजा। इस समय पूना म बडे माधवराव पेशवा गद्दी पर थे।

जाते समय मास्टिन साहब को इस प्रकार समझाया गया कि "तुम पेशवा से यह कहना कि अब भी कितने बन्दरो पर हमारे माल के आने-जाने म बाधा पडती है और माल जहाँ का तहाँ रुका पडा है। बम्बई के गवर्नर की विनती पर आपने यह बाधा न होने देने की आज्ञा येसाजी पन्त को दे दी है पर अभी कार्य नहीं होता। अब तदनुसार मैं इसी आज्ञा के अनुसार काम होने की प्रार्थना करने के लिए यहाँ आया हूँ। इससे भी अधिक महत्व का काम यह है कि जब विजयदुर्ग का किला लिया था उस समय आप के लडके हमारे कैदी हुए थे। हमारी शरण म आने के कारण ही हमने उन्हे रख छोडा है। नहीं तो कैदी बनाकर रखने मे निरर्थक खर्च करने को कौन तैयार होगा। तुम यह बात ध्यान म रखना कि यद्यपि यह बात हमारे ध्यान मे है कि मराठो का प्रभाव दिन पर दिन बढता जाता है और वह बहुत अनिष्टकारक है तथा मद्रास और बङ्गाल के हमारे अधिकारियो के मन मे भी यही बात चुभ रही है तथापि निजामअली और हैदरअली के परस्पर मैत्री हो जाने के कारण हमे मराठों से स्नेह रखना ही आवश्यक है। मराठे यदि चाहें तो हम उन्हे वेदनूर और सोना दे सकेंगे, परन्तु उसके बदले मे उन्हें बसई और साष्टी देनी होगी और सूरत पर से भी अधिकार उठाना होगा और जहाँ हम चाहें वहाँ हम कोठी स्थापित करने की आज्ञा देनी होगी तथा कर्नाटक म मिर्च और चन्दन के व्यापार का कुल ठेका भी हम ही देना होगा। हमारा मुख्य हेतु साष्टी लेने का है। मराठो से स्नेह कर उनकी सत्ता बढने देना हमारे लिए अनिष्टकारक है परन्तु अभी इसके सिवा दूसरी गति नहीं है।

"माधवराव और रघुनाथराव में परस्पर झगड़ा होने के कारण माधवराव पेशवा का मन यदि अधिक व्यग्र हो, तो फिर हम पेशवा की अधिक खुशामद करने की जरूरत नहीं है। तुम दरबार का रङ्ग-ढङ्ग देखकर यह पूछना कि यदि पेशवा हमसे मिलना चाहते हैं तो मद्रास की ओर काम पड़ने पर हमें कितनी सेना दे सकेंगे? इस प्रश्न के उत्तर से तुम वहाँ की वास्तविक स्थिति की परीक्षा कर सकोगे। माधवराव और रघुनाथराव के पास नजराना और मन्त्री के पत्र लेकर यहाँ से भिन्न-भिन्न मनुष्य भेजे गए थे। उनसे विदित हुआ है कि पेशवा को, विशेषतया रघुनाथराव को, हमारी (अङ्गरेजों की) सहायता की आवश्यकता है। हमारे विचार से काका भतीजे—रघुनाथराव माधवराव—का ऊपर से जो मेल-मिलाप दीखता है वह वास्तविक नहीं है। यदि तुम हमें इस बात का विश्वास करा दोगे कि हमारा यह विचार ठीक है, तो हमें बहुत प्रसन्नता होगी। इन दोनों काका भतीजों के झगड़े के सिवा और कोई ऐसी बड़ी गृह-कलह हो जिसके कारण इनके राज्य-पतन की सम्भावना हो, तो उसकी सूचना हमें अवश्य देना। यदि निजाम या हैदरअली के वकीलों ने आकर पेशवा को प्रसन्न कर लिया हो, तो जिस तरह बने उस तरह पेशवा के मन में यह बात भर देना कि इनका परिणाम बहुत बुरा होगा। तुम्हारे साथ जो नजराना भेजा जाता है उसमें से राघोबा का नजराना तुम्हारे सहकारी चालस ब्रोम की मार्फत नासिक भेज देना और पेशवा या राघोबा की ओर से ही बातचीत चले, इस बात के प्रयत्न में सदा रहना।"

मास्टिन साहब ता० १६ नवम्बर, १७६७ को बम्बई से चले। पनवेल की खाड़ी में आते ही उनके साथ पेशवा के अतिथि के समान व्यवहार किया जाने लगा। बेलापुर के किले के पास उन्हें तोपों की सलामी दी गई और उनके सम्मानार्थ दुन्दुभी भी बजाई। पनवेल में दाजीपंत ने उनकी सब व्यवस्था की और आगे बेगारियों की सहायता से वे पूना पहुँचाये गये। मास्टिन साहब के पास सामान बहुत था। पचास बेगारी उनका सामान ले जाने में लगे। ता० २६ को वे गणेशखिंड पहुँचे। वहाँ माधवराव पेशवा की ओर से रामाजी पन्त चिटनवीस आकर उनसे मिले और शहर में गोविन्द शिवराम पन्त के बगीचे में वे ठहराये गये। वहाँ वे पेशवा से भेंट होने की तीव्र प्रतीक्षा करने लगे, परन्तु ता० ३ दिसम्बर से पहले यह भेंट न हो सकी। ३ दिसम्बर को शनिवार वाड़े के दीवानखाने में वे मिले। इस समय केवल कुशल प्रश्न होकर अंग्रेजों के वकील मास्टिन साहब ने पेशवा को निम्नलिखित वस्तुयें भेंट कीं—

१ घोड़ा, १ घड़ी, १ सोने का इत्रदान, १ इत्र की कुप्पा, २ शाल, १ कीनखाब की फर्द, १ शिकारी बन्दूक, १ जोड़ी पिस्तौल, १ पोशाक, ४ थान हरी मखमल, ६ थान गुलाबी मखमल, २ घुड़सवार के चाबुक, ८ गुलाब के इत्र की कुप्पियाँ, ४ थान जरी का कपड़ा। इसके सिवा नारायणराव पेशवा को एक सोने की साँकल, १ पोशाक, २ चाँदी की गाय, २ शाल, २ कीनखाब के थान और १ चाबुक भेंट में दिया।

अगरेज वकील से शुभ मुहूर्त मे मिलने के विचार से ही पहली भेट मे इतना विलम्ब हुआ, परन्तु आगे से ऐसा न होने देने के लिए वकील को गोविन्द शिवराम और रामाजी पन्त के द्वारा बहुत कुछ प्रयत्न करने पडे, तो भी आज विहार है, कल राजवाडे मे ब्राह्मण भोजन है, आदि अनेक कारणो से फिर ४, ५ दिनो तक पेशवा मास्टिन से न मिल सके। ता० २६ को मास्टिन साहब ने बम्बई के गवनर को यहाँ की कच्ची स्थिति के सम्बन्ध मे एक पत्र इस प्रकार लिखा —

"गोपिकाबाई के उसकाने से समक्ष मे मिलकर राघोबा को कैद करने का माधवराव का विचार था परन्तु सखाराम बापू की मध्यस्थता से दोनो के बीच अभी सधि हो गई है जिसके अनुसार पेशवा रघुनाथराव को नासिकत्र्यबक के आसपास का १६ लाख का प्रान्त और कुछ किले देंगे। रघुनाथराव की फौज का वेतन २५ लाख रुपये के लगभग बढ गया है जिसके जाकिनदार पेशवा। इसके बदले मे राघोबा ने स्वीकर कर लिया है कि हम कारबार में किसी प्रकार की उथल पुथल न करेंगे। इस सधि के स्थायी होने की आशा किसी को भी नही है, पर हाल मे तो यह झगडा मिट सा गया है। जाटो ने महादजी सिंधिया का पराभव किया है इसलिए यहा से तुकोजी राव होलकर नारोमकर शिवाजी विट्ठल विंचुरकर सिंधिया को सहायता देने उत्तरी हिन्दुस्थान जाने वाले हैं। इसके सिवा कर्नाटक की चढाई का हाल पत्र मे लिखा ही है तथा माधवराव पेशवा ज जीरा लेने की इच्छा से स्वत कोकन जाने वाले हैं। यहाँ यह जनश्रुति फैल है कि व्यकटराव मामा काशी, प्रयाग की यात्रा करते समय वहा के अगरेजो से मिले और उन्होने यह निश्चय किया कि अगरेज, मराठे और सुजाउद्दौला मिलकर जाट और रुहेलो को पराभव करें। पूना मे यह जनश्रुति भी है कि राजापुर मे अगरेजो की सेना पराजित हुई है। एक सेनानायक तथा सौ डेढ सौ सैनिक मारे गये है।'

ता० [illegible] को मास्टिन साहब नाना फडनवीस से मिले और पेशवा से पुन मिला देने की उनसे प्रार्थना की परन्तु आज पेशवा थेऊर मे देव दर्शनार्थ जाने वाले हैं, कल तुकोजी होलकर उत्तरी हिन्दुस्थान को रवाना होगे और परसो गोविन्द शिवराम के घर विवाहोत्सव मे सम्मिलित होंगे आदि बहाने किये गये और इस तरह ३, ४ दिन पेशवा से मास्टिन साहब की भेट न हो सकी। ता० ११ को मुलाकात हुई। इस समय सखाराम बापू मोरोबा फडनवीस आदि लोग उपस्थित थे। इस बैठक मे मुख्य कार्य के सम्बन्ध मे बातचीत चली। पहले ही पेशवा की ओर से मास्टिन साहब से पूछा गया कि एक प्रान्त के अगरेज अधिकारियो द्वारा की हुई सधि की शर्तें दूसरे प्रान्त के अगरेज अधिकारी मानते है या नही ?

मास्टिन साहब ने उत्तर दिया— प्रत्येक प्रान्त के अधिकारी भिन्न भिन्न हैं, परन्तु कम्पनी के हित की बात होने पर वे एक दूसरे की बात सुनते हैं। अन्त मे यह

ठहरा कि जब तक कर्नाटक से मराठे सरदार न लौट आवे तब तक कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। दूसरे दिन मास्टिन साहब गोविन्द शिवराम से मिले और उन्हें समझाया कि "निजाम अथवा हैदरअली से मिलने में पेशवा को लाभ नहीं है, किन्तु हमारे साथ मेल रखने में ही लाभ है, क्योंकि अंगरेज वचन के पक्के होते हैं।" सखाराम बापू का दरबार में बड़ा मान था और वह एक प्रसिद्ध मन्त्री माना जाता था, अत मास्टिन साहब ने इनसे मिलने का प्रयत्न किया, परन्तु भेंट न हो सकी। इतने ही में कलकत्ता से पत्र आने पर बंबई वालो ने मास्टिन साहब को आज्ञा दी कि "कर्नाटक के सम्बन्ध में यदि पेशवा किसी का पक्ष लेकर तटस्थ रहे तो उसमें हमारा लाभ नहीं, अत तुम उन्हें तटस्थ रखने का प्रयत्न करो और उन्हें भय दिखाओ कि यदि पेशवा हमसे मेल न रखकर हैदरअली या निजाम से जाकर मिलेंगे तो हम बरार प्रान्त में भोसलों से मिल जावेंगे, क्योंकि भोसले हमसे मेल करने को उद्यत हैं"। ता० १६ दिसम्बर को मास्टिन साहबने अपने सहयोगी चार्ल्सब्रोम को रघुनाथराव के पास नासिक भेजा और समझा दिया कि राघोबा और पेशवा का प्रेम वास्तविक नहीं है, इसलिए तुम राघोबा से कहो कि हम तुम्हारी सहायता करेंगे और ऐसा कहकर यह प्रयत्न करो कि उनके द्वारा ही इस सम्बन्ध में बातचीत प्रारम्भ हो। इसी दिन सखाराम बापू की मध्यस्थता में पेशवा और मास्टिन साहब की मुलाकात हुई। पेशवा ने मास्टिन की यह प्रार्थना स्वीकार की कि 'चौल बन्दर में अंगरेजों के जहाज जो पकड़ रखे हैं वे छोड़ दिये जायं।" परन्तु स्पष्टतया बातचीत नहीं हो सकी। मास्टिन साहब ने उस समय यह अनुमान बाधा कि पेशवा के मन का गुप्त आशय यह है कि हैदरअली और हबशियों के विरुद्ध अंगरेज पेशवा को सहायता दें, लेकिन निश्चित कुछ भी न हो सका। दोनों ओर से मन साफ नहीं थे और दोनों ही यह चाहते थे कि प्रति-पक्षी पहले बोले। ता० ३० को मराठों के द्वारा पकड़े हुए जहाज छोड़ने की माधव राव ने आज्ञा दी। ता० १ जनवरी के दिन राघोबा का वकील, गोपालपन्त चन्द्रदेव मास्टिन साहब से मिलने गया और उनसे कहा कि राघोबा को सन्धि की शर्तें बिलकुल मान्य नहीं हैं। माधवराव की ओर से जरा भी गलती हुई कि वह सन्धि को एक ओर रखकर केवल छः माह में सब उथल-पुथल करके रख देगा। इसी समय निजामअली और हैदरअली के वकील पूना आये। मास्टिन साहब इसकी प्रतीक्षा कर रहे थे कि स्वयं पेशवा कोई बात छेड़े, परन्तु जब कोई बात नहीं छिड़ी तब मास्टिन साहब ने घबड़ाकर बम्बई कौंसिल से पूछा कि 'क्या मैं स्वयं बातचीत चलाऊं।" ता० ४ को उत्तरी हिन्दुस्तान से महादजी सिंधिया पूना आये और इनकी तथा माधवराव पेशवा की भेंट संगम पर हुई। ता० ५ को माधवराव पेशवा ने मास्टिन साहब को राज भवन में बुलाकर भोजन कराया। भोजन के पहले यूरोप और हिन्दुस्तान के सबंध में दोनों में बहुत से प्रश्नोत्तर हुए। ता० १० को बम्बई से मास्टिन साहब को लाचार होकर आज्ञा मिली कि "तुम स्वतः बातचीत चलाओ, परन्तु मराठों से बातचीत करते समय

जिस सावधानी की आवश्यकता है उसे मत छोड़ना ।

इधर ब्रोम साहब रघुनाथराव के पास भेजे गये थे । व रघुनाथराव से इन्द्रगढ़ में जाकर मिले । रघुनाथराव ने अंगरेजों की सहायता मिलने के लिए आनन्द प्रकट किया और कहा कि "नानासाहब पेशवा की मृत्यु के पश्चात मैंने माधवराव को अपने पुत्र के समान रखा, परन्तु माधवराव कृतघ्न है । वह मेरा अपमान करने लगा, मेरे स्नेही सरदारों को मेरे विरुद्ध खड़ा करने लगा और अन्त में उसने मुझे कैद करने का भी निश्चय किया है, अतः अब अंगरेजों की सहायता लेने के सिवा मुझे कोई अन्य मार्ग ही नहीं है ।" रघुनाथराव अंगरेजों से गोला-बारूद की सहायता चाहते थे । यद्यपि उनके पास भी सौ सवा सौ तोपें थीं और आनन्दवल्ली में उनका एक छोटा-सा तोपखाना भी था, तथापि उनका अन्य सामान दुरुस्त नहीं था, अतः वे यह जानते थे कि अङ्गरेजों की सहायता के बिना हमारा निर्वाह होना कठिन है । माधवराव से क्षणिक-सन्धि हो जाने के कारण रघुनाथराव ने अपनी सेना बहुत कम कर दी, केवल दो हजार सवार ही रह गए थे, परन्तु उन्हें विश्वास था कि चढ़ाई के समय आवश्यकतानुसार सेना बढ़ाई जा सकती है । ब्रोम साहब से इस सम्बन्ध में थोड़ी बहुत बातचीत भी हुई जिसमें उन्होंने यह दिखला दिया कि बम्बई के अङ्गरेज सहायता के बदले में कुछ नगद के सिवा कुछ अधिकार प्राप्त करने की भी इच्छा रखते हैं, परन्तु उस समय दोनों पक्षों के साथ युद्ध में थे, अतएव बातचीत करने की तैयारी भी नहीं थी जिससे कुछ निश्चित न हो सका और ब्रोम साहब लौट आये ।

ता० २७ जनवरी १७६८ को मास्टिन साहब और माधवराव पेशवा की मुलाकात फिर हुई । इस समय सन्धि की १४ शर्तों का कच्चा मसविदा बनाया गया । साथ ही यह एक प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि जिस तरह सन् १७६१ की सन्धि के विरुद्ध अङ्गरेजों ने आंग्रे के पुत्रों को, अनुचित होने पर भी अपने सरंक्षण में ले लिया था तो इसका विश्वास कैसे किया जाय कि वह रघुनाथराव के सम्बन्ध में भी ऐसा न होगा ? इसी समय बम्बई के अङ्गरेजों को यह विदित हो गया कि निजाम या हैदरअली से पेशवा की मैत्री होना सम्भव नहीं है, अतः उन्होंने भी अपनी ओर से सन्धि के लिए शीघ्रता करना आवश्यक नहीं समझा और यही बात मास्टिन साहब को लिख भेजी । ता० १८ फरवरी को माधवराव पेशवा ने पूछा कि बम्बई में जो अङ्गरेजों का बेड़ा तैयार हो रहा है वह कहाँ जायगा । यह बेड़ा दक्षिण के किनारे की ओर हैदरअली पर चढ़ाई करने को भेजा जाने वाला था, परन्तु मास्टिन साहब ने कुछ का कुछ उत्तर दिया, और कहा कि वह मलबार और रायरी की ओर जाने वाला है । परन्तु जब पेशवा को वास्तविक समाचार ज्ञात हुए तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने मास्टिन से कहा कि मन हो तुम चाहो तो हैदरअली पर चढ़ाई करो, पर अङ्गरेज कन्नूर और सौंन के किले न लेवें, क्योंकि वे हमारे सरंक्षण में हैं । इस पर मास्टिन ने कहा कि 'किला और भूमि लिए

बिना हैदरअली परास्त नहीं हो सकेगा, अतः पेशवा और अङ्गरेज मिल कर ही यदि हैदर अली को नीचा दिखावे, तो बहुत उचित हो और इसके लिए आप अपना वकील बम्बई भेजे।' पेशवा ने मास्टिन की यह बात स्वीकार की और एक घोड़ा तथा एक सिरोपाव देकर मास्टिन साहब को विदा किया। उस समय अङ्गरेजों की ओर से भी एक चीता और एक सिहनी माधवराव की भेंट की गई। मास्टिन और पेशवा के बीच में कई शर्तें समक्ष में ही ठहर गई थी, उनके अनुसार पेशवा ने आज्ञा दे दी और वह आज्ञा पत्र मास्टिन साहब को मिल गया। वे शर्तें इस प्रकार थीं —

(१) तीन वर्ष पहले अंगरेज व्यापारियों का मराठों के द्वारा जो नुकसान हुआ उसके ३०६१५।।।) दिये जायँ।

(२) बम्बई के नसखानजी मोदी का तनेला जो मराठों ने ले लिया है वह लौटा दिया जाय।

(३) सात वर्ष पहले बहरामजी हुरमसजी की दो सौ खण्डी नामक की ढेरी जो मराठों ने बलात् ले ली थी उसके बदले में दूसरी ढेरी दी जाय।

(४) रिचर्ड नावलैण्ड नामक अङ्गरेज के जो गुलाम साष्टी को भाग गये थे वे थानेदार से फिर दिलवाये जाय।

(५) इसी अङ्गरेज के और दो गुलाम चौल में भी भाग गये थे। वे भी दिलवाये जायँ।

(६) बम्बई बन्दर की हद्द में कोली लोगों ने मछलियाँ मारने के लिए जाल बिछा रखे हैं उन्हे निकालने के लिये करञ्जा के थानेदार को आज्ञा दी जाय।

माधवराव के समय में मराठों के कारबार में हस्तक्षेप करने का मौका अङ्गरेज लोगों को नहीं मिला। उन्होंने रघुनाथराव का भी ऐसा प्रबन्ध कर दिया था जिससे वे हजार पाँच सौ मनुष्यों से अधिक पास में न रख सकें और गोदावरी के तीर पर स्नान-सन्ध्या करते हुए पड़े रहें। यद्यपि उस समय अङ्गरेज लोग रघुनाथराव से मिल कर भीतर ही भीतर षड्यन्त्र की तैयारी कर रहे थे, पर माधवराव के दबदबे के कारण प्रगट रीति से रघुनाथराव की सहायता करने और उन्हें लाने का साहस अङ्गरेजों को नहीं होता था। साथ ही, वे यह भी जानते थे कि कर्नाटक प्रान्त के झगड़े के कारण माधवराव से शत्रुता कर लेना उचित नहीं है, इसलिये भीतर ही भीतर सुलगने वाले इस षड्यन्त्र को प्रगट रीति से कोई रूप प्राप्त न हो सका। परन्तु, माधवराव की मृत्यु के पश्चात् पेशवाई के दिन फिरे। कर्नाटक के षड्यन्त्र ढीले पड़ गये। बम्बई के अङ्गरेज अपने वकील की दृष्टि से पूना दरबार की सर्वस्थिति बहुत सूक्ष्म रीति से देख रहे थे। यद्यपि नाना फड़नवीस का प्रभाव पूना दरबार में अधिक था और वे अङ्गरेजों को अच्छी तरह पहिचानते भी थे, परन्तु उनको और उनके अन्य सहायक सरदारों को रघुनाथराव के द्वेष और घृणा के कारण दृष्टिदोष हो रहा था, अतः उनको अङ्गरेजों के इस निरी-

[illegible]

रघुनाथराव का झगड़ा [illegible] मध्यस्थ हुए थे, परन्तु जब [illegible] का कुछ परिणाम नहीं हुआ तब रघुनाथ राव पेशवा [illegible] की चिन्ता में गए। [illegible] दूर थे और [illegible] गुजरात में थे, इसलिए उनका विचार [illegible] हुआ। उधर बड़ोदा में गायकवाड़ के उत्तराधिकारियों में भी झगड़ा हो रहा था, फतेह सिंहराव गायकवाड़ ने पूना के कारबारियों का आश्रय ले रखा था और गोविन्द गायकवाड़

वाड पहले से ही रघुनाथराव के पक्ष में थे, इसलिए गुजरात में रघुनाथराव को अङ्गरेजों के सिवा गोविन्दराव की भी सहायता मिलने की आशा थी। इन्हीं आशाओं से प्रेरित होकर रघुनाथराव ने गुजरात की ओर अपना मोर्चा किया।

पहले रघुनाथराव, गोविन्दराव गायकवाड और मानाजी फड़के ने मिलकर हरिपन्त फड़के से युद्ध किया। सिंधिया और होलकर के बीच में पड़ने से यह युद्ध कुछ दिनों तक रुका, परन्तु जब आपस में संधि नहीं हो सकी तब माही नदी के किनारे पर युद्ध हुआ और उस युद्ध में रघुनाथराव की पूरी हार हुई। इनके सब हाथी और तोपें हरिपन्त को मिलीं। रघुनाथराव थोड़ी सी सेना के साथ खम्भात की ओर भाग गये। रास्ते में समाचार मिला कि पटवर्धन पीछा करता आ रहा है तब रघुनाथराव ने खम्भात के किले में आश्रय लेना चाहा, परन्तु खम्भात नवाब ने उनकी यह प्रार्थना स्वीकार नहीं की। अन्त में, लाचार होकर रघुनाथराव ने नवाब से यह प्रार्थना की कि "हम अङ्गरेजों के पास सूरत पहुँचा दो।" नवाब ने यह प्रार्थना स्वीकार की और उन्हें भावनगर को रवाना कर दिया। भावनगर के बन्दर में नवाब के जहाज थे। उनके द्वारा ७०० साथी तथा अन्य सामान सहित रघुनाथराव सकुशल सूरत पहुँच गये। माही नदी के युद्ध में, पराजित हो जाने पर भी रघुनाथराव के पास १०० घोड़े और ७ हाथी बच गये थे परन्तु जब इन जानवरों को किसी ने भी रखना स्वीकार न किया तब वे वहाँ ही छोड़ दिये गये।

इस घटना के कुछ दिनों पहले दादा साहब रघुनाथराव मालवा की ओर भाग गये थे। वहाँ से सिंधिया और होलकर की मध्यस्थता में वापिस लौटे और जब ताप्ती नदी के पास पहुँचे तब उन्होंने सूरत के अङ्गरेज द्वारा बम्बई के अङ्गरेजों से बातचीत शुरू की। अङ्गरेजों ने कहा कि "युद्ध प्रारम्भ करने के लिए पहले १५ से २० लाख रुपये नकद देने होंगे और जब पूना के बारह भाई का विद्रोह नष्ट हो जाय तब हमें साष्टी और बसई ये दो स्थान देने होंगे। युद्ध के लिए हम तोपों के सहित ढाई हजार पैदल सेना से तुम्हारी सहायता करेंगे।" परन्तु दादा साहब रघुनाथराव ने यह बात स्वीकार नहीं की, क्योंकि उस समय उसके पास पन्द्रह लाख रुपये नकद नहीं थे, दूसरे उनमें इतना स्वाभिमान इस दशा में भी शेष बचा हुआ था, जिससे वे साष्टी और बसई देना अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझते थे, इसलिए उन्होंने अङ्गरेजों से कहला भेजा कि "आज हमारे पास न तो १५ लाख रुपये नकद ही है और न हम बसई और साष्टी ही देना चाहते हैं। यदि तुम १००० गोरे और २००० देशी सैनिकों और १५ तोपों से हमारी सहायता करो, तो हम गुजरात में तुम्हें ११ लाख रुपये की आमदनी का प्रान्त दे सकते हैं। बम्बई के अङ्गरेजों को यह शर्त भी बहुत कुछ पसन्द थी, परन्तु वे चाहते थे कि यदि साष्टी न मिले तो न सही, गुजरात ही में साढ़े अठारह लाख की आमदनी का प्रान्त तो भी हमें दिया जाय।

[illegible]

... भी थे, परन्तु [illegible] समाचार सुन कर और इस भय से कि कहीं अंग्रेज [illegible] दोनों सरदार पुरंदर को पर भी आक्रमण न करें तथा घाट की ओर भी सेना न भेजें, दोनों [illegible] लौट आये।

इसके पश्चात् कुछ दिनों तक सिंधिया और होलकर के बीच-बचाव के कारण रघुनाथराव हरिपंत से संधि की बात का ढकोसला दिखलाते रहे, परन्तु अंत में जब उसका कुछ परिणाम न हुआ तब ६ मार्च सन् १७७५ के दिन अंग्रेजों से राघोबा (रघुनाथराव) की संधि हो गई। उसके अनुसार अंग्रेजों ने रघुनाथराव को पहले ५०० गोरे और १००० देशी सिपाही और आवश्यकता पड़ने पर सात व आठ सौ गोरे व

१७०० देशी सिपाही तथा अन्य मजदूर आदि सब मिलाकर ३००० सेना से सहायता देने का बचन दिया और रघुनाथराव ने इसके बदले म २५ सौ लाख का डेढ लाख रुपये के लगभग सैनिक खच देने और खच के लिए आमोद, हनसोद, व्हासा और अकलेश्वर ये चार तालुका की आमदनी लगा देने का करार किया। साथ ही उन्हे यह भी करार करना पडा कि जब रघुनाथराव गद्दी पर बैठे तब वसई और उसके नीचे का सवा उन्नीस लाख रुपया की आमदनी का प्रान्त तथा साष्टी और उनके समीपस्थ जम्बूसर, ओलपाड आदि बन्दर अगरेजों को सदा के लिए दे, अभी नकद रुपये पास न होने के कारण लाख के जवाहिरात अगरेजो के पास गिरवी रक्खे, बगाल प्रान्त तथा अर्काट नवाब के राज्य पर मराठे आक्रमण न करें और अङ्गरेजो के जहाज तथा कम्पनी सरकार के निशान धारण किये हुए अन्य जहाज यदि टूट जाने के कारण अथवा अन्य कारणो से मराठो की सीमा मे आ जावें, तो वे जिसके हो उन्हे लौटा दिये जाय। ये शर्तें अङ्गरेजो से निश्चित हो जाने पर, हरिपन्त से रघुनाथराव की जो बातचीत चल रही थी वह बन्द हो गई और फिर से युद्ध प्रारम्भ हुआ, परन्तु जब हरिपन्त के सम्मुख रघुनाथराव न टिक सके तब वे सूरत भाग गए।

सूरत म रघुनाथराव के सहायतार्थ पन्द्रह सौ सेना तो तैयार थी और मद्रास की ओर से और भी आने वाली थी। रघुनाथराव से सन्धि होने क पहले ही अङ्गरेजो ने अपनी ओर से मराठो से युद्ध छेड दिया था और यह सब बम्बई के ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियो की करामत थी। कलकत्ते के अङ्गरेजो को यह बात पसन्द नही थी। उन्होने इसके पहले युद्ध म मराठो से मैत्री तोडने के सम्बन्ध म बहुत अप्रसन्नता प्रगट की, परन्तु युद्ध प्रारम्भ हो गया था ऐसे समय मे कम्पनी सरकार की इज्जत के विरुद्ध ऐसा कोई काम न कर सके जिससे उन्हें असफलता मिला। उसका यह व्यवहार मनुष्य-स्वभाव और राजनीति के अनुकूल भी था, परन्तु कम्पनी सरकार की इज्जत रखते हुए युद्ध को बन्द करने के प्रत्येक प्रसग का उन्होंने उपयोग किया। अन्त में बुरी भली कैसी भी क्यो न हो, सालबाई म मराठे और अगरेजो की सन्धि हुई और युद्ध समाप्त हुआ, मराठो से फिर मैत्री हो जाने के कारण कलकत्ते के अगरेजों ने हृदय से आनन्द प्रगट किया और बम्बई के अधिकारियो को यह स्पष्ट रीति से लिख दिया कि "यह सन्धि इग्लैंड के राजा और ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की आज्ञा से हुई है, इसलिए यदि तुम इस सन्धि को किसी भी कारण से तोडोगे, तो हम अपने उच्च अधिकारो का व्यवहार करेंगे।" परन्तु बम्बई ने अगरेजो ने कलह का जो बीजारोपण कर दिया था उसका अकुर पूर्णतया कभी नष्ट नही हो सका। इतना ही नही, २०, २५ वर्ष बाद कलकत्ते के अगरेजो ने ही बम्बई वालो का अनुकरण किया और फिर उन्होने युद्ध का जो झडा हाथ मे उठाया उसे जब तक महाराष्ट्र सत्ता की इमारत भस्म होकर धराशायी नही हो गई, जब तक नीचे

इस बीच में यह समाचार उड़ने लगा कि पोर्तुगीज साष्टी लेने का प्रयत्न करने वाले हैं। पर बातचीत कहीं की कहीं न गई। इसके पूर्व साष्टी के सिलसिले में अङ्ग्रेजों ने निरन्तर प्रयत्न किया था जो बातचीत चलती थी और वे लगातार टालमटोल करते रहते थे। अङ्ग्रेज व्यापार कम्पनी साष्टी लेने को तैयार थे और अब ... थे। लगभग २० हजार के सैन्य दल भी आता परन्तु पूना दरबार की व्यवस्था के कारण इसकी प्राप्ति में भी विलम्ब हो जाने की आशा अङ्ग्रेजों को था। अतः बिना देर किये अब [?] विचार अङ्ग्रेजों ने छोड़ दिया। पोर्तुगीजों के आक्रमण करने का भी समाचार उन्हें मिल गया था। इधर यही समाचार पूना भी पहुँचा। तब वहाँ से सिपाहियों की सहायता के लिये और थाने की रक्षा भेजने का निश्चय हुआ। दुर्ग के सिपाहियों को भी निरन्तर सतर्क किया गया। पर अवसर न मिल सका। अन्त में ता० ६ दिसम्बर सन् १७७४ के दिन अङ्ग्रेजों ने साष्टी लेने का विचार किया और ६२० गोरे सैनिक तोपखाना २००० गोलन्दाज, १००० काले सैनिक कर्नल राबर्ट गार्डन की अध्यक्षता में किले पर आक्रमण करने को भेजे और यह ठहराया गया कि कर्नल गार्डन स्थलमार्ग से और कप्तान वाटसन जलमार्ग से थाना पर आक्रमण करें। ता० २० दिसम्बर को किले की दीवालों पर गोलों की वर्षा होने लगी। ८ दिन में दीवालों में छेद हो गये। खाई को पूर कर किले में प्रवेश करने के काम में अंगरेजों को बहुत कष्ट उठाना पड़ा। २७ दिसम्बर का आक्रमण मराठों ने निष्फल कर दिया। उस दिन अंगरेजों के १०० सिपाही मारे गये परन्तु दूसरे दिन आक्रमण कर अंगरेजों ने किला ले लिया और उसके भीतर बल से सिपाहियों का वध किया। इसी समय में वर्सोवा, उरण आदि थाने भर का भी अंगरेजों ने प्रयत्न किया और दिसम्बर के अन्त तक थाना का किला और उसके आस-पास के सब थाने मिलकर साष्टी बन्दर अंगरेजों के अधिकार में आ गया और यह एक बड़ा विकट प्रश्न मराठों के सम्मुख आ खड़ा हुआ। ता० ३ जनवरी सन् १७७५ को रघुनाथ राव दादा दस हजार सवार और चार सौ पैदल सेना के साथ बड़ौदा की ओर रवाना हुए। इनके पीछे-पीछे पेशवा के मुख्य सेनापति हरिपन्त पड़के थे। हरिपन्त के साथ सिंधिया तथा होलकर से बातचीत करने के लिए नाना फड़नवीस और सखाराम बापू भी थे, परन्तु साष्टी-पतन के समाचार सुन कर और इस भय से कि कहीं अंगरेज बसाई पर भी आक्रमण न करें तथा घाट की ओर भी सेना न भेजें, दोनों कारबारी पुरंदर को लौट आये।

इसके पश्चात् कुछ दिनों तक सिंधिया और होलकर के बीचबचाव के कारण रघुनाथराव हरिपन्त से सन्धि की बात का ढकोसला दिखलाते रहे, परन्तु अन्त में जब उसका कुछ परिणाम न हुआ तब ६ माघ सन् १७७५ के दिन अंगरेजों से राघोवा (रघुनाथराव) की सन्धि हो गई। उसके अनुसार अंगरेजों ने रघुनाथराव को पहले ५०० गोरे और १००० देशी सिपाही और आवश्यकता पड़ने पर सात व आठ सौ गोरे व

१७०० देशी सिपाही तथा अन्य मजदूर आदि सब मिलाकर ३००० सेना से सहायता देने का वचन दिया और रघुनाथराव ने इसके बदले मे २५ सौ लाखो का डेढ लाख रुपये के लगभग सैनिक खर्च देने और खर्च के लिए आमोद, हांसोद, व्हासा और अकलेश्वर ये चार ताल्लुका की आमदनी लगा देने का करार किया। साथ ही उन्हें यह भी करार करना पड़ा कि जब रघुनाथराव गद्दी पर बैठे तब वसई और उसके नीचे का सवा उन्नीस लाख रुपया की आमदनी का प्रान्त तथा साष्टी और उनके समीपस्थ जम्बूसर, ओलपाड आदि बन्दर अंगरेजो को सदा के लिए दें, अभी नकद रुपये पास न होने के कारण ■ लाख के जवाहिरात अंगरेजो के पास गिरवी रक्खें, बंगाल प्रान्त तथा अर्काट के नवाब के राज्य पर मराठे आक्रमण न करें और अङ्गरेजों के जहाज तथा कम्पनी सरकार के निशान धारण किये हुए अन्य जहाज यदि टूट जाने के कारण अथवा अन्य कारणो से मराठो की सीमा मे आ जावे, तो वे जिसके हो उन्हें लौटा दिये जायँ। ये शर्तें अङ्गरेजो से निश्चित हो जाने पर, हरिपन्त से रघुनाथराव की जो बातचीत चल रही थी वह बन्द हो गई, और फिर से युद्ध प्रारम्भ हुआ परन्तु जब हरिपन्त के सम्मुख रघुनाथराव न टिक सके तब वे सूरत भाग गए।

सूरत मे रघुनाथराव के सहायतार्थ पन्द्रह सौ सेना तो तैयार थी और मद्रास की ओर से और भी आने वाली थी। रघुनाथराव से सन्धि होने के पहले ही अङ्गरेजो ने अपनी ओर से मराठो से युद्ध छेड़ दिया था और यह सब बम्बई के ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियो की करामत थी। कलकत्ते के अङ्गरेजो को यह बात पसन्द नही थी। उन्होंने इसके पहले युद्ध मे मराठो से मैत्री तोडने के सम्बन्ध मे बहुत अप्रसन्नता प्रगट की, परन्तु युद्ध प्रारम्भ हो गया था ऐसे समय मे कम्पनी सरकार की इज्जत के विरुद्ध ऐसा कोई काम न कर सके जिससे उन्हें असफलता मिले। उसका यह व्यवहार मनुष्य-स्वभाव और राजनीति के अनुकूल भी था, परन्तु कम्पनी सरकार की इज्जत रखते हुए युद्ध को बन्द करने के प्रत्येक प्रसंग का उन्होंने उपयोग किया। अन्त में बुरी भली कैसी भी क्यो न हो, भालबाई मे मराठे और अंगरेजों की सन्धि हुई और युद्ध समाप्त हुआ, मराठो से फिर मैत्री हो जाने के कारण कलकत्ते के अंगरेजों ने हृदय से आनन्द प्रगट किया और बम्बई के अधिकारियो को यह स्पष्ट रीति से लिख दिया कि "यह सन्धि इग्लैंड के राजा और ब्रिटिश पार्लियामेन्ट की आज्ञा से हुई है, इसलिए यदि तुम इस सन्धि को किसी भी कारण से तोडोगे, तो हम अपने उच्च अधिकारो का व्यवहार करेंगे।" परन्तु बम्बई के अंगरेजो ने कलह का जो बीजारोपण कर दिया था उसका अंकुर पूर्णतया कभी नष्ट नही हो सका। इतना ही नही, २०, २५ वर्ष बाद कलकत्ते के अंगरेजों ने ही बम्बई वालो का अनुकरण किया और फिर उन्होंने युद्ध का जो झंडा हाथ मे उठाया उसे जब तक महाराष्ट्र सत्ता की इमारत भस्म होकर धराशायी नही हो गई, जब तक नीचे

इस बीच में यह समाचार उड़ने पर कि पोर्तुगीज़ साष्टी लेने का प्रयत्न करने वाले हैं, इस बम्बईवालों की नींद हराम हो गई। इसके पहले ही दिसम्बर में अङ्गरेजों ने दिल्ली ठिकाना लेने की बम्बईवाली सरकार की ओर से आज्ञा माँग रखी थी। अङ्गरेज सरदार टाकी १ हज़ार दो का तैयार थे और अब १ लाख २० हज़ार गोरा ... भी आशा परन्तु पूना दरबार की व्यवस्था के कारण दूसरा तरफ से भी किला मिल जाने की आशा अङ्गरेजों को था अतः किला दबाकर किला लेने का विचार अङ्गरेजों ने छोड़ दिया। पोर्तुगीज़ों के आक्रमण करने का भी समाचार उन्हें मिल गया था। इधर यही समाचार पूना भी पहुँचा। तब वहाँ से किलेदार की सहायता के लिए और फौज भी रवाना करने का निश्चय हुआ। इसी से किलेदार को भी निश्चय खबर दिया का अवसर न मिल सका। अन्त में ता० ६ दिसम्बर सन् १७७४ के दिन अङ्गरेजों ने साष्टी लेने का विचार किया और ६२० गोरे सैनिक, तोपखाना २००० गोलन्दाज़, १००० का सैनिक जनरल राबर्ट गार्डन की अध्यक्षता में किले पर आक्रमण करने को भेजे और यह ठहराया गया कि जनरल गार्डन स्थलभूमि से और कप्तान वाटसन जलमार्ग से थाना पर आक्रमण करें। ता० २० दिसम्बर को किले की दीवालों पर गोलों की वर्षा होने लगी। ८ दिन में दीवालों में छेद हो गये। खाई को पूर कर किले में प्रवेश करने के काम में अंगरेजों को बहुत कष्ट उठाना पड़ा। २७ दिसम्बर का आक्रमण मराठों ने निष्फल कर दिया। उस दिन अंगरेजों के १०० सिपाही मारे गये परन्तु दूसरे दिन आक्रमण कर अंगरेजों ने किला ले लिया और उसके भीतर बहुत से सिपाहियों का वध किया। इसी समय में वर्सोवा, उरण आदि थानों पर का भी अंगरेजों ने प्रयत्न किया और दिसम्बर के अन्त तक थाना का किला और उसके आस-पास के सब थाने मिलकर साष्टी बन्दर अंगरेजों के अधिकार में आ गया और यह एक बड़ा विकट प्रश्न मराठों के सम्मुख आ खड़ा हुआ। ता० ३ जनवरी सन् १७७५ को रघुनाथ राव दादा दस हज़ार सवार और चार सौ पैदल सेना के साथ बरहान की ओर रवाना हुए। इनके पीछे पीछे पेशवा के मुख्य सेनापति हरिपन्त फड़के थे। हरिपन्त के साथ सिंधिया तथा होलकर से बातचीत करने के लिए नाना फड़नवीस और सखाराम बापू भी थे, परन्तु साष्टी-पतन के समाचार सुन कर और इस भय से कि कहीं अंगरेज कहीं पर भी आक्रमण न करें तथा घाट की ओर भी सेना न भेजें, दोनों कारबारी पुरन्दर को लौट आये।

इसके पश्चात् कुछ दिनों तक सिंधिया और होलकर के बीचबचाव के कारण रघुनाथराव हरिपन्त से सन्धि की बात का ढकोसला दिखलाते रहे, परन्तु अन्त में जब उसका कुछ परिणाम न हुआ तब ६ मार्च सन् १७७५ के दिन अंगरेजों से राघोबा (रघुनाथराव) की सन्धि हो गई। उसके अनुसार अंगरेजों ने रघुनाथराव को पहले ५०० गोरे और १००० देशी सिपाही और आवश्यकता पड़ने पर सात व आठ सौ गोरे व

१७०० देशी सिपाही तथा अन्य मजदूर आदि सब मिलाकर ३००० सेना से सहायता देने का वचन दिया और रघुनाथराव ने इसके बदले में २५ सौ लोगों का डेढ़ लाख रुपये के लगभग सैनिक खर्च देने और खर्च के लिए आमोद, हंसोट, व्हासा और अकलेश्वर ये चार ताल्लुका की आमदनी लगा देने का करार किया। साथ ही उन्हें यह भी करार करना पड़ा कि जब रघुनाथराव गद्दी पर बैठे तब वसई और उसके नीचे का सवा उन्नीस लाख रुपया की आमदनी का प्रान्त तथा साष्टी और उनके समीपस्थ जम्बूसर, ओलपाड आदि बन्दर अंगरेजों को सदा के लिए दें, अभी नकद रुपये पास न होने के कारण ६ लाख के जवाहिरात अंगरेजों के पास गिरवी रक्खे, बंगाल प्रान्त तथा अर्काट नवाब के राज्य पर मराठे आक्रमण न करें और अङ्गरेजों के जहाज तथा कम्पनी सरकार के निशान धारण किये हुए अन्य जहाज यदि टूट जाने के कारण अथवा अन्य कारणों से मराठों की सीमा में आ जावें, तो वे जिसके हों उन्हें लौटा दिये जाय। ये शर्तें अङ्गरेजों से निश्चित हो जाने पर, हरिपन्त से रघुनाथराव की जो बातचीत चल रही थी वह बन्द हो गई, और फिर से युद्ध प्रारम्भ हुआ परन्तु जब हरिपन्त के सम्मुख रघुनाथराव न टिक सके तब वे सूरत भाग गए।

सूरत में रघुनाथराव के सहायतार्थ पन्द्रह सौ सेना तो तैयार थी और मद्रास की ओर से और भी आने वाली थी। रघुनाथराव से सन्धि होने के पहले ही अङ्गरेजों ने अपनी ओर से मराठों से युद्ध छेड़ दिया था और यह सब बम्बई के ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों की करामत थी। कलकत्ते के अङ्गरेजों को यह बात पसन्द नहीं थी। उन्होंने इसके पहले युद्ध में मराठों से मैत्री तोड़ने के सम्बन्ध में बहुत अप्रसन्नता प्रगट की, परन्तु युद्ध प्रारम्भ हो गया था ऐसे समय में कम्पनी सरकार की इज्जत के विरुद्ध ऐसा कोई काम न कर सके जिससे उन्हें असफलता मिले। उनका यह व्यवहार मनुष्य-स्वभाव और राजनीति के अनुकूल भी था, परन्तु कम्पनी सरकार की इज्जत रखते हुए युद्ध को बन्द करने के प्रत्येक प्रसंग का उन्होंने उपयोग किया। अन्त में बुरी भली कैसी भी क्यों न हो सालबाई में मराठे और अंगरेजों की सन्धि हुई और युद्ध समाप्त हुआ, मराठों से फिर मैत्री हो जाने के कारण कलकत्ते के अंगरेजों ने हृदय से आनन्द प्रगट किया और बम्बई के अधिकारियों को यह स्पष्ट रीति से लिख दिया कि "यह सन्धि इंग्लैंड के राजा और ब्रिटिश पार्लियामेंट की आज्ञा से हुई है, इसलिए यदि तुम इस सन्धि को किसी भी कारण से तोड़ोगे, तो हम अपने उच्च अधिकारों का व्यवहार करेंगे।" परन्तु बम्बई के अंगरेजों ने कलह का जो बीजारोपण कर दिया था उसका अंकुर पूर्णतया कभी नष्ट नहीं हो सका। इतना ही नहीं, २०, २५ वर्ष बाद कलकत्ते के अंगरेजों ने ही बम्बई वालों का अनुकरण किया और फिर उन्होंने युद्ध का जो झंडा हाथ में उठाया उसे तब तक महाराष्ट्र सत्ता की इमारत भस्म होकर धराशायी नहीं हो गई, जब तक नीचे

नहीं रखा। बम्बई वालो की झगड़ालू पद्धति की विजय देरी से ही क्यों न हुई हो, पर हुई अवश्य।

स्वहित की दृष्टि से बम्बई के अग्रेजो की पद्धति ठीक थी। यद्यपि रघुनाथराव और नाना फडनवीस के परस्पर के कलह का लाभ उठा कर बम्बई के अगरेजो ने मराठो से स्वय ही छेड छाड शुरू की थी, तथापि रघुनाथराव भी उनका उसकाने वाला एक सहकारी मिल गया था। रघुनाथराव ने स्वयम् उनके पास जाकर कहा था कि "तुम हमारी कलह के बीच मे पडो और हमारी सहायता करो। हमारी सहायता करने से हम तुम्हे बहुत पारितोषिक देंगे। ऐसी स्थिति म स्वहित-साधन का घर बैठे आया अवसर अगरज छोड भी कैसे सकते थे? अत इस अवसर से लाभ उठाने का उन्हे सहज मे ही अनिवार्य मोह हो गया। तारीख ६ अक्टूबर सन् १७७५ को बम्बई के अङ्गरेजों ने कलकत्ते को एक खरीता भेजा उसम उन्होने रघुनाथराव की तरफ से जो युद्ध किया था उसके कारण सविस्तार लिखे थे। इस खरीते को पढ़ने से बम्बई के अगरेजो की पद्धति स्पष्टतया ध्यान मे आ जाती है। वह खरीता इस प्रकार है —

'रघुनाथराव ही गद्दी के वास्तविक उत्तराधिकारी हैं। उनके पक्ष मे बहुत से ब्राह्मण और मराठे भी हैं। नागपुर म भोसले और बड़ोदे के गायकवाड के घरानो म भी एक प्रमुख सरदार रघुनाथराव के पक्ष म था। यद्यपि सिंधिया और होलकर उनके पक्ष म नही थे, तो भी उन्होने उसे पूर्णतया छोडा भी नही था। ये दोनो अपने ऊपर की खण्डनी का हिसाब चुकता करने का भार टालने के लिए स्पष्ट रीति से किसी भी पक्ष म शामिल न होकर पेशवा के घराने की फूट से लाभ उठाते हैं। निजाम और हैदरअली कभी इस पक्ष म, तो कभी उस पक्ष म मिलकर दावपन्च खेलते थे। स्वयम् रघुनाथराव के पास भी बहुत सेना थी, इसलिए उन्हे थोडी सेना की सहायता देकर अपना कार्य निकालने का अवसर था और उनके गद्दी पर बैठ जाने पर वे कोई भी प्रान्त हम दे सकते थे।"

युद्ध म सम्मिलित होने के इस अवसर से लाभ उठाने पर अङ्गरेजो को ऊपर के काम पूरे होने की बहुत आशा थी परन्तु खरीते से स्पष्ट मालूम न हो सकने के कारण यह प्रश्न खडा ही रहता है कि इस झगडे म पडने म उन्हे क्या प्राप्त होने वाला था? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अङ्गरेज लोग इस दृष्टि से युद्ध म सम्मिलित नही हुए थे कि रघुनाथराव के साथ अन्याय हो रहा है, किन्तु उन्हे अपना कुछ स्वार्थ सिद्ध करना था। बम्बई म कोठी बनवाने से ईस्ट इण्डिया कम्पनी का हेतु व्यापार करने का था। व्यापार करते-करते ही उन्होंने बम्बई पर अधिकार कर लिया तथा उस बन्दर की रक्षा के लिये बम्बई का सफर उसका सम्बन्ध था। बम्बई बन्दर म आया हुआ माल भिवाकर को भेजने के लिये भुसरी के रास्ते से साष्टी का ही मार्ग मुख्य था। साष्टी के आगे पर्वत और घाटियाँ शुरू होती हैं। वहीं मराठो का राज्य भी शुरू होता

था, इसलिये अङ्गरेजों ने साष्टी लिया और इसे अपने अधिकार में रखने के साथ ही साथ वे बम्बई के समीप के दूसरे बन्दर और बसई भी चाहने लगे थे। रघुनाथराव ये सब स्थान अङ्गरेजों को खुशी से दे सकते थे और बसई से सूरत तक के थाने भी व्यापारिक दृष्टि से महत्व के होने के कारण रघुनाथराव से उनके मिलने की भी आशा थी। इन बन्दरों और थानों के हाथ में आ जाने से बम्बई का व्यापार बिना भय के खूब चल सकता था। इसके सिवा महाराष्ट्र में पहले से ही चौदह लाख रुपया का ऊनी माल प्रति वर्ष बिकता था। उत्तम कपास पैदा करने वाला गुजरात का प्रांत हाथ में आ जाने पर बङ्गाल और चीन के व्यापार बढ़ने की भी खूब आशा थी। इधर कोकन-पट्टी पर अधिकार हो जाने से डच, पुर्तगाली और फ्रेञ्चों के हाथ से व्यापार निकल सकता था और इस तरह केवल ईस्ट इण्डिया कम्पनी ही व्यापार की ठेकेदार बन सकती थी। अभी तक बम्बई का व्यापार हानिकारक था। उसमें डेढ़ लाख पौण्ड की हानि थी, परन्तु रघुनाथराव ने जो प्रदेश देने का वचन दिया था उसके मिलने पर यह घाटा निकाल कर दो-ढाई लाख पौण्ड का लाभ होता दीखता था। बम्बई नगर की तटबन्दी हो जाने से उसे फौजी थाने का स्वरूप प्राप्त हो गया था और यह नगर जहाज बनाने के भी योग्य था। रघुनाथराव ने जो प्रान्त देने कहे थे उनसे बहुत अधिक मिलने की आशा थी। इन्हीं स्वार्थों की पूर्ति के लिए अङ्गरेजों ने पेशवा का आपस में झगड़ा करवा दिया। इस समय अङ्गरेजों ने जो यह उद्गार निकाला था कि ईश्वर हमें बिना मानवता के ही मिला, वह मनुष्य स्वभाव के बहुत कुछ अनुकूल था।

रघुनाथराव दादा पेशवाई के कलि पुरुष कहलाते थे। वास्तव में अन्य पुरुषों की अपेक्षा वे अधिक मूर्ख थे या नहीं, यह निश्चित करना बहुत कठिन है, परन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इनके सब कार्य पेशवाई की सत्ता, पेशवाई का प्रभाव और पेशवाई का ऐश्वर्य नष्ट करने के कारणीभूत अवश्य हुए। अधिकार-लालसा, महत्वाकांक्षा, और प्रतिपक्षियों से प्रतिरोध की इच्छा से यदि इन्होंने सिंधिया, होलकर आदि महाराष्ट्र सत्ता के प्रबल सरदारों को अपनी ओर मिलाकर अथवा उनका आश्रय लेकर नाना फड़नवीस से कलह की होती और उन पर विजय प्राप्त कर उन्हें कार्य-भार से निकाल दिया होता एवं सर्वसत्ता अपने अधिकार में ले ली होती, तो आज उन पर दोषारोपण करने का कोई कारण नहीं था, परन्तु उन्होंने परदेशी अङ्गरेजों के आश्रित होकर उन्हें अपने घर में घुसा लेने के कारण जिस विष-वृक्ष का बीजारोपण किया, उसने धीरे धीरे बल प्राप्त कर महाराष्ट्र-सत्ता की भव्य इमारत गिराकर मिट्टी में मिला दी और जिस जिसने इस वृक्ष के फल खाये अन्त में उन सबकी स्वतन्त्रता का नाश ही हुआ। रघुनाथराव का यह अपराध कभी क्षमा-योग्य नहीं कहा जा सकता, नाना फड़नवीस भी कुटिल-नीति और महत्वाकांक्षा में रघुनाथराव से कम नहीं थे और उन्हें भी अङ्गरेजों से सहायता लेने की आवश्यकता हुई थी, परन्तु नाना फड़नवीस ने जो अङ्ग-

रेजों से सहायता ली वह विरोधी शत्रुओं से लड़ने के लिये ली थी, परन्तु रघुनाथराव ने जो सहायता ली वह अपने घर वालों से ही लड़ने के लिए थी। यह हो सकता है कि रघुनाथराव के सहायतार्थ कोई प्रबल मराठा या ब्राह्मण सरन्दार तैयार न हुआ हो। इससे यही तात्पर्य निकलता है कि उस समय का लोकमत रघुनाथराव का पक्ष अन्याय और नाना फड़नवीस का न्याय का रहा होगा और अङ्गरेजों का आश्रय लेने से इस अन्याय में जो कुछ कमी रह गई होगी, वह भी पूरी हो गई होगी।

सब लोग निस्संदेह यह मानते हैं कि रघुनाथराव बहादुर और शेर थे, परन्तु यह देखा जाता है कि बहादुर और वीर पुरुष लिखने के कार्य में योग्य नहीं होते और यह कमी राघोबा (रघुनाथराव) में भी थी। इसलिए विजय प्राप्त करने और लड़ाई करने के काम में तो रघुनाथराव योग्य थे, पर व्यवस्था और द्रव्य सम्बन्धी कार्य में उन्हें कोई भी योग्य नहीं मानता था।

नाना साहब के जीते जी रघुनाथराव की कलह प्रियता प्रकट होना सम्भव नहीं था, परन्तु उनकी मृत्यु के बाद माधवराव पेशवा के गद्दी पर बैठते ही इस कलह का आरम्भ हुआ। मालूम होता है कि उस समय भी यह सम्प्रदायानुमोदित नियम ही माना जाता था कि पेशवा के पश्चात् उसका लड़का ही, चाहे वह अल्प-वयस्क ही क्यों न हो, गद्दी पर बैठे परन्तु पेशवा का भाई चाहे वह लड़के से वयस्क ही क्यों न हो गद्दी पर न बैठे। इसीलिए नाना साहब की मृत्यु के पश्चात् उनकी गद्दी उनके पुत्र माधवराव को मिली और रघुनाथराव को न मिल सकी। इस नियम के अनुसार माधवराव की मृत्यु के बाद, उनके पुत्रहीन मरने के कारण पेशवाई के वस्त्र नारायणराव को मिलना चाहिए था और उन्हें ही मिले। एक बार बलात् रघुनाथराव ने इस वस्त्र को प्राप्त कर लिया था, परन्तु उनका यह कृत्य अन्यायपूर्ण था, अत लोकमत के विरुद्ध वे इन वस्त्रों का अधिक दिन तक न रख सके। यद्यपि पेशवाई के वस्त्र प्राप्त करने की उनकी महत्वाकांक्षा कभी भी न्यायपूर्ण नहीं मानी जा सकती थी, पर कार्य-भारी प्रधानमन्त्री बनने की उनकी महत्वाकांक्षा के सम्बन्ध में भी यही विधान इतना ही बलपूर्वक नहीं किया जा सकता। माधवराव के गद्दी पर बैठने पर माधवराव की माता गोपिकाबाई की मत्सर बुद्धि के कारण जब पेशवाई के प्रधानमन्त्री का पद नाना फड़नवीस और पेठे को दिया गया, तो इस सम्बन्ध में रघुनाथराव के पक्ष में भी लोकमत की सहानुभूति थी। रघुनाथराव ने इस पद को प्राप्त करने के लिए मुगलों की सहायता लेकर लोकमत प्राप्त कर लिया और फिर माधवराव को कैद करके सब अपने अधिकार में ले लिया। साथ ही नाना फड़नवीस से उनका काम छीनकर चिन्तामणि विट्ठल रायरीकर को दिया (१७६२), परन्तु शीघ्र ही (१७६३) में मुगलों से सन्धि हो जाने के कारण माधवराव फिर से गद्दी पर बैठे और प्रधानमन्त्री का कार्य रायरीकर से छीनकर नाना फड़नवीस और मोराबा को दिया।

इसके पाँच वर्ष बाद तक माधवराव और रघुनाथराव में अधिक झगड़ा नहीं हुआ। रघुनाथराव चढ़ाई आदि में काम पर जाते थे और माधवराव कारभारी के कहे अनुसार काम करते थे। यद्यपि किसी अंश में यह ठीक है कि मातृभक्त माधवराव की माता गोपिकाबाई, माधवराव को रघुनाथराव के सम्बन्ध में चैन नहीं लेने देती थी, पर यह सर्वथा सत्य है कि रघुनाथराव की स्त्री आनन्दीबाई तो रघुनाथराव को एक क्षण भी चैन से नहीं बैठने देती थी। किसी कारण से क्यों न हो, अन्त में, रघुनाथराव के असन्तोष ने खुल्लमखुल्ला विद्रोह का रूप धारण कर लिया और पाँच वर्ष पहले का समय चक्र उलटा घूम गया अर्थात् अब की बार माधवराव का पराभव हुआ और उन्हें पूना के शनिवार बाड़े में कैद कर दिया गया। माधवराव और नाना फड़नवीस का मन पहले से ही मिला हुआ था और रघुनाथराव का गैरमुसद्दीपन नाना फड़नवीस को रुचता नहीं था। इसलिये रघुनाथराव के पराभव करने के काम में माधवराव को नाना फड़नवीस की सम्मति मिला करती थी तथा माधवराव जब चढ़ाई पर जाते थे, तब रघुनाथराव की देख रेख का काम नियमानुसार इन्हीं नाना फड़नवीस को ही सम्हालना पड़ता था। इसलिये रघुनाथराव और नाना फड़नवीस के बीच में जो मनमुटाव हो गया था वह कभी भी दूर न हो सका। अन्त में, जब माधवराव मरने लगे, तब उन्होंने रघुनाथराव को कैद से छोड़ दिया और नारायणराव का हाथ उनके हाथ में देकर मन से सब द्वेष निकाल डालने और नारायणराव पर प्रेम रखने की प्रार्थना की। मृत्यु-शय्या पर पड़े हुये मनुष्य की प्रार्थना कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता, अतः रघुनाथराव ने भी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली और महत्वकांक्षा तथा अपनी स्त्री आनन्दीबाई की धूर्तता पर ध्यान न देकर वे नारायणराव पर प्रेम रखने लगे। उनके लिये यह बात भूषणवत् हुई। कितने ही दिनों तक काका भतीजे, सोते भर अलग थे, भोजन-पान, उठना-बैठना आदि सब एक ही साथ करते थे, परन्तु दुर्भाग्य से यह स्नेह अधिक दिनों तक न टिक सका। पेशवाई के समय केवल खोटे सलाहगीरों से ही नहीं घिरे हुए थे, बल्कि नारायणराव को भी यही दशा थी। नारायणराव जितना ही क्रोधी था उतना ही कानों का कच्चा भी था इसीलिए लोगों के बहकाने पर उसने रघुनाथराव से मन फेर लिया और उन्हें तथा उनकी स्त्री को कारावास में डाल दिया। नाना फड़नवीस और सखाराम बापू इस काम के विरुद्ध थे परन्तु उन लोगों की कुछ भी न चली और इस कलह की ज्वाला फिर प्रदीप्त हो गयी। रघुनाथराव के पक्षपातियों ने नारायणराव को कैद करने का निश्चय किया, और ठीक उसी समय पर आनन्दीबाई, गारद के कुछ लोगों तथा नारायणराव से द्वेष करने वाले कुछ प्रमुखों से मिलकर, कैद करने के षडयन्त्र में शामिल हो गई और इस तरह नारायणराव का कत्ल ता० ३ अगस्त १७७३ को कर दिया गया।

गद्दी लेने की अभिलाषा के कारण भतीजे के खून करने का आरोप जब बन्दी-गृह में पड़े हुए रघुनाथराव पर किया गया तो उसके सम्बन्ध में जनता की बची हुई

थोडी बहुत सहानुभूति भी नष्ट हो गई। उस समय नारायणराव की स्त्री गर्भवती थी, अत वश चलने की आशा लोगो को होने लगी। सर्व साधारण ने रघुनाथराव को अपराधी समझकर गद्दी से उसका स्पर्श न होने देना ही अच्छा समझा। आनन्दीबाई को जब यह समाचार मिला कि नारायणराव की स्त्री गर्भवती है और पुत्र होना सम्भव है, तब वह नारायणराव के किये गये खून को निष्फल समझने लगी। किन्तु वह इतने मे ही हताश न हुई। उसने पहले तो नारायणराव की स्त्री को और फिर प्रसूति होने पर उसे तथा उसके पुत्र सवाई माधवराव को मारने के अनेक प्रयत्न किये, जो पीछे से प्रगट हुए। इन कारणो से रघुनाथराव पर जनता का द्वेष और अधिक हो गया और इसलिए नारायणराव के मरने के तेरह दिन बाद जो बारह भाइयो का गुट बना उस दिन पर दिन पुष्टि ही मिलता गई। उस समय कार्यभारियो ने गङ्गाबाई के नाम से सनद देना और पहले के समान नारायणराव के नाम का सिक्का जारी रखा।

रघुनाथराव के चढ़ाई पर जाने के कारण बारह भाई के गुट्ट को विशेष बल मिला। रघुनाथराव के साथ जो सरदार गये थे उन्हे भी नाना फडनवीस ने फोड लिया था और वे विद्रोही सरदार एक एक करके कुछ न कुछ बहाने बना कर पूना लौट आये, रघुनाथराव को जब बारह भाई के गुट के समाचार मिले तब वह चढाई का काम छोड कर फौज के साथ पूना लौट आया। रघुनाथराव को लौटते देखकर नाना फडनवीस ने त्र्यम्बकराव दामाडेटे और हरिपन्त फडके को फौज के साथ रघुनाथराव का सामना करने को भेजा। दोनों ओर से पढरपुर के पास कासेगॉव म युद्ध हुआ जिसमे त्र्यम्बकराव की हार हुई और वह स्वय भी मारा गया। बारह भाई के पहले ही प्रयत्न मे यह 'प्रथम ग्रासे मक्षिकापात, होता देख नाना फडनवीस की हिम्मत कुछ कम हुई परन्तु हरिपन्त फडके को जीता देखकर उन्हे तथा सखाराम बापू को यह आशा बनी रही कि अपने काम मे एकदम असफलता आना जरा कठिन है और उनकी यह आशा शीघ्र ही सफल भी हुई। हरिपन्त फडके ने उधर फिर सैन्य सग्रह करके साबाजी भोसले तथा निजाम अली की मदद से रघुनाथराव पर फिर चढाई की। इस नई फौज को आते देख कर रघुनाथराव पूना का माग छोडकर बुरहानपुर भाग गये। इधर तारीख १८ अप्रेल सन् १७७४ को गङ्गाबाई के पुत्र उत्पन्न हुआ। इससे अब बारह भाई के प्रयत्न को और भी अधिक बल प्राप्त हो गया। इस नवीनोत्पन्न पेशवा का नाम "सवाई माधवराव' रखा गया और उसी के नाम से धडाके के साथ पेशवाई शासन का कार्य चलाया जाने लगा।

इस समय रघुनाथराव की तरफ पूना म मोरोबा फडनवीस, रायरीकर और पुरन्दरे ये तीन सरदार थे। मोरोबा की सहायता से रघुनाथराव ने सवाई माधवराव और उनकी माता गङ्गाबाई को पुरदर नामक किले के ऊपर तथा नीचे पकडने का प्रयत्न किया, परन्तु वह सिद्ध न हो सका। रघुनाथराव उस समय उत्तर हिन्दुस्तान की

ओर था, इसलिए नाना फडनवीस को सिंधिया और होलकर की आवश्यकता भी और उसके मिलने की उन्हें आशा भी थी, क्योंकि माधवराव पेशवा के ही समय में महादजी सिंधिया को सरदारी मिली थी और उन्हीं की कृपा से सिंधिया ने प्रतिष्ठा प्राप्त की और होलकर महादजी सिंधिया की सलाह से तथा उनसे मिलकर चलते थे अर्थात् सिंधिया की मदद मिलने पर होलकर की सहायता आप से आप मिल सकती थी। नाना फडनवीस के आज्ञानुसार इन दोनों सरदारों की सहायता उन्हें मिली तो सही, परन्तु रघुनाथराव के पराभव करने में वे नाना फडनवीस के समान उत्सुकता प्रगट नहीं करते थे, क्योंकि पेशवाई के झगडे से महादजी सिंधिया अपना प्रभाव बढ़ाने का लाभ सहज ही में उठा सकते थे। इसके सिवा सिंधिया और नाना फडनवीस में पेशवा सरकार के हिसाब के सम्बन्ध में जो झगडा चल रहा था उसका भी परिणाम प्रगट नहीं हुआ था। महादजी सिंधिया पेशवाई के सरदार थे, उन्हें जो प्रान्त वसूली के लिये दिया गया था, उसकी वसूली करके और उसमें से अपनी फौज का खर्च काटकर शेष रुपये उन्हें पेशवा सरकार के यहाँ जमा कराना पडता था। नाना फडनवीस थे पेशवाई के अर्थ-सचिव। उन्हें राज्य के अर्थ विभाग का सम्पूर्ण प्रबन्ध करना और सब सरदारों से हिसाब लेना पडता था। महादजी सिंधिया ने चार साल का हिसाब नहीं दिया था इसी सम्बन्ध में अर्थ सचिव नाना फडनवीस और महादजी सिंधिया में झगडा चल रहा था। यही कारण था जिससे रघुनाथराव के पीछे हो लगे हुए हरिपन्त फडके भी सेना के साथ मालवा में घुसे परन्तु सिंधिया और होलकर की अनुमति के बिना उनके प्रान्त में रघुनाथराव को पराजित करना हरिपन्त के लिये कठिन था। हरिपन्त फडके को मालवा में आते देख महादजी सिंधिया ने तुरन्त ही रघुनाथराव से सन्धि करने का राजनैतिक कार्य अपने हाथों में ले लिया और रघुनाथराव से सन्धि के विषय में बातचीत करना प्रारम्भ कर दिया। रघुनाथराव ने अपनी शर्तें प्रगट करने में बहुत आनाकानी की। रघुनाथराव ने कहा—कि "पहले फौज के खर्च के कारण जो ५-७ लाख रुपया का कर्ज मुझ पर हो गया है, वह मुझे दिया जाय तब मैं सिंधिया की मार्फत स्थायी सन्धि करूंगा, परन्तु यह रघुनाथराव का बहाना मात्र था। वह चाहता था कि हरिपन्त से रुपये मिल जाने पर अयोध्या के नवाब शुजाउद्दौला के पास चला जाऊं। परन्तु सिंधिया ने उन्हें इस काम से रोका, तब वे दक्षिण की ओर जाने को तैयार हुए। साथ में सिंधिया और होलकर भी थे। जब हरिपन्त ने देखा कि रघुनाथराव को मुगल और मोसले की सहायता नहीं मिल सकती, तब उन्होंने भी रघुनाथराव को बरार प्रान्त में जाने की आज्ञा दी।

रघुनाथराव दक्षिण को सीधी तरह से नहीं आ रहे थे। उनकी ओर से कुटिल-नीति के प्रयत्न जारी ही थे। सिंधिया भी यही चाहते थे क्योंकि उन्हें नानाफडनवीस से अपनी शर्तें मञ्जूर करवानी थी और वे रघुनाथराव के पूना पहुँचने के पहले ही मञ्जूर

हो सकती थी। इसलिये सिंधिया ने अपने वकील पुरन्दरे को कर्नल माली के पास भेजा और रघुनाथराव तथा अपने सम्बन्ध की सब शर्तें उससे स्पष्ट कराकर स्वीकार करवा लीं। उनमें रघुनाथराव को दस लाख रुपये की जागीर और झाँसी दिये तथा सिंधिया को राज के अन्दर में एक लाख रुपये और सिंहगढ़ प्रभृति स्थान जागीर में देने आदि की शर्तों के अनुसार रघुनाथराव को स्थापित करने के लिये सिंधिया ने कारभारियों को उत्तर हिन्दुस्तान की ओर बुलाया। वे लोग भी इस झगड़े को मिटाने के लिए मंजूर हो रहे थे, पर उन्होंने फिर मुगल और आगरे को अपने सन्धानार्थ बुलाकर सन्देश का रास्ता पकड़ा। यह देखकर रघुनाथराव और वह शङ्का करने लगे तथा सिंधिया की शिथिलता से लाभ उठाकर फिर उत्तर की ओर रवाना हुए। इस पर कारभारियों को निराशा हुई और वे अपने साथ की सेना को हरिपन्त की सहायतार्थ भेजकर वे पूना लौट गये। रघुनाथराव के साथ उनकी स्त्री आनन्दीबाई भी थी। उस समय वह गर्भवती थी। उसे साथ लेकर शीघ्रता से भाग सकना सम्भव नहीं था, अतः उसे धार के किले में रखकर और उसकी रक्षा का प्रबन्ध करके आप भागने के लिये निश्चिन्त हो गये। वे धार से उज्जैन गये परन्तु जब वहाँ भी हरिपन्त को अपने पीछे आते देखा तो पश्चिम की ओर मुड़कर गुजरात में घुस गये और बड़ोदा चले गये। हरिपन्त रघुनाथराव के पीछे ही लगा हुआ था। उधर साथ-साथ सन्धि की बातचीत करते हुए सिंधिया और होलकर भी थे और इस तरह सब मराठा मण्डली धूप छाँव का खेल खेल रही थी। बड़ोदा में रहना सुरक्षित न समझकर रघुनाथराव अहमदाबाद की ओर रवाना हुए। हरिपन्त ने भी उनका पीछा वहाँ फिर किया और महीनदी के किनारे उससे आ मिला। अब युद्ध होने का समय आ गया। इतने में ही सिंधिया ने बीच में पड़कर सन्धि की बातचीत आरम्भ कर दी। नदी के दोनों किनारे पर दोनों ओर की सेना सत्रह दिन तक पड़ी रही पर कुछ सार नहीं निकला।

पेशवाई के झगड़े के मूल कारण रघुनाथराव की स्थिति इस समय बड़ी ही करुणाजनक थी। नारायणराव का वध होने के कारण बारह भाई ने उन्हें निकाल दिया था। अब रघुनाथराव ने देखा कि मेरी सहायता करने को कोई भी तैयार नहीं होता, तब उन्होंने अङ्गरेजों का आश्रय लेने का विचार किया और धार में साथ की सब चीज वस्तु रखकर गुजरात का रास्ता पकड़ा। खम्भात से भावनगर होकर जल मार्ग के द्वारा ता० २३ फरवरी सन् १७७५ को वे सूरत पहुँचे। अङ्गरेज अधिकारियों ने उनका खूब आदर सत्कार किया परन्तु उन्हें जो धन की आवश्यकता थी वह अङ्गरेज थोड़े ही पूरी कर सकते थे। उन्होंने सूरत में कर्ज लेने का विचार किया, परन्तु इसके लिये भी कोई सेठ साहूकार तैयार नहीं हुआ। इधर अङ्गरेजों ने सन्धि करने की शीघ्रता की और ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति को स्वयं जामिन होकर तो कर्ज दिलाना दूर रहा, उल्टे यह कहने लगे कि तुम्हारे पास जो छः लाख के जवाहिरात हैं उन्हें जब हमारे पास

सन्धि की जमानत के तौर पर रक्खोगे तब हम सन्धि करेंगे। लाचार होकर रघुनाथराव ने अङ्गरेजों से सन्धि की जिसकी मुख्य मुख्य शर्तें इस प्रकार थी—

(१) अङ्गरेज और मराठों से जो पहले सन्धि हो चुकी है उसे रघुनाथराव भी मान्य करें।

(२) अङ्गरेज अभी पन्द्रह सौ और फिर शीघ्र ही पच्चीस सौ सेना रघुनाथ राव को सहायतार्थ दें।

(३) इस सेना के व्यय के लिए रघुनाथराव, सब साष्टी द्वीप, मराठों के अधिकार का उसका आश्रित प्रदेश और उसकी आमदनी, गुजरात के जम्बूसर और ओलपड नामक परगने, वारञ्जा, बम्बई के पास वाले कान्हेरी प्रभृति द्वीप, बडोदा के गायकवाड की मार्फत भडोच शहर और परगने से वसूल होने वाली आमदनी, अङ्कलेश्वर की आमदनी मे से प्रति वर्ष पचहत्तर हजार रुपये तथा अङ्गरेजों की फौज के खर्च के लिए डेढ़ लाख रुपये मासिक दें। इन डेढ लाख रुपया के लिए गुजरात के चार परगने जमानत के तौर पर दिये जायें।

(४) बङ्गाल और कर्नाटक की अङ्गरेजी जागीर पर मराठे भी न चढ़ाई करें।

(५) ऊपर का शर्तों के अनुसार देने के लिए स्वीकृत किया हुआ प्रान्त सन्धि के दिन से अङ्गरेजों के अधीन किया जाय और यदि रघुनाथराव तथा पूना के दरबार मे सन्धि हो जाने से युद्ध करने का अवसर प्राप्त न हो, तो भी यह समझा जाय कि अङ्गरेजो ने सन्धि के अनुसार सहायता की है और इसके बदले में ऊपर लिखा हुआ प्रान्त उन्हें सदा के लिए दिया हुआ समझा जाय।

तदनुसार सन्धि हो जाने पर बम्बई वालों ने कर्नल कीटिङ्ग को रघुनाथराव के सहायतार्थ भेजा। कीटिङ्ग और रघुनाथराव की मुलाकात सूरत मे फरवरी के अन्त मे हुई और तुरन्त ही खम्भात से १९ मील दूरी पर दारा नामक स्थान पर रघुनाथराव और अङ्गरेजों की पचास हजार सेना एकत्रित की गई। इधर हरिपन्त के पास सेना बहुत कम रह गई थी, क्योंकि सिंधिया और होलकर मालवा को लौट गये थे और शेष बची हुई सेना भी बहुत दिनो से वेतन न मिलने से हतोत्साह हो रही थी। ऐसी स्थिति मे हारास नामक स्थान मे दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई। इस युद्ध मे हरिपन्त की हार हुई परन्तु कुछ अन्तिम परिणाम न निकल सका, क्योंकि वर्षा ऋतु आ जाने के कारण कीटिङ्ग हरिपन्त के पीछे न लग डभोई में वर्षा ऋतु की छावनी डालकर रहने लगे। पेशवा की सेना को यह अवकाश मिल जाने से रघुनाथराव की बड़ी हानि हुई क्योंकि बम्बई के अङ्गरेजों ने जो रघुनाथराव से सन्धि की थी उसके समाचार जब कलकत्ता पहुँचे तब कलकत्ते के गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने इस सन्धि को अमान्य ठहराया। सन् १७७४ के रेग्युलेशन एक्ट के अनुसार बङ्गाल के गवर्नर को गवर्नर जनरल के स्वत्व मिल चुके थे और दूसरे प्रान्तो के गवर्नरो पर उनका अधिकार जमने

लगा था। परन्तु इस बात को हुए एक ही वर्ष बीता था, इसलिए अन्य गवर्नर को पहले के समान स्वतन्त्रता से काम करने का अभ्यास छूटा नहीं था। इसी अभ्यास के वश होकर बम्बई के अङ्गरेजों ने रघुनाथराव से सन्धि कर ली थी और कलकत्ते के गवर्नर जनरल के मंजूरी की आवश्यकता नहीं समझी थी। यदि कलकत्ता में समाचार पहुँचने के पहले ही यहाँ मराठा सेना से युद्ध हो गया होता और उसका परिणाम अङ्गरेजों के अनुकूल होकर रघुनाथराव पूना की गद्दी पर बैठता तो कदाचित बात दूसरी ही होती और कलकत्ते वाले भी इस बात में साथ रहने को तैयार हो जाते। परन्तु यहाँ तो बात ही दूसरी थी। एक सम्पूर्ण मराठी सेना से लड़ने का यह प्रश्न था, दूसरे सम्पूर्ण मराठे सरदार पूना दरबार के अनुकूल थे और रघुनाथराव के पास भी अधिक सेना नहीं थी। फिर बम्बई के अङ्गरेजों की आर्थिक स्थिति भी अच्छी नहीं थी। ऐसी स्थिति में कोई किसी के किसी के लिए और किसी युद्ध की धधकती अग्नि में क्या कूदेगा और फिर एक व्यक्ति को जिस पर सम्पूर्ण जगत ने अपने ही भतीजे का खून करने का अपराध लगाया हो, राज्य दिलाने के लिए भला कौन युद्ध करना चाहेगा? यद्यपि यह ठीक है कि वारन हेस्टिंग्ज सत्य और न्याय की मूर्ति नहीं थे तो भी इसमें सन्देह नहीं कि रघुनाथराव का पक्ष लेने का बम्बई वालों का कार्य उन्हें उचित नहीं प्रतीत हुआ। इसीलिये उन्होंने युद्ध बन्द करने की आज्ञा बड़ी शीघ्रता से चारों ओर भेज दी और अपना एक वकील सन्धि करने के लिए पूना दरबार में भेजा। इस बात से बम्बई वालों के मुँह पर अच्छा तमाचा लगा और उन्हें रघुनाथराव से कुछ कहने में लज्जा मालूम होने लगी। उन्होंने कनल कीटिङ्ग द्वारा रघुनाथराव को कहलवाया कि "यद्यपि बात यहाँ तक आ गई है, तो भी हम तुम्हे शक्ति भर सहायता देंगे। यदि सन्धि करने का भी मौका आया तो हम उन शर्तों पर ही सन्धि करेंगे जिनसे तुम्हारा हित होगा और अधिक तो नहीं अपने यहाँ निर्भर रहने के लिए उत्तम स्थान तो अवश्य देंगे।" इस निराशाजनक समाचार का प्रभाव रघुनाथराव पर क्या पड़ा होगा इसकी कल्पना सब कोई सहज में कर सकते हैं।

श्री युत राजवाडे ने "मराठों के इतिहास के साधन" नामक पुस्तक का जो बारहवाँ खण्ड प्रकाशित किया है उसमे रायरीकर के दफ्तर के उस समय से सम्बन्ध रखने वाले अनेक पत्र छपे हैं जिसमें से कुछ पत्र तो रघुनाथराव के हैं और कुछ वे हैं जो अङ्गरेजों के यहाँ रहने वाले रघुनाथराव के वकील ने रघुनाथराव को लिखे हैं। इन पत्रों के पढ़ने से इस बात का स्पष्टीकरण भली प्रकार हो जाता है कि अङ्गरेजों के आश्रय में जाने पर रघुनाथराव की स्थिति कितनी विषम हो गई थी। कलकत्ते वालों की आज्ञा से युद्ध बन्द हो जाने के कारण रघुनाथराव के काम में बहुत भारी धक्का लगा, परन्तु बम्बई वालों ने पहले बहुत धीरज बंधाया और कहा कि "इसी काम के लिए यहाँ से पत्र देकर टेलर साहब को कलकत्ते भेजा है, वहाँ २० दिन में पहुँचेंगे और

जाने के डेढ मास बाद फिर युद्ध करने की आज्ञा लेकर पत्र लिखेंगे।" इस तरह पहले धीरज बधाया। उस समय रघुनाथराव के वकील ने लिखा था कि "जनरल साहब ने जो हाथ श्रीमन्त का पकडा है उसे वे कभी न छोडेंगे, श्रीमन्त के पक्ष का समर्थन अवश्य होगा। श्रीमन्त चिन्ता न करें। बम्बई वालो को अपने स्वाभिमान-रक्षा की चिन्ता है। नवीन जनरल विलायत से रवाना हो चुका है। वह पन्द्रह-बीस दिन मे बम्बई आ पहुँचेगा। श्रीमन्त की ओर से जो लाभ होगा वह नये जनरल साहब को होगा यहाँ से न होगा।' रघुनाथराव को यह झूठी आशा भी दिलाई गई कि 'किसी चतुर मनुष्य को विलायत भेजा जाय, तो आठ दस मास मे सब पक्का प्रबन्ध हो जायगा।" इधर यह जनश्रुति फैली थी कि गङ्गाबाई के जो लडका हुआ था वह तो मर गया है, परन्तु उसके स्थान पर दूसरे सनावटी लडके को रखकर सवाई माधवराव के जन्म होने की घोषणा की गई है। गङ्गाबाई के साथ अन्य पाच गर्भवती स्त्रियाँ इसी आशा से रखी गई थी। इन बातो से रघुनाथराव को गद्दी पर हक और भी प्रबल हो गया है, यह कहने का आधार अङ्गरेजो को मिल गया और इससे अङ्गरेजो का साथ करने का फल व्यर्थ नही जायगा, ऐसी आशा रघुनाथराव को होने लगी। परन्तु फिर दिन पर दिन यह आशा कम भी होने लगी, क्योकि एक तो रघुनाथराव के पास स्वत अपना पैसा बिलकुल नही बचा था, दूसरे गायकवाड से जो वसूली होती थी वह भी अङ्गरेजो के पास नहीं आती थी। वे तो कभी गोविन्दराव और कभी फतहसिंह से मिलकर अपना वसूली करने का काम निकाल लिया करते थे। गुजरात प्रान्त मे जो परगने दिए थे उन्हें भी वे लेकर बैठ गये थे, परन्तु रघुनाथराव के खर्च का कुछ भी प्रबन्ध न करते थे। अपने पास की सेना के बल पर बडोदा शहर को लेने का विचार रघुनाथराव ने किया भी तो उसमें लोग आड आ गये। अब यदि उनसे लडाई छेडी जाती तो आग की सलाह धूल मे मिल जाती। वेतन न मिलने से सेना के कुछ लोग भी जाने की तैयारी करने लगे। उधर कलकत्ते से आश्विन के अन्त तक युद्ध फिर प्रारम्भ करने के समाचार आने वाले थे, परन्तु कार्तिक समाप्त होने पर भी पत्र का कहीं पता न था। नर्मदा के तीर पर कही सुभीते की जगह देखकर रघुनाथराव ने रहने का विचार किया परन्तु कर्नल कीटिङ्ग यह भी नहीं करने देते थे। वे सेना के सहित जाने का आग्रह करते थे। रघुनाथराव ने एक पत्र मे लिखा है कि 'नर्मदा तट पर रहने नही देते ऐसी अधबीच की स्थिति मे आ पडा हूँ। जनरल लोग भीतर ही भीतर क्या लिखते हैं यह भी समझ मे नहीं आता, तो भी जनरल आदि चालाक और हमारे हितैषी हैं यह जानकर मैं रवाना होता हूँ। फिर ईश्वरेच्छा बलीयसि। आधा माघ पौष मास चला गया, परन्तु कलकत्ते से कोई उत्तर नही आया। तब बम्बई वालो से रघुनाथराव के वकील ने कहा कि "यदि बङ्गाल वाले तुम्हारी नही सुनेगे, तब तुम क्या करोगे? हम तुम्हारे विश्वास पर धोखा तो नहीं खाना पडेगा?" परन्तु बम्बई वालो ने कहा— 'सुनेंगे क्या नहीं? अवश्य सुनेंगे।

चिन्ता मत करो।' वे इस प्रकार आश्वासन देते रहते थे परन्तु ये आश्वासन शीघ्र ही निष्फल सिद्ध हुए क्योंकि फाल्गुन मास में सम्भवतः बङ्गाल वाला ने वकील गान्द ने पूना पहुँच कर बारह भाई से सन्धि कर ली और उसके समाचार बम्बई वाला को भेज दिये। इस सन्धि की मुख्य शर्त रघुनाथराव को बारह भाई के अधीन करने की थी। जब यह शर्त बम्बई वालों ने जानी होगी तब रघुनाथराव पर प्रकट करते समय उन्हें कैसी कठिनाई पड़ी होगी इसका अनुमान पाठकगण स्वयं कर लें। रघुनाथराव भी यही समझने लगे कि बम्बई वालों ने हमसे विश्वासघात किया और उनके मुँह से यह उद्गार सहज ही में निकले कि— 'अङ्गरेजों के घर रहते हुए भी हम बारह भाई के अधीन कर कैद करवाते हैं। इसलिये यह बात अङ्गरेजों के लिये अभिमानास्पद नहीं है।' रघुनाथराव अङ्गरेजों से पूछने लगे कि 'तुमसे कुछ नहीं होता न सही, पर चुपचाप तो बैठो और कहो कि इस तरह तटस्थ रहने का क्या लोगे?' वे विचारने लगे कि वर्ष दो वर्ष गुजरात में व्यतीत कर अपने उद्योग से जो मिलेगा उसी पर निर्वाह करेंगे। एक बार यह भी विचार किया कि भड़ौच के पास रणछोड़ में नर्मदा तट पर रहकर वर्ष दो वर्ष स्नान सन्ध्या में व्यतीत करूँ और इस बीच विलायत तथा भारत में बारह भाई के शत्रु से कुछ राजनैतिक झगड़े करवा कर अपने भाग्य की परीक्षा करूँ, परन्तु वहाँ रहना सम्भव नहीं था, क्योंकि कलकत्ते वाले अङ्गरेजों की आज्ञा से सन्धि हो जाने पर रघुनाथराव को सेना के साथ गुजरात में अपना आश्रित बनाकर अथवा सम्मति से रहने देने का अधिकार बम्बई वालों को नहीं था। इस पर रघुनाथराव सिर पीटकर रह गये। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि अङ्गरेजों को उदार और बलवान समझकर उनका आश्रय लिया था, परन्तु भाग्य ने वहाँ भी धोखा दिया। अब जनरल को क्या दोष दिया जाय? जो होना है सो होगा ही! सब में श्रेष्ठ अङ्गरेजों को शामिल कर शत्रु को प्रायः आधा पराजित भी कर दिया, तो भी जब धक्का बैठा, तो अब वैराग्य धारण करना ही उचित है।' रघुनाथराव के मन में था कि कम्पनी के अधिकार के किसी एक स्थान को देखकर वहाँ रहें क्योंकि कोपरगाँव में रहना तो एक प्रकार से बारह भाई की कैद में ही रहना था। परन्तु उनका यह विचार भी पूरा न हो सका और इतना ही नहीं, किन्तु रघुनाथराव के जो छः लाख के जवाहिरात अङ्गरेजों के पास थे उन्हें भी बारह भाई के देने की शर्त अप्टन साहब ने पूना दरबार से की थी। रघुनाथराव को यह तो अन्याय की परमावधि ही प्रतीत होने लगा और वे पूछने लगे कि "हमारे जवाहिरात देने वाले आप कौन हैं?" परन्तु उन्होंने अपने आपसे यह नहीं पूछा कि अङ्गरेजों के बारह भाई से सन्धि कर लेने पर यह प्रश्न पूछने वाले रघुनाथराव भी कौन होते हैं। शक सम्वत् १६९८, चैत्र बदी चतुर्दशी के पत्र में निराश होकर रघुनाथराव ने इस प्रकार उद्गार निकाले हैं "सब सलाह धूल में मिल गई। अङ्गरेजों की प्रतिकूलता के कारण सब सङ्कट सिर पर आ पड़े हैं। आज तक अङ्गरेजों की यह

ख्याति थी कि इन्होंने जिसका पक्ष लिया उसे कभी न छोड़ा, परन्तु हम तो बहुत धोखा दिया और हमारे साथ विश्वासघात, दगाबाजी और बेईमानी की। इनके द्वारा हमारे सम्बन्ध में ऐसा दगा हुआ है जैसा किसी को भी न हुआ होगा।" यह ऐसा समय था कि रघुनाथराव को यह नहीं सूझता था कि कहाँ जावे और कहाँ रहे। यदि जहाँ थे वहाँ से हटकर जाते तो मुन्शी सिन्धी वेतन के लिए जान ले जाते और यदि जहाँ थे वहाँ रहते, वह भी असम्भव, क्योंकि म्यावियर और कीटिंग ने आकर यह स्पष्ट कह दिया था कि "तुम्हारे रहने के कारण सेना को परिश्रम करना पड़ता है। पूने की सेना तुम पर आक्रमण करने वाली है। हम तुम्हारी सहायता नहीं कर सकते और यदि सेना सहित तुम्हें रखते हैं तो हम बदनामी उठानी पड़ती है। इसलिये आप यहाँ से रवाना होकर जिस तरह बने अपना बचाव करें। आप अपनी सेना को बचायें, हमारे भरोसे न रहें। यदि आप शहर में आना चाहते हैं तो दो सौ मनुष्य से अधिक हम नहीं आने देंगे।"

जब कर्नल अप्टन पूना जाकर कारभारियों से सन्धि की बातचीत करने लगे, तब पहले तो कारभारियों ने कर्नल साहब का सहायता नहीं दी और यही कहा कि बम्बई वालों ने निष्प्रयोजन हमसे झगड़ा किया है, इसलिये साष्टी और उसके हाथ में लिया हुआ सब प्रदेश हम को और रघुनाथराव का पक्ष बिना किसी शर्त के छोड़ो, तब हम सन्धि करेंगे। परन्तु अङ्गरेजों के वकील को यह अमान्य था। अतः पहले तो यह सन्धि होने की आशा ही टूट गई और तारीख ७ मार्च सन् १७७६ को कलकत्ते वाले अङ्गरेजों ने बम्बई वालों को मराठों से युद्ध करने की आज्ञा देने का निश्चय किया, परन्तु यहाँ इससे छः दिन पहले ही अर्थात् १ मार्च को ही सब शर्तें ठहर कर पुरन्दर में सन्धि पर हस्ताक्षर भी हो गये थे। इस सन्धि की मुख्य-मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं—

(१) अङ्गरेजों ने जो साष्टी द्वीप ले लिया है सो उन्हीं के पास रहे और यदि कभी वे देने को तैयार हों, तो पेशवा अङ्गरेजों को तीन लाख की आमदनी का प्रान्त बदले में दें।

(२) भड़ोच शहर और उसके चारों ओर का जो प्रदेश पेशवा के अधिकार में है वह अर्थात् लगभग तीन लाख की आय वाला प्रदेश, मराठे अङ्गरेजों को दें।

(३) अङ्गरेज रघुनाथराव का पक्ष छोड़कर उनके पास से अपनी सेना हटा लें और रघुनाथराव भी अपनी फौज के साथ कोपरगाँव में आकर रहें, उन्हें २५ हजार रुपये मासिक खर्च के लिए दिये जायँगे।

इस सन्धि के अनुसार मराठों का लगभग छः लाख वार्षिक आमदनी वाला प्रदेश अङ्गरेजों के अधिकार में चला गया परन्तु गृह-कलह मिटाने और अपने राजनैतिक कार्यों में जो दूसरे के प्रवेश होने का भय था उसे दूर करने के अभिप्राय से उन्होंने यह

ती लाख रुपये का प्रान्त देकर सन्धि धारण किया था पर अङ्गरेजों को इस सन्धि से सन्तोष नहीं हुआ। उन्हें तीन लाख की आमदनी का प्रान्त प्राप्त करने की आशा मराठों से लड़ने के कारणभूत रघुनाथराव को अपने हाथ में रखने की इच्छा अधिक थी। वे पुरन्दर की सन्धि के अनुसार तीन लाख का प्रान्त भी मना करते थे और रघुनाथराव को भी आश्रय देने के लिए तैयार थे। उन्होंने रघुनाथराव को पेशवा के अधीन न कर दस हजार रुपये मासिक भत्ता देकर बम्बई में रखा और गुजरात में अपनी फौज भी तैयार रखी। स्वयं गवर्नर हेस्टिंग्ज को यह सन्धि स्वीकृत नहीं थी और इधर बम्बई वालों ने भी कलकत्ते वालों के विरुद्ध इङ्गलैंड के राजा के पास नियमानुसार अपील करने का मार्ग रघुनाथराव को बतलाकर सम्मति भेजा दी थी। रघुनाथराव ने इङ्गलैण्ड के राजा को जो पत्र लिखा था उसका आशय इस प्रकार था—

'मेरा पक्ष सत्य है और यही देखकर बम्बई के अङ्गरेजों ने मुझे सहायता देने का वचन दिया था। कर्नल कीटिङ्ग की वीरता के कारण हमने गुजरात में पाँच छः लड़ाइयों में विजय प्राप्त की और वर्षा ऋतु के समाप्त होते ही हम पूना पर चढ़ाई करने वाले थे, परन्तु इतने में ही कलकत्ते वालों ने युद्ध रोक दिया। अङ्गरेजों की सर्वत्र यही नीति है कि एक गवर्नर के कोई काम शुरू करने पर दूसरे गवर्नर उसे सहायता देकर कार्य सिद्ध कर लेते हैं, परन्तु मालूम होता है कि वारेन हेस्टिंग्स को यहाँ की स्थिति का पूर्ण अनुभव नहीं हुआ है। इसीलिए उन्होंने युद्ध बन्द करने की घोषणा की होगी। यहाँ अङ्गरेजों की न्यायप्रियता बहुत प्रसिद्ध है इसलिए बम्बई वालों के और मेरे बीच में जो सन्धि हुई है उसे पूरी करना उचित है। मेरे ऊपर आपका जो प्रेम है उस ध्यान में लाकर मुझे पूना की गद्दी प्राप्त करने के कार्य में बम्बई और कलकत्ते वाले अङ्गरेजों की सहायता देने के लिये आप कृपा कर आज्ञा दें।'

इस पत्र का प्रत्यक्ष में कोई परिणाम नहीं हुआ। इधर पुरन्दर की सन्धि के अनुसार अङ्गरेजों को काम करते हुए देखकर और रघुनाथराव को आश्रय देने के कारण रघुनाथराव सम्बन्धी मुख्य शर्त पूर्ण होने तक, पूना वालों ने गुजरात प्रान्त का जो तीन लाख का आमदनी वाला प्रान्त देना स्वीकार किया था वह नामञ्जूर कर दिया और एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि न तो युद्ध ही होता था और न तो सन्धि की शर्तें ही पूरा होती थीं। परन्तु कलकत्ता-कौंसिल ने यह सन्धि स्वीकार कर ली थी इसलिये अङ्गरेज उसे एकाएक तोड़ने में असमर्थ थे और उधर नाना फड़नवीस भी यह चाहते, और प्रयत्न करते थे कि पुरन्दर की सन्धि के अनुसार काम हो। रघुनाथराव भी उधर चुप नहीं बैठे थे। वे अङ्गरेजों से स्पष्ट कह रहे थे कि या तो सूरत की सन्धि के अनुसार काम करो या मुझे तुम्हारे आश्रय की आवश्यकता नहीं है। मुझे जैसा सूझेगा वैसा करूंगा। बम्बई वालों के लिए भी यह एक लाभदायक बात हुई, क्योंकि रघुनाथराव के आश्रित होकर रहने से उन्हें जो खर्च पड़ता वह बच गया।

दूसरे वर्ष एक नई बात पैदा हो गई। वह यह कि फ्रेन्चा ने अपने वकील सेंट ल्यूविन के द्वारा दरबार से बातचीत करना प्रारम्भ किया। अङ्गरेजो के समान महाराष्ट्र म व्यापार बढ़ाने और पेशवाई की राज-व्यवस्था म प्रवेश करने की इच्छा फ्रेंचा की भी थी। उस समय फ्रेन्चो और अङ्गरेजो की वैराग्नि धधक रही थी और जिस तरह अमेरिका मे फ्रेन्चों ने अङ्गरेजा के विरुद्ध वहाँ के निवासियो को भडकाया था, उसी तरह यहाँ भी पेशवा को अङ्गरेजो के विरुद्ध सहायता देने का फ्रेंचा का विचार था। पेशवा ने भी अङ्गरेजो के रघुनाथराव सम्बन्धी व्यवहार के बदले म फ्रेंचा को हाथ म लेना उचित समझा और इसीलिये अङ्गरेजा का दिल जलाने के लिए जानबूझ कर उनके वकील का खूब सत्कार किया। यदि उस समय पेशवा और फ्रेन्चो की स्थायी सन्धि हो जाती तो उसका परिणाम क्या होता यह अनुमान करना बहुत कठिन है। कदाचित् फ्रेन्चा की सहायता से पेशवा ने अपनी कवायद करने वाली पलटने तैयार कर ली होती और पेशवा की सहायता से फ्रेंचो ने पूना मे एक छोटी मोटी कोठी खोलकर बम्बई के आस-पास बन्दर प्राप्त किया होता, परन्तु यह सन्धि नही हो सकी। इसम सन्देह नही कि उस समय यह जन श्रुति थी कि नाना फडनवीस और सेण्ट ल्यूविन की परस्पर म सन्धि हो गई है तथा यह भी खबर थी कि एक दिन नाना फडनवीस क घर सेण्ट ल्यूविन और मुख्य-मुख्य अधिकारी एकत्रित हुए थे और उन सबके सामने ल्यूविन ने बाइबिल की और नाना ने गाय की शपथ लेकर सन्धि निश्चित की थी। उस सन्धि के अनुसार यह निश्चय हुआ था कि 'पेशवा, फ्रेंचा को चोल बन्दर दे और फ्रेंच अङ्गरेजा से लड़ने के लिए मदद दें।" जिस समय फ्रेंच वकील आता था उसे लेने के लिए हाथी भेजा जाता था और स्वय नाना फडनवीस और सखाराम बापू उसका स्वागत करने के लिए डेरे से बाहर आते थे, परन्तु जब अङ्गरेजा का वकील आता था तब उसे लने क लिये कोई एक दूसरे श्रेणी का सरदार भेजा जाता था। इस प्रकार का भेद-पूर्ण व्यवहार अङ्गरेजा के ध्यान म नही आया हो यह बात नही, किन्तु यह बहुत सम्भव है कि उनक ध्यान म लाने ही के लिए नाना फडनवीस न यह प्रपञ्च रचा हो। कुछ भी हो, अन्तिम परिणाम देखने पर यही प्रतीत होता है कि पेशवा और फ्रेंचों की मैत्री बहुत काल तक न टिकी।

कितने ही अङ्गरेज ग्रथकारो का यह मत है कि यदि उस समय पूना के दरबार मे फ्रेंचा के पैर जम गये होते, तो मराठो ने सम्पूर्ण भारत पर अधिकार कर लिया होता। उस समय के बम्बई के अङ्गरेज अधिकारियो को यह भय होने लगा था कि कारोमण्डल किनारे पर जैसी घटना हुई थी, वैसी ही कही फ्रेंचा के षडयन्त्र से यहाँ भी न हो अर्थात् कारोमण्डल किनारे की तरह बम्बई भी न छोड़ना पड़े। उनका यह भय उस समय क कागज-पत्रा म भी देखने का मिलता है, परन्तु पूना म फ्रेंचा का पैर जम न सका, क्योकि एक तो अङ्गरेजा ने बम्बई म लगातार सौ वर्षों से अपने पूरे पैर जमा

रखते थे, दूसरे समुद्र किनारे पर सुरक्षित रीति से जमने के लिए फ्रेंचों को अधिक स्थान नहीं था। नाना फडनवीस भी यह बात जानते थे। उन्होंने अङ्गरेजों पर प्रभाव जमाने और धाक उत्पन्न करने के लिए फ्रेंचों की ओर ऊपरी मन से अधिक सहानुभूति दिखलाई होगी। पुर्तगालियों और अङ्गरेजों का तो उन्हें पूरा अनुभव था ही, अब तीसरे फ्रेंचों के आ जाने से दुःखों के कम हो जाने की आशा भी नहीं थी, परन्तु एक का भय दूसरे को दिखाने की नीति उस समय आवश्यक और चतुराई से भरी होने से उन्होंने स्वीकार की होगी। एक बार तो अङ्गरेजों के वकील ने बम्बई को लिखा था कि नाना फडनवीस कहते हैं कि—'हम पूना से सब यूरोपियनों को निकाल देंगे। यदि किसी को वकील के तौर पर दरबार में आने-जाने वाले मनुष्य की जरूरत होगी तो एक कर्मचारी रख देना बहुत होगा।'

उस समय पूना दरबार में प्रवेश होने की स्पर्द्धा जिस तरह यूरोपियनों में थी, उसी तरह दुर्दैव से पूना दरबार के दो कारभारियों में भी थी। अतः रघुनाथराव के पक्षपातियों ने उन्हें पूना लाने के लिये बम्बई के अङ्गरेजों से बातचीत चलाई। इस काम में सखाराम बापू, मोरोबा फडनवीस, बजाबा पुरन्दरे और तुकोजी होलकर शामिल थे और ये चारों ही प्रभावशाली पुरुष थे, पर सखाराम बापू का प्रभाव और ही बढ़कर था, क्योंकि यह पूना दरबार का मुख्य कारभारी था और पुरन्दर के सन्धि-पत्र पर पहला दस्तखत इसी का था नाना फडनवीस का तो उसके नीचे था। उसी सखाराम बापू ने जब रघुनाथराव को पूना लाने की बातचीत छेड़ी तो अपने स्वार्थ के लिये अङ्गरेज इसका यह मतलब लगाने लगे कि जब पुरन्दर की सन्धि करने वाला ही यह बातचीत चलाता है, तो हम यही समझते हैं कि पूना-दरबार ही पुरन्दर की सन्धि तोड़ने का प्रारम्भ करता है, ऐसा करने के लिए हम निमन्त्रण देता है। अङ्गरेजों ने अपने सुभीते के लिए यह भी विश्वास जमा लिया कि सन्धि तोड़ने का दूसरा कारण फ्रेन्चों के साथ पेशवा का बातचीत चलाना है। उन्होंने यह भी समझ लिया कि नाना फडनवीस के सिवा अन्य सब कारभारी रघुनाथराव के पक्ष में होंगे। विलायत से आने वाले पत्रों में भी कम्पनी के मुख्य अधिकारियों ने भी रघुनाथराव के प्रति अपनी अनुकूलता प्रकट की। उधर विलायत से एक बहुत बड़ा अङ्गी जहाजों का बेड़ा भी आ रहा था इससे भी लाभ उठाया जा सकता था। इन सब बातों पर ध्यान देकर बम्बई के अङ्गरेजों ने पूना में रहने वाले अपने वकील को सखाराम बापू से गुप्त रीति से बातचीत चलाने के लिए लिखा। इनके कार्य में विघ्न डालने वाली केवल एक ही बात दीखती थी। वह यह कि सवाई माधवराव को ही नारायणराव के सच्चे और सत्पुत्र होने के कारण गद्दी का स्वामी मानने में महाराष्ट्र प्रान्त में किसी को आपत्ति न थी, यहाँ तक कि स्वयं रघुनाथराव के पक्षपाती भी इसके विरुद्ध बोलने को तैयार नहीं थे। यह देखकर अङ्गरेजों ने यही उचित समझा कि रघुनाथराव को गद्दी पर बैठाने की अपेक्षा सवाई माधवराव के

वयस्क होने तक उन्ही को कारभारी बनाया जाय, क्योंकि ऐसा करना अच्छा और न्यायपूर्ण प्रतीत होगा। अत अङ्गरेजो ने अपने वकील को इसी आशय की सूचना दी। अङ्गरेजो को दोना बातो स लाभ की ही आशा थी। रघुनाथराव को गद्दी पर बैठाने से उन्हें जितना लाभ था उसमे उसके कारभारी हो जाने से कुछ कम न था, क्योंकि गद्दी के स्वामी के अल्प-वयस्क होने से अधिकार कारभारी का ही होता। इसलिए रघुनाथराव को गद्दी पर बैठाने म साक्षात अन्याय का पक्ष लेकर, अपना काम बिगाडना अङ्गरेजा ने उचित नही समझा।

पुरन्दर की सधि हो जाने पर भी बम्बई वाला के इस षडयन्त्र को कलकत्ते वाले अङ्गरेजा ने भी अपनाया। कलकत्ता कौंसिल के केवल दो सभासद फ्रान्सिस और ह्वीलर इस षडयन्त्र के विरुद्ध थे, परन्तु अब वारन हेस्टिंग्ज के विचार बदल गए थे। पहले उन्हें मराठा के झगडे म पडकर पेशवाई से वैर करना उचित नही दिखता था, परन्तु अब उसे इसम कम्पनी सरकार का हित दिखलाई देता था। उसे यह आशा थी कि इन झगडा म पडने से पूर दरबार मे हमारा प्रभाव स्थाइ रूप से जम जायेगा और इस कार्य स बिगाड करने का काय अन्याय पूर्ण होने पर भी उसे सुभीते का दीखने लगा। वारेन हेस्टिंग्ज ने बम्बई के गवनर को लिखा कि जब पुरन्दर की सधि पर हस्ताक्षर करने वाले एक मुख्य काय भारी ने सधि की शर्त तोडने की सूचना स्वय दी है, तो उस सधि के विरुद्ध रघुनाथराव को पूना ले जाना आवश्यक है और इस कार्य के लिये बम्बई वालो को दस लाख रुपयो की सहायता देने का निश्चय करके उन्होंने कनल लेस्ली को सेना के सहित बम्बई को रवाना किया। इधर नाना फडनवीस ने विद्रोही दल के मोरोबा फडनवीस को कैद करके किले म रखा। बम्बई के अगरेजो का गुप्त समाचारो से यही पता लगा कि मराठा शाही मे इस समय बहुत दुर्व्यवस्था है। अत उन्होंने रघुनाथराव को पूना लाने का विचार पक्का कर लिया और कलकत्ते से आने वाली फौज की प्रतीक्षा न कर ता० २४ नवम्बर सन् १७७८ को रघुनाथराव से नवीन सधि की, और दूसरे ही दिन कनल एगटन को पाँच सौ गोरे और दो हजार देशी सैनिक देकर बम्बई बन्दर से रवाना भी कर दिया तथा आवश्यकता पडने पर राजनैतिक बातचीत करने के लिये जानकार नाक तथा टामस मास्टिन नामक दो सिविल अधिकारियो को अपना प्रतिनिधि बनाकर सेना के साथ भेजा।

कनल एगटन की यह सेना पनवेल म उतरकर और वहाँ स घाटियो में से होती हुई २५ दिनो में खण्डाले तक आ पहुँची। नाना फडनवीस को अङ्गरेजो के समाचार प्रतिक्षण मिला करते थे। इस समय उन्होंने अपना सब भरोसा सिंधिया पर रखकर और उन्हें बुरहानपुर देना स्वीकार करके सेना के साथ अङ्गरेजो का सामना करने को भेजा। दशहरे के बाद सिंधिया और होलकर की तथा रास्ते म मिलने वाली प्रतिनिधियो आदि की सेना मिलकर चालीस हजार के लगभग तैयार हो गई। इस समय

अङ्गरेजों से भी होमकर लड़ाई होने की आशा थी। अत तोपखाने का बहुत अच्छा प्रबन्ध किया गया और वह त्र्यम्बकराव मामा की नायकता में रणक्षेत्र को भेजा गया। अङ्गरेजो की सेना को बेहोशी के साथ चढ़े चले आते देख मराठी सेना कुछ पीछे हट गई और उसे बराबर अपने ऊपर आने दिया और यह निश्चय कर लिया कि आवश्यकता पड़ने पर तलेगाँव को भस्म कर देंगे और फिर चिंचवड़ और पूना भी भस्म कर देंगे। जनवरी के प्रारम्भ मे कर्नल एगर्टन अस्वस्थ होने के कारण अपना पद-त्याग कर जाने को तैयार हुए, परन्तु यह देखकर कि मराठा ने बोढ़ूण के रास्ता बन्द कर लिये हैं, वह फिर से तलेगाँव लौट आया। कर्नल काक के लगने से खण्डाला म जखमी हुआ और कार्ले के मुकाम पर तोप के गोले से कप्तान स्टुअर्ट की मृत्यु हुई। मिस्टर मास्टिन बीमार हुए और उनकी भी मृत्यु हुई। घाट चढ़कर आते ही रघुनाथराव के पक्ष के सरदार हमको मिलेंगे, ऐसी आशा अङ्गरेजा की थी, परन्तु वह निष्फल हुई। यह देखकर कि न तो आगे बढ़ सकते हैं और न तो पीछे हट सकते हैं, अङ्गरेजी सेना तलेगाँव का आश्रय लेकर ठहर गई। परन्तु उसने देखा कि तलेगाँव मे अनाज घास आदि मिलना कठिन है। यह मौका देखकर मराठी सेना ने ४ मील के अन्दर से उसे घेर लिया। ऐसी अवस्था मे आगे बढ़कर पूना जाना तो असम्भव था, परन्तु सूत्रपात करते हुए पीछे हटने का शायद वहीं मार्ग खुला हो, ऐसा समझकर ता० ६ जनवरी को अङ्गरेजी सेना खड़ाले की तरफ चली। जब मराठा को यह बात मालूम हुई तब उन्होंने तोपों की मार शुरू कर दी। एक रात्रि म ३०० ४०० अङ्गरेज मारे गये और पाँच तोपें, १००० बन्दूकें मराठों के हाथ लगी। अङ्गरेजी सेना बड़ी कठिनाई से पीछे हटते हुए २-३ मील पीछे जाकर बड़गाँव म घुसी, परन्तु वहाँ भी मराठो की तोपों की मार बराबर होती रही तथा सवार और पैदल दोनो फौजो ने आक्रमण किया।

तारीख १४ को अङ्गरेजों ने मिस्टर फार्मर नामक अपना वकील मराठा लश्कर म सन्धि की बातचीत करने को भेजा। उन्हे नाना फडनवीस ने पहली शत यह सुनाई कि रघुनाथराव को हमारे अधिकार मे करो। सन्धि तुमने तोडी है अर्थात् पहले की सन्धि अब रद्द हो गई। इसलिए साष्टी, उरण जम्बुसर आदि पेशवे और गायकवाड के जो जो प्रदेश पहले तुमने लिए हैं उन सबको लौटाना होगा और पहले श्रीमन्त नाना साहब तथा माधवराव पेशवा के साथ की हुई सन्धि के अनुसार देश पाने की आशा छोडो और केवल मित्र भाव से रहने को तैयार होओ। ये शर्तें बहुत कठिन समझकर अङ्गरेजो के वकील ने सिंधिया से बातचीत शुरू की, परन्तु उसने जरा भी ध्यान न दिया। ये शर्तें स्वीकार करने की अपेक्षा जितनी हानि हो उसे सहकर निर्णय पूरा करने के प्रयत्न का विचार फिर से हुआ, परन्तु अङ्गरेज अधिकारियो मे उसके शक्य या अशक्य होने के विषय म मतभेद हुआ। फिर से सिंधिया से बातचीत शुरू की गई और उनसे अङ्गरेज वकील ने कहा "यदि आज हम निरुपाय होकर यह सन्धि स्वीकार कर ले तो उसके

करने का हमे पूरा अधिकार न होने से सम्भव है कि उसे कलकत्ते वाले स्वीकार न करे।" सिंधिया ने उत्तर दिया, "अब पुरन्दर की सधि तोडने का तुम्हे अधिकार था, तब सधि करने का भी अधिकार तुम्हे होना ही चाहिये और यदि रघुनाथराव को हमारे अधीन करने म तुम्हे बहुत कष्ट होता हो, तो तुम स्वय यह न करो, उसे हम स्वत कर लेंगे, परन्तु नाना फडनवीस की दूसरी शर्तें तो तुम्हें माननी ही पड़ेंगी। यदि नही मानोगे तो उसका फल बुरा होगा। हम तुम्हें एक पग भी आगे नही बढने देंगे।" तब लाचार होकर अङ्गरेजो को नाना फडनवीस की शर्तें माननी ही पडी और सन् १७६२ से साष्टी के सहित जो जो प्रदेश ले रक्खे थे वे सब लौटाने को तैयार हो गए और यह स्वीकार किया कि 'कलकत्ते से जो कनल गाडन सेना के साथ आ रहा है उसे लौटाने को लिख देंगे और रघुनाथराव को तुम्हारे अधीन कर देंगे, फिर सिंधिया उनका चाहे जो प्रबन्ध करे तथा रघुनाथराव से आज तक जो दस्तावेज, सधि पत्र आदि लिये हैं वे सब तुम्हें लौटा देंगे। इस सधि के अनुसार काम करने को जमानत के तौर पर कप्तान स्टुअट तथा फार्मर मराठो के पास रहेंगे।' यह सधि करा देने मे, सहायता करने के उपलक्ष मे नाना फडनवीस ने सिंधिया को भडोच और चार लाख रुपये देना स्वीकार किया।

ऊपर के अनुसार सधि हो जाने पर रघुनाथराव तीन सौ सवार, दस बारह सौ सिपाही, कुछ तोपें आदि सामान के साथ सिंधिया के पडाव मे आये। रघुनाथराव के पडाव के चारो ओर, परन्तु दूर-दूर, सिंधिया की चौकियाँ थी। रघुनाथराव यद्यपि नजर कैद थे, परन्तु उनका सब प्रबन्ध सिंधिया के साथ होने के कारण उनकी देख-रेख, दूर से ही क्यो न हो, किन्तु बडी सावधानी से सिंधिया को करनी पडती थी। रघुनाथराव के अन्य साथियों को यह सुभीते नही दिये गए थे। चिंतो विट्ठल, रायरीकर और खडगसिंह अन्य कैदियो की तरह रक्खे गये थे। नाना फडनवीस ने रघुनाथराव से मिलना भी अस्वीकार कर दिया और सिंधिया के द्वारा उनसे यह लिखवा लिया कि "अब हम पेशवा की गद्दी पर किसी प्रकार का हक नही जमायेंगे।' औरो के समान सखाराम बापू को इस समय ठीक कर देना उचित था, क्योकि नाना फडनवीस के पास उसके विद्रोही होने का लिखित प्रमाण था, परन्तु सिंधिया ने उस समय यह बात दबा दी थी। अङ्गरेजो के चले जाने पर रघुनाथराव के सहित सिंधिया की सेना एक माह तक तलेगाँव मे और पडी रही। अन्त मे रघुनाथराव को झाँसी म रखना निश्चित हुआ और उनके खर्च के लिये पाँच सात लाख रुपये वार्षिक तथा उन पर देख-रेख करने के खर्च में लिए सिंधिया को उतने ही रुपये नाना फडनवीस ने देना स्वीकार किया। तब सिंधिया ने अपने सरदार हरि बाबाजी की कैद म रघुनाथराव को झाँसी म रवाना किया। इतनी व्यवस्था हो जाने के बाद सखाराम बापू को उसी के हाथ का लिखा हुआ

विद्रोही-पत्र दिखाया गया और इस अपराध में सिंधिया द्वारा कैद करवा कर उसे सिंहगढ़ मे रखा।

सवाई माधवराव का विलायत के बादशाह को पत्र

मराठों और अङ्गरेजों के सम्बन्ध का यह प्रकरण समाप्त करने से पहले यहाँ वह पत्र उद्धृत करना हम उचित समझते हैं, जो पेशवा ने इङ्गलैंड के राजा को लिखा था। इस पत्र मे रघुनाथराव के षड्यन्त्र का दोष अङ्गरेजो पर लगाया गया है। मूल पत्र मराठी भाषा मे है और 'ऐतिहासिक लेख संग्रह' मे प्रकाशित हो चुका है। इस पत्र म नाना फडनवीस ने मराठों और अङ्गरेजो के सम्बन्ध का वर्णन बहुत रोचक ढङ्ग से किया है।

"बहुत समय व्यतीत हुआ। आपकी ओर से मैत्री का कोई पत्र न आने के कारण चित्त खेद से विचलित हो रहा है। मित्रता के व्यवहार म यह होना उचित नहीं। सदा पत्र व्यवहार का होना ही ठीक है। संसार म मित्रता के सिवा उत्तम वस्तु अन्य नही है। हम यही चाहते हैं कि पहले की शर्तों के अनुसार चलकर दोनो ओर से मित्रता की वृद्धि दिन पर दिन होती रहे। पहले हमारे राज्य मे पोर्तगीज और डच लोग व्यापार करते थे। उस समय बम्बई एक छोटा सा स्थान था और अङ्गरेज थोड़े से लोगों के साथ विलायत से बम्बई मे आते जाते थे। तब बम्बई के गवर्नर ने स्वर्गीय बाजीराव पेशवा से मित्रता की सन्धि की। उस समय कहा जाता था कि सब टोपी वालों म अङ्गरेज बादशाह बहुत अच्छे स्वभाव के, सत्यवादी, वचन के पक्के, न्याय-निष्ठ और कौल-करार के अनुसार *चलने वाले हैं। इसी बात पर ध्यान देकर बम्बई* वालो से सन्धि की गई और उसके अनुसार पुर्तगालियो तथा डच लोगो का व्यापार बन्दकर अपने राज्य मे अङ्गरेजो को व्यापार करने की आज्ञा दी गई। यह सन्धि स्वर्गीय नाना साहब ने भी स्वीकार की, परन्तु उस समय हमारी सरकार के करारों के अनुसार आंग्रे अङ्गरेजो से व्यवहार नहीं करता था, उलटा उनसे शत्रुता और झगड़ा करता था। अत आंग्रे को यहाँ से लिखा गया, पर उसने सरकारी आज्ञा नही मानी। तब सरकार की ओर से रामा जी महादेव को आज्ञा देकर आंग्रे के विजय दुर्ग आदि किलों पर घेरा डलवा दिया गया। इन्हीं दिनों अङ्गरेजों के सैनिक जहाजों ने सूरत के किले पर अधिकार कर लिया। उस समय अङ्गरेजो से यह बात हो गया था कि भीतर के सब सामान सहित किला हमारे हवाले करना होगा, परन्तु अङ्गरेजो ने उसके भीतर का सामान हमें न देकर खाली किला हमे दिया। करार के अनुसार किले की सामग्री हमको मिलनी चाहिए थी परन्तु हमने मित्रता के कारण उनसे कुछ नहीं कहा। कुछ समय बाद नाना साहब की मृत्यु हो गई और माधवराव साहब राज्याधिकारी हुए। उन्होंने भी पहले के करारों को मञ्जूर किया और जिस तरह मैत्री पहले से चली था

रही थी उसे चलाया। उस समय विलायत से आपका पत्र लेकर टामस मास्टिन माधव-राव साहब की सेवा में उपस्थित हुए। उस पत्र में लिखा था कि मास्टिन को "श्रीमान् अपनी सेवा में सदा रक्खें। यदि कोई अङ्गरेज कुव्यवहार करेगा तो मास्टिन साहब उसे सचेत करेंगे, जिसमे दोनों पक्षो की मित्रता मे कमी न हो।' अङ्गरेजो से पहले ही दोस्ती थी। उस पर जब श्रीमान् का पत्र आया, तो बहुत प्रसन्नता हुई और अङ्गरेजों के वकील को दरबार मे रखने का नियम न होने पर भी मास्टिन साहब को केवल आपके पत्र के कारण सम्मान के साथ पूना मे रक्खा गया। मास्टिन साहब पाँच सात वर्षों तक दरबार में रहे। कुछ दिनो बाद माधवराव साहब स्वगवासी हुए। इसलिए नारायणराव साहब जो राज्य के उत्तराधिकारी थे, राज्य करने लगे। उनके साथ रघुनाथराव ने भाई बन्धु होने पर भी विश्वासघात किया। उसका यह काम लोक रीति के विरुद्ध था और हिन्दू धर्म के अनुकूल भी नही था, तथा मुसलमान और टोपी वालो के धर्म के भी विरुद्ध होगा, यह जान कर राज्य के सरदार, उमराव, कारभारी और कर्मचारियों ने मिलकर रघुनाथराव को अधिकार से भ्रष्ट और पदच्युत कर दिया। उस समय हमारे कारभारी लड़ाई पर गए हुए थे, अत बम्बई वाला ने मौका पाकर अपनी दृष्टि बदल ली और सब शर्तों को तोड़कर साष्टी द्वीप ले लिया, फिर रघुनाथराव को आश्रय दिया। पाच वर्षों से युद्ध प्रारम्भ है। इन दिनो मे फ्रेन्च आदि टोपी वालों ने अपना वकील भेज कर हम से मैत्री करने की बहुत उत्कण्ठा दिखलाते रहे, परन्तु दूर-दृष्टि स हमने यह सोचा कि आप कहेंगे कि हमें पहले सूचना देना उचित था, जिससे हम बम्बई वालों को तुम्हारी शर्तों के अनुसार चलन को बाध्य करत। इसी विचार के अनुसार और पहले के कौल करारो को ध्यान मे रखकर यह पत्र आपको भेजा जाता है। आप पूछेंगे कि बम्बई वालो से कौन सा व्यवहार अनुचित हुआ? उसी के उत्तर म आपको स्पष्ट और पूर्ण-रीति से उनके अनुचित व्यवहार यहाँ लिखे जात हैं ताकि आप अच्छी तरह से जान जायें और आपको विश्वास हो जाय।

नाना साहब के स्वगवास के पश्चात् राज्य के अधिकारी माधवराव और नारायणराव थे। माधवराव साहब की भी मृत्यु हो गई, जिसस नारायणराव राज्य करने लगे। उस समय हमारे कुटुम्बी रघुनाथराव ने दगा कर राज्य करने के इरादे से नारायणराव का खून किया। यह बात हिन्दू-धर्म के प्रतिकूल थी और राज्य का अधिकार भी हमारा था। अत कारभारी और सब अमीर उमरावो ने रघुनाथराव को अधिकार से वञ्चित कर दिया और कारभारी लोग सेना आदि के साथ रघुनाथ-राव को रोकने के लिये गये। यह अच्छा मौका देखकर मास्टिन साहब ने बम्बई वाला को लिखा और हमारी सरकार के साष्टी आदि चार द्वीप ल लिय। वहाँ हमारी सर-कार का शासन था और सरकार का तथा प्रजा का जो बहुत अधिक धन वहाँ था, वह सब अङ्गरेजो ने ले लिया। इस तरह दूर दृष्टि न रखकर और सब शर्तों को तोड़कर

अङ्गरेजों ने यह झगड़ा खड़ा कर दिया। टामस मास्टिन श्रीमान् का पत्र लेकर दरबार में रहने को आये थे। उसमें लिखा था कि यदि कोई अङ्गरेज बेअदबी करेगा तो उसे सूचित कर दोस्ती निबाही जायेगी। विजय-दुर्ग में आये की जो करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति थी उसे हमारे हवाले कर देने का वचन था, सो उसे देना तो दूर रहा उलटे मास्टिन साहब ने यह नया खेल और खेला और स्वयं बेअदबी की। अब आप ही सोचिये, बादशाही हुक्म और कौल करार कहाँ रहे ?

स्वर्गीय बाजीराव के समय से करीब चार-पाँच बार अङ्गरेजों से सन्धियाँ हुईं जिनमें अङ्गरेजों ने करार किया कि सरकार के शत्रुओं को और राज्य के या घर के किसी भी मनुष्य को, न तो हम आश्रय देंगे और न उनकी सहायता करेंगे, किन्तु उन्हें सरकार के अधीन कर देंगे। यह करार रहते हुए भी अङ्गरेजों ने रघुनाथराव को आश्रय दिया और उसके सहायतार्थ कर्नल कीटन ने अंगरेजों की फौज के साथ गुजरात प्रान्त के करोड़ों रुपये के प्रभृति प्रदेश को नष्ट कर दिया और चालीस-पचास लाख रुपये भी वहाँ से वसूल कर लिये। उनका सामना करने को जो हमारी फौजें गई थीं, उन पर भी करोड़ों रुपयों का खर्च हुआ। हमारे और अंगरेजों के बीच में जो शर्तें हुई थीं, उनको भी उन्होंने तोड़ डाला और साष्टी ले लेने के बाद हमें लिखा कि उसे पुर्तगाली लेने वाले थे, अतः हमने ले लिया। भला, यह कहाँ का न्याय है ?

कर्नल कीटन ने रघुनाथराव को साथ लेकर गुजरात प्रान्त में धूम मचाना शुरू किया। इसलिए उनका सामना करने को सरकारी फौज और सरदार भेजे गये। एक दो युद्ध हुए और युद्ध चल ही रहा था कि इतने में ही कलकत्ते के जनरल और कौंसिल ने पत्र लिखा कि "अङ्गरेजों को किसी का राज्य नहीं चाहिए और अङ्गरेज बादशाह तथा कम्पनी यह चाहती है कि किसी को सैनिक सहायता देकर झगड़ा न किया जाय। बम्बई वालों ने जो बीच में यह झगड़ा खड़ा किया है उसके लिए कलकत्ते से लिखा गया कि झूठा झगड़ा मत खड़ा करो सेना को वापस बुला लो। दोनों ओर से मैत्री की वृद्धि के लिए एक प्रतिष्ठित वकील को यहाँ से भेजा जा रहा है। सरकार भी अपनी फौज और सरदारों को युद्ध न करने के लिए आज्ञा दे।'

कलकत्ता वालों की बादशाह और कम्पनी का मुलाहिजा समझकर और उनका लिखना उचित, न्यायानुमोदित और मैत्री के अनुकूल होने से सरकार ने अपनी सेना तथा सरदारों को लौट आने की आज्ञा दे दी। उसके अनुसार सरकारी सेना लौट आयी। कर्नल कीटन ने इस समय मैदान साफ देखकर तथा हमारी फौज का डर न रहने के कारण, कलकत्ता वालों की बातों पर ध्यान न देकर रघुनाथराव के साथ हमारी सरकार के सरदार फतहसिंह गायकवाड़ पर चढ़ाई कर दी और उनमें सम्पत्ति तथा बहुत सा प्रदेश ले लिया। इतने में ही कलकत्ता के वकील कर्नल जान हापून कलकत्ता से हुजूर के दरबार में आये। उन्होंने कहा—"सम्पूर्ण हिन्दुस्थान और दक्षिण के

सभी बन्दरो की देखभाल के लिए कलकत्ते की कौन्सिल और अङ्ग्रेज मुख्य अधिकारी हैं। उनका मुख्तारनामा लेकर हम आये हैं। अत हम जो सधि करेंगे वह बन्दरो पर रहने वाले सभी अङ्ग्रेजो को मान्य होगी।" उस समय सरकार के मन्त्री ने कहा कि "सब झगडे की जड बम्बई वाले हैं। कलकत्ता वालो के सूचना दे देने पर भी जब कनल कीटन ने झगडा बढाया, तो तुम्हारी फिर मुख्तारी कहाँ रही? अत पहले बम्बई वालो की ओर से किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति को लाओ, तब सधि होगी।" इसका उत्तर उक्त कनल ने इस प्रकार दिया कि "अङ्ग्रेजो का नियम है कि वे मुख्तार की सब बात मानते हैं। इसलिए बम्बई वालो की क्या मजाल कि वे कलकत्ता वालो के ठहराव के विरुद्ध कुछ करें।" फिर उसने कम्पनी की मुहर लगा मुख्तारनामा दिखलाया। तब सरकार और अङ्ग्रेजो की सधि हुई और उसके अनुसार उक्त कनल ने कलकत्ता की कौन्सिल के हस्ताक्षर सहित कम्पनी की मुहर लगी हुई सधि-पत्र सरकार मे दाखिल किया और सरकारी इकरारनामा लिया। कनल जान हाप्टन ने सधि की सूचना बम्बई वालो को दी और बम्बई वालो ने भी अपने शहर मे सधि होने की डुग्गी पिटवाकर कर्नल जान हाप्टन को लिख दिया कि हमने आपकी की हुई सधि को स्वीकार किया है। इस इकरारनामे के अनुसार कनल हाप्टन ने और बम्बई वालो ने कर्नल कीटन को लिख दिया कि तुम रघुनाथराव का साथ छोड दो, परन्तु कीटन दो महीने तक टाल मटोल करते रहे और अन्त में सूरत चले गये और रघुनाथराव को अपने पास बुला लिया। सरकारी फौज जब हमारे पास आ गई तो रघुनाथराव को सूरत से झुम्की के मार्ग से बम्बई भेज दिया। उस समय सरकार के मकानो को रघुनाथराव ने मार्ग मे हानि पहुँचाई। अत फिर सरकारी फौज रघुनाथराव पर भेजी गई, परन्तु बम्बई वालों ने जहाज भेजकर उनको बम्बई बुला लिया। यह सब स्थिति सरकार ने कलकत्ते को लिखी। तब कलकत्ता वालो ने उत्तर दिया कि "हमने लिख दिया है कि अब वे कम्पनी की ओर से रघुनाथराव को आश्रय न देंगे।" परन्तु बम्बई वालो ने फिर भी कलकत्ता वालों का कहना नही माना और रघुनाथराव को अपने आश्रय मे रखकर सरकारी राज्य मे उत्पात मचाना शुरू किया। नवीन सधि का भी जब यह फल हुआ तो फिर सदा के सरलतापूर्ण व्यवहार को पूछता ही कौन है?

कलकत्ता वालो ने लिखा था कि "अङ्ग्रेज किसी का राज्य नहीं चाहते, और किसी की सहायता करना भी बादशाह तथा कम्पनी को स्वीकार नही है। कम्पनी के सर्वेसर्वा हम हैं।" उनके इस लिखने को प्रामाणिक समझकर तथा अङ्ग्रेज बादशाह न्यायी हैं, अत उनके कर्मचारी भी न्यायी होगे, ऐसा जानकर बम्बई वालो ने जो दुर्व्यवहार और अन्याय किया था, उसका न्याय करने का काम कलकत्ते के गवनर जनरल और कौंसिल को दिया गया। इस पर उन लोगो ने कुछ नही किया। उन्होंने अपने स्वार्थवश, बम्बई वालो के हस्तगत किये हुए साष्टी आदि प्रदेश सरकार के सुपुर्द करने

की आज्ञा बम्बई वालो को नही दी। ऐसी दशा मे मुख्तारी और न्याय प्रियता कहाँ रही।

कोकण प्रान्त म समुद्र के किनारे पर कुछ विद्रोहियो ने विद्रोह शुरू किया उन्हें दबाने के लिए सरकारी फौज भेजी गई। तब विद्रोही लोग कुछ धन लेकर साष्टी की ओर भाग गये। वहाँ उन्हें आपके आदमियों ने आश्रय दिया। कोंकण की लाखों रुपयो की सम्पत्ति विद्रोहियो के पास ही रह गई। विद्रोही लोग जब जहाज पर बैठकर बम्बई जाने लगे तो राघो जी आंग्रे ने उन्हे कैद कर लिया। इस पर बम्बई के अङ्गरेजो ने आंग्रे को लिखा कि "तुमने बम्बई आते हुए विद्रोहियो को क्यो कैद कर लिया? उन्हें हमारे पास भेज दो, नही तो हम तुम पर चढाई करेंगे।" भला, सन्धि हो जाने के बाद ऐसी चाल चलना और विद्रोहियो को शरण देना किस राज नियम के अनुसार है?

फ्रान्स के बादशाह ने स्वय अपने वकील को हमारे दरबार मे भेजा था। परन्तु हमने उन्हे अपने यहाँ अङ्गरेजो की मैत्री का ख्याल रखकर नही रक्खा। यद्यपि हम रख सकते थे, क्योकि कनल हाप्टन द्वारा जो अङ्गरेजो से सन्धि हुई थी, उसमे यह शर्त कही नही है। इस पर आप ध्यान दें।

फतेहसिंह गायकवाड सरकार के सरदार हैं। इनसे चिखली आदि ताल्लुके अङ्गरेजो ने ले लिया है। इस सम्बन्ध मे कमल जान हाप्टन से बातचीत की, तो उन्होने कहा कि—"यदि फतेहसिंह गायकवाड पत्र द्वारा हमे यह लिखें कि ताल्लुका आदि देने का अधिकार रावपन्त प्रधान को है हमको नहीं, तो हम लिए हुए स्थान आपको लौटा देंगे।" गायकवाड का पत्र भी मगा दिया है, तो भी हमे ताल्लुके नही सौंप गये। क्या यह कार्य उचित है?

सरकार ने सन्धि के अनुसार सब शर्तों का पालन किया है, परन्तु बम्बई वालो की ओर से एक भी शर्त पूरी नहीं की गई प्रत्युत अङ्गरेजी सेना के साथ रघुनाथराव को लेकर बम्बई वाले कोकण प्रान्त के सरकारी जिलों में आये और वहाँ से कम्पनी के मुहर किये हुये पत्र रघुनाथराव की ओर से सरकारी सरदार और मन्त्रियो को भेजे जिसमे लिखा था कि— 'रघुनाथराव को गद्दी पर बैठाने की सलाह कौंसिल की कलकत्ते के गवर्नर की ओर हमारी सक्रेट कमेटी की है।" यह पत्र सरकार मे ज्यों क त्यों मौजूद हैं। आप इसकी जाँच करें कि ऐसा लिखने का क्या कारण था और इन्हें क्या अधिकार था?

सम्पूर्ण शर्तों को ताक पर रखकार रघुनाथराव को साथ मे ले फौज के साथ कारनेक आदि अङ्गरेज मन्त्रियो पर चक्कर पूना के पास तलेगाँव तक आये। सरकारी सरदार और कर्मचारी अपनी फौज के साथ सामना करने को तैयार हुए। जहाँ न्याय है वहाँ जय है। यहाँ भी यही सर्वमान्य सिद्धान्त सत्य ठहरा। अङ्गरेजों ने ये समाचार आपको लिखे ही होंगे। उस समय कारनेक आदि अङ्गरेजो ने फिर सन्धि की ओर

कम्पनी सरकार की ओर से युद्ध तथा सधि करने के अधिकार को अपने नाम का मुख्तारनामा बतलाया और कहा कि ,'कम्पनी की मुहर हमारे पास मौजूद है, हम जो करेंगे वह सब को मान्य होगा ।' इस सधि के अनुसार साष्टी, जम्बुसर, गायकवाड के परगने और भडोच लौटाने की प्रतिज्ञा अङ्गरेजों ने की और रघुनाथराव का प्रदेश भी लौटाना स्वीकार किया। कनल हाप्टन की मार्फत जो सधि हुई थी, वह भी बम्बई वाला की ओर से अमल में नही आई, इसलिए वह सधि भी रद्द हो गई। फिर एक नया इकरारनामा लिखा गया जिस पर मुहर लगाई गई । इसके अनुसार यह ठहराव हुआ कि— "पहले की सन्धि के अनुसार दोना पक्ष काम करें और साष्टी, प्रभृति द्वीप, जम्बूसर आदि परगने और भडोच का शासन हमारे अधीन कर दिया जाय।" इस शर्त के पूरे होने तक चार्ल्स स्टुअट और फारमर नामक अङ्गरेजो को बतौर जमानत के पूना दरबार म रक्खा और कारनेक आदि अङ्गरेजो को माग मे रक्षा के लिए सेना साथ देकर बम्बई पहुँचाया। रघुनाथराव अङ्गरेजो के यहाँ से निकल कर हमारे यहाँ आये। इतना होने पर भी अङ्गरेजो ने शर्तों के साथ काम नहीं किया, अलग कलकत्ते के अङ्गरेजो से सैनिकों सहायता मागी। कलकत्ते वालों ने भी बम्बई के लिखने पर लेस्लीन नामक सरदार को सेना के साथ बम्बई भेजा। पहले से यह नियम चला आता है कि अङ्गरेज लोग समुद्री माग मे आवागमन करते हैं, स्थल-माग से नहीं। अत कलकत्ते वालो का सरकार की ओर से लिखा गया कि खुश्की क रास्ते से सेना भेजने का कारण क्या है ? उन्होने उत्तर दिया कि "बम्बई वाला ने सेना मगाई है, इसलिये वहाँ के बन्दरो पर प्रबध करने को भेजी गई है।" कनल लस्लीन की मृत्यु रास्त ही मे हो गई, अत कनल गाडर मुख्तार और सरदार होकर सेना सहित सूरत आये और वहाँ से सरकार को लिखा कि "किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति को सधि करने के लिए भेज दीजिये। हम प्रतीक्षा कर रहे हैं अथवा स्थान नियत कीजिये तो हम स्वय मैत्री करने को आ जावें।" यह लिखना विश्वास योग्य समझ कर सरकार की ओर से प्रतिष्ठित पुरुष सूरत को रवाना किये गये। इतने म रघुनाथराव ने सरकारी सरदारा की फौज म उपद्रव खड़ा कर दिया और आप सूरत चला गया । कनल गाडर ने भी अपनी निगाहें बदली। वे सवाल कुछ और जवाब कुछ देने लगे। हकारे वकील को लौटा दिया। फिर कलकत्ते वालो का पत्र आया कि स्नेह (इसके आगे के शब्दो को नकल करने वाला न छोड दिया है, ऐसा मालूम होता है।)

कनल गाडर सेना के सहित सूरत से रवाना होकर गुजरात के सरकारी जिलों मे उपद्रव कर रहे हैं। माग मे और भी दूसर स्थानो को हानि पहुँचाई है। इसलिए उनका सामना करने क लिये सरकारी फौज और सरदार भेजे गये हैं, युद्ध जारी है। बम्बई वाला ने भी कोकण प्रान्त मे झगडा खडा कर दिया है। उनका बन्दोबस्त करने के लिए भी सरकारी सेना भेजी गई है। इस समय दोहरी लडाई हो रही है।

की ओर से पहले कोई बात शर्तों के विरुद्ध नहीं की गई। बम्बई और कलकत्ता वालों से हमने सन्धि के अनुसार ही व्यवहार किया, परन्तु वे लिखते कुछ हैं और करते कुछ हैं। बम्बई वाले कहते हैं कि हम कलकत्ता वालों की बातें स्वीकार नहीं हैं। कलकत्ता वाले कहते हैं कि बम्बई वालों ने सन्धि करने में भूल की है, हम उसे मन्जूर नहीं कर सकते। दोनों एक दूसरे पर डालते हैं। एक दूसरे से सहमत तो नहीं दीखते हैं, परन्तु दोनों के काम करने की पद्धति भीतर से एक है। अब हम क्या समझना चाहिये। राज्य में सबसे बड़ी बात वचन पर दृढ़ रहना है। यदि इसमें भिन्न भिन्न झगड़े खड़े हों और ठहरी हुई शर्तों का पालन किया जाय तो फिर लाचारी है। आपके ध्यान में सब बातें आ जाय, इसलिये सब बातें साफ-साफ लिखी गई हैं। आप जैसा उचित समझें वैसा प्रबन्ध करें।'

भारतवर्ष में सुविज्ञ, सत्य भाषी, परपिडा करने वाले, न्याय निष्ठ दृढ़ निश्चय होने के सम्बन्ध में चारों ओर आपकी ख्याति है, इसलिए दूरदर्शी होकर आप बम्बई और कलकत्ते वालों को स्वर्गीय रावपन्त प्रधान से जो करार हुई है उनके अनुसार चलने के लिये तथा अशिष्ट और छली व्यवहार न करने के लिये बाध्य करें। यदि वे लोग आपके आज्ञाकारी नहीं हैं और नौकरी के विरुद्ध आचरण करने का उनका विचार हो, तो फिर आपका वश ही क्या है? परन्तु ऐसा होने पर आप हमें तुरन्त उत्तर देवें, जिसमें दूसरा प्रबन्ध किया जावे। राज्य देना ईश्वराधीन है और यह बात सब धर्मों में प्रसिद्ध है कि जहाँ न्याय और नियमितता है, वहीं ईश्वर है। इसके बाद जो घटना होगी वह सामने आवेगी। हम उत्तर की प्रतीक्षा में रहेंगे। यह पत्र विलायत के अङ्गरेज बादशाह की सरकार के नाम से दिया जाता है। अङ्गरेजों ने जगह-जगह विश्वास और वचन देकर और उन्हें फिर भङ्ग कर कितनों ही के राज्य ले लिये हैं। नौ दस करोड़ आमदनी का देश अधीन कर लिया गया है, इसलिये न्याय अन्याय की खूब छान बीन करें।'

चौथा अध्याय

बाद की घटनायें

बडगाँव की अपमान जनक सधि को बम्बई कम्पनी वालों ने स्वीकार नही किया और कलकत्ता की कम्पनी वालो का भी यही हाल हुआ, अत उन्होंने तुरन्त ही कनल गोडर्ड को पूना पर आक्रमण करने का आदेश दिया और कह दिया कि यदि पुरन्दर की सधि को फिर से दोहराने की तथा फ्रेन्चो को किसी भी प्रकार स सहायता न देने की शर्त स्वीकार कर तो नवीन सधि करने और यदि यह न हो सके, तो युद्ध करने का पूर्ण अधिकार तुम्हें दिया जाता है। परन्तु अधिकारी वग भी बडगाव की सधि रद्द करने के लिये तैयार नही थे अत कर्नल गोडाड बुदेलखण्ड होकर पहले सूरत आया। वहाँ से डभोई आकर उसने गायकवाड से गुजरात का बटवारा करने की सधि की, फिर अहमदाबाद पर चढाई करने को गायकवाड से की गई नवीन सधि के अनुसार अहमद बाद पेशवा से छीन कर फतेहसिह राव गायकवाड को देना था, अत अहमदाबाद पर घेरा डालकर और धावा करके गोडार्ड ने उस छीन लिया। इतने ही में उसे समाचार मिला कि सिधिया और होलकर चालीस हजार सेना के साथ मुझ पर चढे चले आते हैं तब वह बडोदा पर आक्रमण करने को निकला। गोडाड को आते देख सिधिया ने बडगाँव की सधि के अनुसार जो दो अङ्गरेज जामिन बना कर रक्खे थे उन्हें छोड दिया और अपना वकील साथ मे देकर गोल्ड के पास भेज दिया और यह बातचीत शुरू की कि "रघुनाथराव ठहराव के अनुसार गद्दी का सब हक छोड देवें और उनके लडके बाजीराव को पेशवा का दीवान नियत कर सब कारभार हमारी देखरेख में चलना स्वीकार करें तो बडगाँव की सधि का सशोधन करने का विचार हम कर सकते हैं। परन्तु गोडार्ड ने यह स्वीकार नही किया, अत दोनो ओर से युद्ध करने का विचार निश्चित हुआ। उस समय बम्बई कम्पनी की सम्मति थी कि कनल गोडार्ड, सिधिया और होलकर पर चढाई न करके पहले बसई का प्रबध पक्का कर लें तो अच्छा हो परन्तु कनल गोडार्ड ने उनकी सम्मति पर ध्यान न दिया तथा कर्नल हार्टले को बम्बई की सेना के साथ बसई भेजा और वर्षाऋतु आ जाने के कारण अधिक हलचल होने की सम्भावना न देख सिधिया और होलकर भी अपने-अपने स्थान को लौट गये। इसी समय समाचार आया कि हैदरअली ने साठ हजार सेना के साथ कर्नाटक पर चढाई कर दी है, इसलिये कनल गोडाड को कलकत्ता से आज्ञा मिली कि पूना की तरफ

का काम बहुत जोखिम से पूरा करो। दिसम्बर में गोडार्ड ने बसई ले लिया और उसी सिलसिले में पूना पर चढ़ाई करने के लिये सन् १७८१ के फरवरी मास में वह भोरघाट आ पहुँचा। यहाँ उसे मालूम हुआ कि आगे बढ़ने में बड़ा खतरा है। इधर बम्बई कम्पनी के लोगों ने कल्याण को वापस लौट आने और वर्षाऋतु में बम्बई में जाकर छावनी रखने का आग्रह किया, इसलिये उसने अपना मार्ग फिराया और कल्याण का रास्ता पकड़ा परन्तु रास्ते में मराठों की फौज ने उसे मार मार कर जर्जर कर दिया। इस कार्य में हरिपन्त परशुराम भाऊ मुखिया थे। इस तरह से पूना पर संकट टल गया। जिस समय गोडार्ड पूना की ओर बढ़ा चला आ रहा था उस समय यह देख कर कि मराठों की बड़ी भारी सेना होते हुए भी वह घाटियों तक आ पहुँचा है पूना वासी बड़े घबड़ाये और भाग खड़े हुये, परन्तु अन्त में ऊपर लिखे अनुसार गोडार्ड को ही लौट जाना पड़ा, ता० १६-२६ और २६ मार्च तथा फिर तारीख २० और २१ अप्रैल को दोनों ओर से भयङ्कर मार-काट हुई जिसमें अङ्गरेजों को भारी हानि हुई और बम्बई से रसद आने का रास्ता भी भय पूर्ण हो गया, परन्तु इतने कष्ट सहकर अन्त में गोडार्ड पनवेल पहुँच ही गया।

इसी समय उत्तरी हिन्दुस्थान में अङ्गरेजों और सिन्धिया के बीच युद्ध छिड़ गया था। माघ महीने में सिन्धिया तथा कमेक और कर्नल म्यूर की सेना में मारकाट हुई। यद्यपि इस युद्ध में अङ्गरेजों को थोड़ी बहुत सफलता मिली तथापि अभी तक सिन्धिया उनकी छाती पर छावनी डाले पड़ा ही रहा। इधर हैदरअली के सर उठाने के कारण अङ्गरेज और मराठा का युद्ध धीरे धीरे शिथिल पड़ने लगा। हिन्दुस्तान भर के अङ्गरेजों से युद्ध करने के लिए निजामअली, हैदरअली तथा भोंसले आदि मराठों ने निश्चय किया था, परन्तु निजाम अली ने कुछ नहीं किया। भोंसले ने कुछ नहीं किया भोंसले ने बङ्गाल पर चढ़ाई करने का बहाना करके अन्त में अपनी अलग सन्धि कर ली। रह गये हैदरअली और मराठे—ये दोनों लड़ रहे थे और इन दोनों में से भी मराठों का झगड़ा बहुत कुछ मिटने पर आया था क्योंकि पहले के युद्ध में अङ्गरेजों ने मराठों से हार, रघुनाथराव का पक्ष छोड़कर सन्धि कर ली थी, परन्तु उत्तर हिन्दुस्तान को जाते समय रघुनाथराव ने सिन्धिया के सरदार हरि बाबा जी को मारकर उसका पड़ाव लूट लिया और फिर सूरत जाकर वह कर्नल गोडार्ड से मिल गया। अङ्गरेजों ने भी उसे पाँच हजार रुपये मासिक देना ठहरा कर अपने आश्रय में रख लिया। इसलिये कर्नल गोडार्ड ने पूना के अधिकारियों द्वारा की हुई सन्धि की उपेक्षा की और कहने लगे कि पहले साष्टी प्रान्त और रघुनाथराव को हमारे अधीन करो तब हम सन्धि लेंगे। इस प्रकार उत्तर मिलने पर फिर युद्ध आरम्भ हुआ और ऊपर लिखे अनुसार किसी को भी उसमें जय नहीं मिली, किन्तु असन्तोष रूपी वृक्ष बढ़ता ही गया और उसमें शाखायें फूटने लगीं। इसी समय अकेले हैदरअली ने सिर उठाकर अङ्गरेजों को पराजित किया और

सालबाई की सन्धि हो जाने पर भी रघुनाथराव सिंधिया के अधीन रहना स्वीकार नहीं करते थे परन्तु सन्धि हो जाने के कारण उन्हें अपने राज्य में रहने देना अथवा उन्हें माहवार वृत्ति देते रहना सम्भव नहीं था। अपने राजनैतिक कार्यों के लिये अनिष्ट उत्पाती और द्रोही रघुनाथराव से अंगरेजों को स्पष्ट कहना पड़ा कि अब तुम तुरन्त छोड़कर अन्यत्र चले जाओ। यद्यपि सिंधिया ने रघुनाथराव को लिखा था कि यदि तुम पूना दरबार के राज्य में नहीं रहना चाहते तो मेरे राज्य में रहो। मैं तुम्हें आश्रय देने को तैयार हूँ परन्तु रघुनाथराव ने यह नहीं माना और गोदावरी के तट पर स्नान सन्ध्या में समय व्यतीत करते हुए रहना स्वीकार किया। बाद में वे परशुराम भाऊ, हरिपन्त फड़के तथा तुकोजी होलकर से अलग-अलग निश्चित आश्वासन और अपना लेकर ताप्ती नदी के किनारे होते हुए खानदेश आए और कोपरगांव में रहने लगे। परन्तु इतनी चिन्ता और अपमानपूर्ण वृत्ति का उपयोग करने के लिए वे अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहे। कोपरगांव में रहने के बाद नवम्बर में उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और तारीख ११ दिसम्बर सन् १७८३ के दिन उनकी मृत्यु हो गई। इस समय उनके अमृत राव नामक दत्तक पुत्र तथा बाजीराव नामक और पुत्र जिसका जन्म धार में सन् १७७५ में हुआ था मौजूद थे और तीसरा पुत्र चिमाजी आपा गर्भ में था।

उनकी मृत्यु के बाद दो वर्ष शान्ति से व्यतीत हुए, क्योंकि इन वर्षों में अंगरेजों को अवकाश न होने के कारण इनमें और अंगरेजों में कोई झगड़ा नहीं हुआ। अंगरेजों को अवकाश न मिलने का कारण यह था कि हैदरअली का देहान्त हो गया था और उसके पुत्र टीपू ने अपने पिता का अनुकरण कर अंगरेजों से युद्ध चालू रखा था। पहले तो अंगरेजों ने उसके बहुत से स्थान ले लिये थे, परन्तु तुरन्त ही उसने एक भारी सेना तथा तोपखाने के साथ उन पर चढ़ाई की और जनवरी सन् १७८४ तक समुद्र के किनारे तक के प्रदेश जो अंगरेजों ने जीत लिया था अपने अधीन कर लिया।

सालबाई की सन्धि के तीन वर्षों बाद अंगरेजों का विचार पेशवा के दरबार में सदा के लिए अपना वकील रखने का हुआ। अंगरेजों को यह विश्वास था कि यह काम सिवा सिंधिया के दूसरे से होना कठिन है, अतः उन्होंने पहले इस विषय में सिंधिया से ही बातचीत करना उचित समझा और इसके लिए पेशवा दरबार के भावी वकील मिस्टर चार्ल्स मेलेट ता० १५ मार्च सन् १७८५ को सूरत से रवाना होकर उज्जैन और ग्वालियर होते हुए आगरा गये और वहाँ से मथुरा जाकर सिंधिया से मिले। उस समय वहाँ पर मुगल बादशाह शाहआलम भी ठहरे हुए थे। मेलेट ने उनसे भी भेंट की, परन्तु पोशाक और नजराना देने के सिवा मुगल बादशाह से मेलेट का कोई काम नहीं था, क्योंकि इस समय मुगल बादशाह की सब सत्ता सिंधिया के हाथों में आ गई थी। मेलेट साहब की और सिंधिया की इस मुलाकात से पूना में अङ्गरेजों का वकील रखने का काम पूरा नहीं हुआ, क्योंकि सिंधिया इसके विरुद्ध थे। सिंधिया के दरबार में कलकत्ता

वालो का वकील रहता ही था, अत सिंधिया नही चाहते थे कि अङ्गरेजो का वकील पूना मे रहे और अङ्गरेजो से जो व्यवहार चल रहा है वह दुमुही हो जाय। परन्तु बम्बई के अङ्गरेजो को पूना म वकील रखना इष्ट था, क्योकि इनका काम पूना मे था और जिसके द्वारा काम हो, वह रह पूना स सैकडो माल की दूर पर, यह वे कब पसन्द कर सकत थे ? सम्भव है कि पेशवा को भी यह बात प्रिय न रहा हो कि अङ्गरेजो का वकील पूना म न रहकर सिंधिया क दरबार मे रहे। इधर सिंधिया ने दिल्ली के बादशाह से इसी समय पेशवा के नाम पर वकील उलमुतल की सनद ल ली थी, अत इस काम म और भी अधिक उलझनें पैदा हो गइ थी। क्याकि सिंधिया पूना दरबार मे अङ्गरेज वकील रखने के विरोधी थे और उन्होंने बादशाह स जो सनद प्राप्त की थी, उसके कारण बङ्गाल म जो बादशाही प्रन्श अङ्गरेजा क अधीन था उसकी चौथाई वसूल करने का अपना हक सिंधिया बतलाने लग थ, अत अङ्गरेजो क महत्व का काम पेशवा की अपेक्षा सिंधिया स ही अधिक था और उनक दरबार म कलकत्ते वालो का वकील रहता ही था, अत इन कारणो स कलकत्ता वाल पूना म वकील रखने की बम्बई वालो की सूचना को व्यवहार मे लाने क लिय तैयार न थ। मलट स मिल कर महादजी ने इधर उधर बात चीत करके उसस कहा कि 'इस सम्बन्ध म मुझे पूना क अधिकारियो से विचार करने की आवश्यकता है, क्योकि मुझ यह मालूम नही है कि अङ्गरजो के वकील रखने की योजना उन्हे पसन्द है या नही।' इतना कह कर सिंधिया न उन्हें रवाना किया। मेलेट साहब आगरा होकर कानपुर गय। कइ महीने बाद सिंधिया की स्वीकृति मिलने पर गवनर जनरल की आर स मलट साहब का अङ्गरेज वकील का अधिकार पत्र दिया गया।

सालबाई की सन्धि के बाद कुछ वर्षों तक मराठो और अङ्गरेजा म खूब हल-मेल रहा। सन् १७८३ ई० म पेशवा ने टीपू पर चढाइ की। इस चढाई मे उन्हे निजाम भोसले वगैरह की सहायता थी। अङ्गरेजों को भी इस चढाई म शामिल होने के लिए नाना फडनवीस ने बहुत प्रयत्न किये थे। परन्तु अङ्गरेजो ने कहा कि टीपू से हमारी सन्धि हाल मे ही हुई है, अत उसे तोडकर अपनी अप्रतिष्ठा करवाने को हम तैयार नही हैं। अङ्गरेजा ने उस समय केवल अपनी पाच पलटने निजाम और पेशवा की सीमा पर उनके मुल्क के रक्षार्थ भेजना स्वीकार किया पर पेशवा ने यह सहायता लेना स्वीकार नही किया और टीपू को यह प्रगट करने के लिये कि अङ्गरेजो की तथा हमारी मैत्री है, अत अङ्गरेजो से सहायता की आशा करना व्यर्थ है, नाना फडनवीस पूना दरबार के अङ्गरेज वकील सर चार्ल्स मलट को अपनी छावनी म जो कि बदामी मे थी लाये और अपनी सेना के साथ उन्हे भी रखा। ता० २० मई को मराठी फौज ने बदामी किले पर धावा किया और टीपू क सरदार क हाथ से छीन लिया। निजाम बदामी लेने के

पहले ही लौट गये थे और फिर नाना फडनवीस परशुराम भाऊ तथा मोसले भी लौट गये। केवल हरिपन्त फडके ने ७५ हजार सेना सहित युद्ध का काम चालू रक्खा। होलकर आदि सरदार ४० हजार सेना के साथ सावनूर हुबली की ओर थे। इस लड़ाई में बहादुर टीपू ने मराठों के समक्ष अपना युद्ध कौशल बहुत दिखलाया। उसने अनेक छापे मार कर मराठों को हानि पहुँचाई। उसके एक छापे में तो होलकर की सेना के साथ जो पिण्डारी लोग थे उन्होंने यह समझ कर कि लूटने का यह बहुत बढ़िया अवसर है, स्वयं अपनी ही फौज को—मराठी फौज को—लूटा। इसके सिवा सन्धि करने का हाल कर को विश्वास दिलाकर उसने कई बार फँसाया, अनेक स्थान ले लिये और अन्त में १७८७ के अप्रैल मास में दोनों ओर से सन्धि होकर यह ठहरा कि टीपू मराठों को ४८ लाख रुपये, कुछ राज्य और किले देवे। इस युद्ध में मराठों का सवा करोड़ रुपया खर्च हुआ था। इस दृष्टि से मराठों को हानि ही उठानी पड़ी। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि टीपू का पल्ला जबरदस्त होने पर भी उसने सन्धि क्यों की? इसका उत्तर यही है कि उसे ये पक्के समाचार मिले थे कि मुझ पर चढ़ाई करने के लिये अङ्गरेज तैयारी कर रहे हैं।

इस समय के दो ही वर्ष बाद मराठे और निजाम ने मिलकर टीपू पर फिर चढ़ाई की। इस समय उन्हें अङ्गरेजों की प्रत्यक्ष सहायता थी। इसलिए, यह भी कहा जा सकता है कि यह युद्ध कराने में मुखिया भी वे ही थे, अङ्गरेज वकील का यह आग्रह था कि स्वयं पेशवा युद्ध क्षेत्र में जावे, परन्तु अन्त में, परशुराम भाऊ को ही भेजना निश्चित हुआ और निजाम बराबर बराबर समानता से बाँट लेंगे। इस त्रिपुटी में से मराठों को फोड़ने का प्रयत्न टीपू ने किया था, परन्तु वह सिद्ध न हो सका। नाना फडनवीस ने मीठे बोल बोलकर टीपू से ऐसी सन्धि के अनुसार जितनी मिल सकी उतनी रकम वसूल की। सन् १७९० के मई-जून माह में बम्बई से अङ्गरेजों की फौज जयगढ़ की खाड़ी में से होकर सङ्गमेश्वर पर से अम्बा घाटी के ऊपर चढ़कर तासगाँव आई। कप्तान लिटिल उस समय अढ़ाई हजार सेना का प्रथम अधिकारी था। इसके साथ परशुराम भाऊ अगस्त मास में चढ़ाई करने को निकले। घटप्रभा नदी उतर जाने पर पहले ही धारवाड़ पर घेरा डाला गया, अन्यत्र भी सरदार भेजे गये। धारवाड़ के युद्ध में अङ्गरेजों ने खूब वीरता प्रगट की और तोपों की मार अच्छी तरह करके मराठों से धन्यवाद प्राप्त किया। किले में लड़ने वाले, टीपू के सरदार, बद्रीजमाल ने बड़ी वीरता का काम किया, पर परिणाम कुछ नहीं निकला। तारीख ५ अप्रैल सन् १७९१ को किले सात मास तक युद्ध करने के पश्चात् उसे किला छोड़ना पड़ा। धारवाड़ ले लेने के पश्चात् मराठे और अङ्गरेज श्रीरङ्गपट्टन की ओर रवाना हुए। मई मास में हरिपन्त फड़के सेना के साथ आ रहे थे, उनकी और भाऊ की सेना मिल गई। लार्ड-कार्नवालिस निजाम की सेना के साथ तीसरी ही ओर से आ रहे थे। इस प्रकार सबों ने मिल कर

चारो ओर से टीपू को घेर लिया और उसे हानि पहुँचाई। अन्त मे टीपू को सन्धि करके श्रीरङ्गपट्टम का घेरा उठाना पडा। टीपू ने ३० करोड रुपये और आधा राज्य देना स्वीकार किया। इसके अनुसार प्रत्येक के हिस्से मे चालीस २ लाख रुपयो की आमदनी का प्रदेश आया। मराठो ने वर्धा तथा कृष्णा नदियो के बीच का प्रान्त तथा साहूर आदि स्थान और गुती, कडापा, कोपल, आदि कृष्णा तथा तुङ्गभद्रा के बीच का प्रान्त निजाम को दिया गया। अङ्गरेज और मराठो की यह चढाई सहकारिता-पूर्वक हुई थी। इससे भी थोडा बहुत मन-मुटाव हुआ, परन्तु अन्त मे किसी तरफ बिगाड न होकर दोनो ने काम पूरा किया। लार्ड कार्नवालिस ने परशुराम भाऊ को जाते समय १७ तोपें नजर किया। परशुराम भाऊ की सेना को आते समय मार्ग म बहुत कष्ट उठाने पडे और अङ्गरेजों की सेना जहाजो पर बैठकर बम्बई को चली गई।

टीपू पर तीसरा आक्रमण करने के समय फिर इस सहकारिता का योग नहीं आया। इसी बीच म सवाई माधवराव की भी मृत्यु हो गई थी और बाजीराव गद्दी पर बैठा था, पर वह दौलतराव सिंधिया के पजे म पूरी तरह से था। सन् १७९८ मे निजामअली ने अङ्गरेजो से नवीन सन्धि की, जिसके अनुसार निजाम दौलत ने अपनी कवायदी सेना को तोडकर अङ्गरेजो की छः हजार सेना और तोपखाना अपने यहाँ रखना और उसके खर्च के लिये ७४ लाख रुपये देना स्वीकार किया, निजाम चौथाई तथा सरदेशमुखी का कर अब तक मराठो को देते थे। उसे न देने के लिए ही अङ्गरेजो से यह मैत्री की गई थी, क्योकि निजाम जानता था कि इस कार्य म अङ्गरेजों के सिवा दूसरे से यह काम नही हो सकता। अङ्गरेजो का काम भी मुफ्त मे बन गया, क्योकि निजाम की इस सन्धि स सेना का खर्च निजाम के सिर पर था और फौज अङ्गरेजो के अधीन थी तथा निजाम अङ्गरेजो के शत्रु मराठो के आश्रय से सदा के लिए निकल जाने वाला था। इस तरह अङ्गरेजो का चारो ओर से लाभ ही था। इन्हीं शर्तों पर अङ्गरेजो ने पेशवा से भी सन्धि करने का निश्चय किया था, परन्तु दौलतराव सिंधिया और नाना ने इस प्रकार की सन्धि न करने की सम्मति दी, अत वह न हो सकी, परन्तु बाजीराव ने टीपू के विरुद्ध युद्ध करने म सहायता देने का वचन अङ्गरेजो को दिया और पहले के अनुसार परशुराम भाऊ को सेना के साथ अङ्गरेजों के सहायतार्थ भेजने का निश्चय किया। साथ मे रास्ते, विन्चूरकर आदि सरदारो को भी भेजने का नाना ने विचार किया, परन्तु दौलतराव सिंधिया ने इस विषय से यह आग्रह किया कि टीपू के साथ युद्ध करने म मराठो को प्रत्यक्ष म शामिल होना उचित नहा है। कहा जाता है कि टीपू ने सिंधिया द्वारा पेशवा को तरह लाख रुपये दिये थे। यह सच है या झूठ यह तो नहीं कह सकते, पर इतना अवश्य हुआ कि बिलकुल मौके पर बाजीराव पेशवा ने अङ्गरेजो को सहायतार्थ सेना भेजना रोक दिया। इससे नाना को भी बहुत आश्चर्य हुआ। अन्त में, अङ्गरेजो को अपने बल पर श्रीरङ्गपट्टन पर चढ़ाई करनी पडी। टीपू से मित्रता कर

निजाम पर चढ़ाई करने का दौलतराव सिंधिया और बाजीराव पेशवा का विचार था, परन्तु अङ्गरेजो के साथ की गई श्रीरङ्गपट्टन की लड़ाई मे उसे असफलता हुई और उसकी मृत्यु भी हो गई, अतः बाजीराव का विचार जहाँ का तहाँ रह गया। टीपू की मृत्यु का समाचार सुनकर बाजीराव ने प्रगट किया और तुरन्त ही मुँह फेर कर अङ्गरेजो के कान मे यह भर दिया कि आपके सहायतार्थ सेना न भेजने देने के कारण नाना ही थे। टीपू की मृत्यु के पश्चात् जब मैसूर के राज्य के बटवारा करने का समय आया, तो अङ्गरेजो ने थोड़ा हिस्सा मराठो को देने के लिए भी निकाला, परन्तु उसके लिए यह शर्त डाली कि निजाम के समान हमारी सेना अपने आश्रय मे रखने की जो सन्धि पहले ही हो चुकी थी, वह अब मान्य की जाय, परन्तु नाना अच्छी तरह जानते थे कि यह शर्त बहुत हानिकारक और घातक है। अतः इसे अस्वीकार करने मे बाजीराव को नाना की सहायता मिली। तब मराठो को देने के लिये निकाला हुआ प्रान्त भी अङ्गरेज और निजाम ने आपस मे बाँट लिया। फिर निजाम और अङ्गरेजो मे एक सन्धि और हुई जिसके अनुसार सन् १८०२ और सन् १७९९ मे निजाम के हिस्से मे जो टीपू का प्रदेश आया था वह अङ्गरेजो को मिला और उसके बदले मे अङ्गरेजो की आठ हजार की सेना आत्म रक्षणार्थ निजाम को अपने राज्य मे बसानी पड़ी। साराश यह है कि मराठो और अङ्गरेजो की सच्ची सहकारिता से एक ही लड़ाई हुई और वह टीपू पर सन् १७९१ मे की गई थी।

नाना फड़नवीस और बाजीराव को फिर शीघ्र ही अङ्गरेजो से सहायता लेने की आवश्यकता हुई, परन्तु यह सहायता नहीं थी, यह तो अपने ही हाथो से दूसरी बार अपने गृह कलह मे अङ्गरेजो को घुमाना था। पहली बार और इस बार मे अन्तर यह दिखाई देता था कि पहला अपयश रघुनाथराव ने अपने सर लिया था और उस समय सब लोगो ने इसके लिये उन्हे भला भी कहा था, लेकिन फिर ऐसा समय आया कि रघुनाथराव के स्वयं प्रतिपक्षी और राजनीतिज्ञ नाना फड़नवीस को यह बात करनी पड़ी। नाना फड़नवीस और महादजी सिंधिया मे यद्यपि परस्पर स्पर्धा थी तो भी दोनो अपने-अपने राज्य के स्तम्भ थे। महादजी की मृत्यु से नाना फड़नवीस का दाहिना हाथ अर्थात् अस्त्र धारण करने वाला हाथ ही टूट गया और उत्तर हिन्दुस्तान मे नाना फड़नवीस की कार्य पद्धति संकुचित होने-होते दिल्ली मे मराठो के पैर उखड़ने लगे, परन्तु महादजी की मृत्यु के दूसरे ही वर्ष खरडा की लड़ाई जीतकर नाना फड़नवीस ने जगत को यह दिखला दिया कि मराठो का तेज, यह यदि दक्षिण ही तक क्यो न हो, पर अभी तक कायम है। खरडा की लड़ाई से नाना फड़नवीस के वैभव मन्दिर पर मानो कलश चढ़ा दिया परन्तु इसके दूसरे ही वर्ष सवाई माधवराव की असामयिक मृत्यु हो जाने से और नाना फड़नवीस के शत्रु बाजीराव के गद्दी पर बैठने का प्रसंग आने से सब उलट-पुलट हो गया। बाजीराव से नाना फड़नवीस को दो प्रकार का भय था। एक तो यह कि शायद वह

अपने पिता का बदला लेने के लिए कष्ट दे अथवा घात करे और दूसरा, जो कि पहले से भी अधिक घातक था, यह था कि ऐसे बुद्धिहीन पुरुष के गद्दी पर बैठने से कभी न कभी उसकी विडम्बना हुए विना न रहेगी। इन विचारों के कारण नाना फडनवीस ने बहुत शीघ्रता से सब बडे बडे सरदारों को पूना बुलाया और उन्हें यही समझाया कि बाजीराव के गद्दी पर बैठने से अङ्गरेजों का हाथ किस प्रकार से दरबार के राजकाज में घुसेगा। परशुराम भाऊ और पटवर्धन नाना फडनवीस के अनुकूल ही थे, किन्तु बाहर के बडे-बडे सरदारों में से होलकर ने भी नाना फडनवीस की पद्धति को पसन्द किया। यद्यपि सिंधिया के कर्मचारियों और नाना फडनवीस में मतभेद था, फिर भी उन्होंने यह निश्चय किया कि हमारे स्वामी दौलतराव सिंधिया के अल्प वयस्क होने के कारण होलकर के समान वयोवृद्ध मराठे नीतिज्ञ जो करेंगे वह सिंधिया को भी मान्य होगा। इस प्रकार सबने मिलकर निश्चय किया कि सवाई माधवराव की विधवा स्त्री की गोद में कोई दत्तक देकर गद्दी चलाई जाय और बाजीराव को कैद में ही रक्खा जाय। जब ये समाचार बाजीराव को मालूम हुए तब उसने सिंधिया के कारभारी बाला जी तात्यां को मिलाकर नाना फडनवीस के निश्चय को धूल में मिलाने का प्रयत्न किया। विकल्प शुरू होने पर अनेक प्रकार के कारण खडे होने लगे। बहुतों को यह बात विचारणीय दीखने लगी कि बाला जी की विश्वनाथ का वंश मौजूद होते हुए भी दूसरे घराने का लड़का गोद में क्या लिया जाय? इधर बाजीराव ने सिंधिया को चार लाख का प्रान्त और गद्दी पर बैठाने में जो खर्च पडे वह सब देने का लोभ दिखाया, अतः इस प्रश्न को और भी महत्व प्राप्त हो गया।

नाना फडनवीस को जब ये समाचार मालूम हुए तो उन्होंने परशुराम भाऊ को तुरन्त पूना बुलाया और सलाह करके यह निश्चय किया कि सिंधिया अपनी सेना के बल जैसे बनेगा वैसे बाजीराव को गद्दी पर बैठायेगा, इसलिये यही काम यदि हम कर डालें तो सिंधिया भी एक ओर रह जायगा और सम्भव है कि बाजीराव भी उपकार के भार से दबकर अपने हाथ में आ जाय। इस निश्चय के अनुसार परशुराम भाऊ ने शिवनेरी जाकर बाजीराव को बन्धन-मुक्त किया और परशुराम ने जब शपथ-पूर्वक यह कहा कि यह कपट नहीं है तब बाजीराव अपने छोटे भाई चिमाजी अप्पा के साथ पूना आकर नाना फडनवीस से मिला, ऊपरी ढङ्ग से दोनों के दिल की सफाई हो गई और नाना फडनवीस को बाजीराव ने लिख दिया कि "जो बातें हो चुकी हैं उन्हें सब भूल जावें। राजकाज तुम्हारे ही हाथ में रक्खूंगा और तुम्हारी सलाह से ही सब काम करूंगा।" बाजीराव गद्दी पर बैठाये गये, परन्तु यह समाचार सुनकर बालाबा तात्या (सिंधिया के कारभारी) को क्रोध उत्पन्न हुआ और उसकी सलाह से दौलतराव सिंधिया अपनी गोदावरी के तट पर की सेना लेकर पूना पहुँच गया। सिंधिया का सैन्य-समुदाय देखकर नाना फडनवीस मन में डरे कि इसके आगे अपनी कुछ नहीं चलेगी। परशुराम भाऊ ने

नाना फडनवीस को बहुत धीरज बधाया और समझाया कि आवश्यकता पड़ने पर हम लोग सिंधिया से युद्ध कर सकेंगे। उनकी क्या मजाल जो हमसे लड़े ? परन्तु बालोबा तांत्या के भय और बाजीराव पेशवा के इस अविश्वास से कि न मालूम किस समय वह क्या कर डाले, नाना फडनवीस ने कारभार छोड़कर पूना से चले आने का ही विचार किया। बाजीराव के विश्वासघात के कारण सिंधिया उससे अप्रसन्न था ही और इस विश्वासघात के प्रायश्चित्त म उसे गद्दी से उतारना चाहता था। इस षडयन्त्र म वह परशुराम भाऊ को शामिल करने का प्रयत्न करने लगा। इधर नाना फडनवीस भाऊ को फसाकर पूना से चले गये अत भाऊ की स्थिति निःसहाय सी हो गई। इसलिए अकेले सिंधिया के शत्रुता करने की अपेक्षा उनके षडयन्त्र में शामिल हो जाना ही उन्होंने उचित समझा। बाजीराव को गद्दी से च्युत कर चिमनाजी अप्पा को सवाई माधवराव की विधवा स्त्री की गोदी मे बिठलाकर गद्दी पर बैठाने के लिए यह षडयन्त्र रचा गया था। इस नये पेशवा का कारभारी परशुराम भाऊ को नियत करना निश्चित हुआ था। परशुराम भाऊ ने नाना फडनवीस से बिना पूछे इस षडयन्त्र मे शामिल होने की स्वीकृति नहीं दी परन्तु अन्त मे नाना फडनवीस, परशुराम भाऊ और बालोबा का एक विचार हो जाने पर बाजीराव के कैद होने का फिर मौका आया।

नाना फडनवीस पहले पूना से पुरन्दर गये और फिर वहाँ से वाई जाकर वहाँ रहने लगे। वहाँ उन्होंने यह विचार कर कि सतारा के महाराज को बन्धन-मुक्त कर राजकाज चलाने से मराठा सरदारों के एकत्र होने, और सत्ता के एकमुखी होने की सम्भावना होगी इसके लिये प्रयत्न किया परन्तु वह सफल न हो सका। इधर चिमनाजी अप्पा का दत्त विधान हो गया था अतः इस नये पेशवा के लिए वस्त्र लेने को नाना फडनवीस स्वयं सतारा गए और वहाँ से पेशवाई के वस्त्र प्राप्त किये। पहले यहाँ यह निश्चय हुआ कि नये पेशवा के कारभारी का काम परशुराम भाऊ करें, परन्तु फिर यह विचार उत्पन्न हुआ कि कारभारी नाना फडनवीस ही रहें और सेनापति का काम भाऊ करें। अत इस विचार के अनुसार नाना फडनवीस से पूना आने के लिए बातचीत की गई परन्तु बाजीराव के कहने से नाना फडनवीस को भी कैद मे रखने का सिंधिया का विचार है ऐसी खबर सुनते ही नाना फडनवीस पूना न आकर पहाड़ की ओर चले गये और रायगढ़ से लड़ने का इन्होंने प्रयत्न किया। इस प्रकार आकस्मिक रीति से बाजीराव और नाना फडनवीस पर समद् खो होने से एक विचार करने का अवसर आ पड़ा और बालोबा कुञ्जर की मध्यस्थता मे इन दोनो का पत्र व्यवहार शुरू हुआ। तुकोजी होलकर की सेना की सहायता नाना फडनवीस ने बोलबा तात्या के प्रतिस्पर्धी रायाजी पाटिल के द्वारा सिंधिया को दस लाख रुपये की आमदनी का प्रान्त, अहमद नगर का किला, परशुराम भाऊ की जागीर और घाटगे की सुन्दरी कन्या देना कबूल किया। मानाजी फड़के इसी दृष्टि से सिंधियों की सेना की भर्ती करने का काम कर रहा था, परन्तु

बाजीराव के कुछ कार्यों से यह षडयन्त्र प्रगट हो गया। अतः बालोबा तात्या ने बाजीराव को उत्तर भारत की ओर रवाना किया, परन्तु बाजीराव ने अपने रक्षक घाटगे को मिला लिया और उसे सिंधिया की दीवानगिरी तथा सिंधिया को दो करोड़ रुपये देना स्वीकार कर बीच ही में मुकाम करवाया। इधर नाना फड़नवीस ने रघुजी भोंसले को अपने पक्ष में मिला लिया और नाना फड़नवीस सेना सहित पूना आये तथा बाजीराव को वापिस लाकर ४ दिसम्बर सन् १७९६ में फिर गद्दी पर बैठाया और अपने हाथ में सब कारबार लेकर शास्त्रियों के द्वारा चिमनाजी अप्पा का दत्तक विधान शास्त्र विरुद्ध ठहरा दिया।

इतना कार्य पूरा होते न होने पाया फिर उपद्रव। तुकोजी राव होलकर की मृत्यु हो गई। नाना फड़नवीस ने निजाम को जो वचन दिये थे उन्हें बाजीराव ने पूरा करना स्वीकार नहीं किया, अतः निजाम भी नाराज [redacted] गये तथा बाजीराव ने यह विचार किया कि बन जाय तो सिंधिया और नाना फड़नवीस को एक ओर रखकर अपनी मनमानी करूँ, परन्तु उसके इस विचार के अनुसार फिर नाना फड़नवीस ही के विरुद्ध षडयन्त्रों ने अधिक जोर पकड़ा। तारीख ३१ दिसम्बर के दिन नाना सिंधिया से मिलने गये, उसी समय सिंधिया के सेनापति माइकेल फिलोज ने अपनी सेना के पड़ाव में ही नाना को कैद कर लिया और सर्जेराव घाटगे ने अपने नौकरों को भेजकर शहर में नाना फड़नवीस का बाड़ा और उनके पक्ष के लोगों को लुटवाया। इसके बाद पूना में कितने ही दिनों तक धर-पकड़ और खून खराबी के सिवा और कुछ दीखता ही न था। यदि किसी को बाहर निकलना होता तो कई लोगों के साथ हाथ में ढाल तलवार लेकर निकलना पड़ता था। जब नाना फड़नवीस कैद कर अहमद नगर के किले में भेज दिये गये तब बाजीराव, सिंधिया का प्रभाव नष्ट करने के उद्योग में लगे। यह सुनकर सिंधिया ने अपनी फौज का बीस लाख रुपया मासिक खर्च देने का अड़ङ्गा बाजीराव के पीछे लगाया, परन्तु बाजीराव इतना खर्च देने में असमर्थ थे अतः उन्हें यह शर्त मान्य करनी पड़ी कि घाटगे, बाजीराव का कारभारी होकर रहे और वह जिस भाग से चाहे रुपये वसूल करे। इस समय घाटगे ने पूना में जो कुहराम मचाया था और प्रतिष्ठित आदमियों की जिस प्रकार इज्जत ली थी उसका स्मरण करते ही आज भी रोमाञ्च हो आता है, इस अत्याचार के कारण सिंधिया पूना में अप्रिय हो गये, इस बात से लाभ उठाते हुए बाजीराव ने अमृतराव की सहायता से अङ्गरेजों के हाथ-तले सेना तैयार कर सिंधिया को कैद करने का विचार किया और सिंधिया को दरबार में बुलाकर भय भी दिखलाया, परन्तु अन्त में उसे कैद करने का साहस बाजीराव को न हो सका।

सिंधिया, यह कह कर कि अब मैं लौटा जाता हूँ दरबार से चला आया, परन्तु उसने पूना नहीं छोड़ा। तो भी चारों ओर से विशेषतः गृह कलह के कारण उसकी इतनी बेइज्जती हो गई थी कि अन्त में उसको अङ्गरेजों से सहायता और मध्यस्थता के

लिये याचना करनी पड़ी। इसके पहले बाजीराव ने स्वतः कर्नल पामर की मार्फत सिंधिया से मैत्री की बातचीत छेड़ी थी, परन्तु सिंधिया ने उस बात को अमान्य कर दिया। अब उसे स्वयं सहायता मांगनी पड़ी। उसने यह भी विचार किया कि अपनी सेना लेकर यहाँ से स्वदेश को चले जाँय। परन्तु सेना बिना वेतन लिये कैसे जा सकती थी? अतः सिंधिया ने विचार किया कि नाना-फड़नवीस को बंधन मुक्त कर देने से द्रव्य लाभ अवश्य होगा और बाजीराव पर भी प्रभाव पड़ेगा। अतः वह नाना फड़नवीस को पूना लाकर छोड़ दिया और उससे दस लाख रुपये लेकर अपना काम निकाल लिया। नाना फड़नवीस को बंधन मुक्त करने में अंगरेजों की सहायता लेनी पड़ी और इससे उन्होंने लाभ भी तुरन्त उठाया। मराठों से मैत्री करने अंगरेजों को टीपू के नाश करने का निश्चय था, पर वे जानते थे कि यह काम तब होगा जब सिंधिया पूना से चले जाय और नाना फड़नवीस अकेले रह जाँय अतः अंगरेजों ने बाजीराव से यह कहना शुरू कि—'सिंधिया को जाने दो, तुम्हारी रक्षार्थ हम सेना देंगे चिन्ता मत करो।' परन्तु अंगरेज जैसे बार बार कहते थे वैसे ही वैसे बाजीराव को यह सन्देह अधिक होता जाता था कि कहीं यह नाना फड़नवीस का ही षडयन्त्र न हो और वे सिंधिया को दूर कर अङ्गरेजों को घर में घुसेड़ना चाहते हों, बस, ऐसी कल्पना उत्पन्न होते ही उसके षडयन्त्र के चक्र फिर उलटे फिरने लगे और सिंधिया से लौट जाने की अपेक्षा वह भीतर ही भीतर यह कहने लगा कि—"अभी रहो जाओ मत' और इधर नाना फड़नवीस से मिला और कहा—"तुम मेरे पिता के समान हो तुम जो कहोगे मैं वही करूंगा।' ऐसा कह कर उसने नाना फड़नवीस के पैरों पर पगड़ी रख कर कसम खाई और नाना फड़नवीस को फिर काम काज सम्हालने को लगाया परन्तु उसी समय वह नाना फड़नवीस को कैद करने के लिए सिंधिया से बात चीत भी करने लगा।

नाना फड़नवीस ने ऊपरी दिखाऊ ढङ्ग से काम हाथ में ले लिया पर भीतर से वे उदास ही थे, क्योंकि उस समय किसी का भी विश्वास नहीं किया जा सकता था। उन्होंने मन में यही निश्चय किया कि इस समय अङ्गरेजों से सहायता लेने की आवश्यकता होने के कारण यदि उनका विश्वास करना ही पड़े तो उसके करने में कोई हानि नहीं है और आपत्ति काल में सहायता भी उन्हीं की लेना ठीक है। परन्तु इसी स्थिति में दो वर्ष व्यतीत हो गये और अन्त में १३ मार्च सन् १८०० के दिन नाना फड़नवीस की मृत्यु हो गई। इस मृत्यु से बाजीराव और सिंधिया की स्थिति तो नहीं सुधरी किन्तु उनका एक मुख्य आधार स्तम्भ टूट गया। अब सिंधिया को अपना प्रदेश छोड़ कर पूना में रहना कठिन हो गया था, क्योंकि यशवन्तराव होलकर ने अमीर खाँ से मैत्री कर सिंधिया के प्रदेश को लूटने का काम शुरू कर दिया था। सन् १८०० के नवम्बर में सिंधिया ने पेशवा से ४७ लाख रुपये लेकर पूना में पेशवे की अधीनता में कुछ सेना रख दी और आप उत्तर हिन्दुस्तान के लिए रवाना हो गया।

नाना फडनवीस की मृत्यु हो जाने और सिंधिया के अपने स्थान को चले जाने पर बाजीराव को शान्ति से दिन व्यतीत करने चाहिए थे, परन्तु ऐसा न करके उसने अपने पिता रघुनाथराव के विरुद्ध रहने वाले सरदारो से बदला लेना शुरू किया। सरदार रास्ते को कैद मे डाला और विठो जी होलकर को हाथी के पावो से मरवा डाला। सिंधिया के उत्तर भारत मे आने पर उससे थोडी बहुत छेड छाड कर यशवन्तराव होलकर ने फिर दक्षिण भारत का रास्ता पकडा और विठोजी होलकर के खून का बदला लेने के लिए पूना को भस्म करने का उद्देश्य प्रगट करते हुए वह खानदेश जा पहुँचा। अत बाजीराव को फिर सिंधिया और अङ्गरेजो के सेना की सहायता मांगने की आवश्यकता हुई, परन्तु अङ्गरेजो की शर्तें कडी होने के कारण सिंधिया की सेना पर उसे अवलम्बित होना पडा। इस समय पटवधन प्रभृति सरदारो से बहुत कुछ सहायता मिल सकती थी, परन्तु सरदार रास्ते से सरदारों को लूटने का प्रारम्भ करने के कारण सब सरदार अपने अपने स्थानो पर उदासीन और सशंकित वृत्त से रहते थे। ता० २३ अक्टूबर को यसवन्त राव होलकर हडपसर के पास आ पहुँचा। इधर सिंधिया की सेना घोरपडी के समीप पडी हुई थी अत तारीख २५ अक्टूबर को दोनो मे बडी भारी लडाई हुई जिसमे सिंधिया को हारना पडा और उसकी सेना का पडाव लूट लिया गया। तब बाजीराव सात हजार सेना के साथ भाग कर सिंहगढ चला गया और वहाँ से कर्नल क्लोज की माफत अङ्गरेजो से सहायतार्थ बात चीत करने लगा।

अङ्गरेज बाजीराव को सहायता देने के लिए सदा तैयार रहते थे। भला जिन अङ्गरेजो ने नाना फडनवीस के जीवन काल मे और पेशवा का ऐश्वर्य सूर्य जिस समय मध्याह्न म था उस समय रघुनाथ राव को सहायता देकर मराठो से युद्ध छेडा था वे अङ्गरेज गद्दी पर बैठे हुए बाजीराव को जब कि वह निराश्रित होकर स्वय सहायता मांग रहा है और नाना फडनवीस भी जीवित नही है, क्यो न सहायता देवें? उनका तो बहुत दिनो से यही प्रयत्न रहा कि बाजीराव हमारी सहायता लें और लार्ड वालेसलि बहुत जोर मे इस बात का प्रयत्न कर रहे थे कि निजाम के समान सब राजे राजवाडे हमारी सेना की सहायता लेना स्वीकार करे परन्तु एक भी मराठा सरदार अङ्गरेजों की इस प्रकार की सहायता लेने को तैयार नही होता था। महाद जी सिंधिया नाना फडनवीस और दौलत राव सिंधिया ने तो इस झूठी सहायता को अस्वीकार करने के लिये पेशवा को पहले ही सलाह दी थी और स्वय बाजीराव को भी इस सहायता का भीतरी पेंच समझ सकने की बुद्धि थी। अत उसने भी जहाँ तक हो सका इसका विरोध ही किया था। अङ्गरेज अधिकारियो के अधिकार म रहने वाली अङ्गरेजी सेना को अपने राज्य म रख उसके खर्च के लिए अङ्गरेजो को कुछ प्रदेश दे देना और आवश्यकता पडने पर अपनी रक्षा के लिये अङ्गरेजो का मुह ताकना भला कौन समझदार स्वीकार कर सकता था? यह व्यवस्था निजाम को भले ही सुभीते की जँची, क्योकि दक्षिण भर मे यह

अकेला ही था और दूसरे किसी की भी सहायता न थी परन्तु मराठों को अङ्गरेजों की आज्ञा से चलने वाली इस प्रकार की मददेतू सेना के सहायता की आवश्यकता नहीं थी, पर गृह कलह के कारण उन्हें भी हुई और पहले चार बार जिस बात को भिडकार दिया था, वही बात बाजीराव को निरुपाय होकर करनी पड़ी।

सवाई माधवराव की मृत्यु के बाद से पूना के दरबार में जो गड़बड़ी मचनी शुरू हुई उसे अङ्गरेजो के वकील मैलेट साहब सङ्गम तट पर बैठे हुए ध्यान से देख रहे थे। सिंधिया, होलकर और पटवर्धन आदि सरदार, नाना, परशुराम भाऊ आदि मौतिम और बाजीराव पेशवा इनमे परस्पर झगड़ा चलने के कारण अङ्गरेजो को भयभीत होने का कोई कारण नहीं था। इस गृह-कलह के कारण अङ्गरेजो की ओर तिरछी दृष्टि से देखने का न तो किसी को अवसर ही था और न कोई कारण ही। अङ्गरेजो की मल-मन्सी सबके काम में आती थी और अङ्गरेजों की सैनिक सहायता की आकांक्षा भी सब ही करते थे। पेशवा की राजधानी में यद्यपि पाँच छः वर्षों से धूमधाम चल रही थी, पर सङ्गम पर अङ्गरेजो के अथवा उनके आश्रित लोगों के मार्ग में कभी कोई बाधा नहीं पड़ती थी। सङ्गम से तीन मील की दूरी पर सिंधिया और होलकर की सेना का तुमुल युद्ध हुआ, पर उस समय अङ्गरेज रेजीडेन्ट कर्नल क्लोज सङ्गम ही पर एक ऊंचा अङ्ग-रेजी निशान लगाकर आनन्द से रहे, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि इस निशान को दोनों ओर से सम्मान मिलेगा। दूसरे दिन यशवन्त राव होलकर ने कर्नल क्लोज को अपने डेरे में बुलाकर सिंधिया पेशवा और होलकर का झगड़ा मिटाने में मध्यस्थ बनने की अपील की।

होलकर पूना पर चढ़ आया था और उसकी सेना ने जय भी प्राप्त की थी, तो भी पहले उसने पूना में अपनी सेना को पाँव भी नहीं रखने दिया। उसने अपने पत्र व्यवहार में बाजीराव से नम्रता का ही व्यवहार रक्खा और सिंहगढ़ से पूना आने के लिये प्रार्थना की थी। परन्तु बाजीराव डर रहे थे इसलिये वे सिंहगढ़ से रायगढ़ चले गये और वहाँ से महाड़ जाकर अङ्गरेजों को लिखा कि जहाज और आदमी भेजकर मुझे बम्बई बुला लो। इधर जब होलकर ने देखा कि बाजीराव नहीं आते तब उन्हें पकड़ने के लिये उन्होंने अपनी सेना बाजीराव को भेजी। तब बाजीराव अङ्गरेजों के आदमियों के आने की प्रतीक्षा न कर स्वयम् सवार हो होकर सेवर्णदुर्ग को गये और वहाँ से अङ्गरेजों के जहाज में बैठकर तारीख ६ दिसम्बर को बसई पहुँचे।

इधर होलकर ने पूना में बहुत खण्डनी वसूल की और जुन्नर से अमृतराव को लाकर गद्दी पर बैठाया। तब नाना फड़नवीस के और बाजीराव के शत्रु चतुरसिंह भोंसले बाबा फड़के ने अपने प्रभाव को काम में लाकर सतारा के महाराज से अमृतराव को पेशवाई के वस्त्र दिलवाये। अमृतराव के गद्दी पर बैठते ही होलकर ने पूना निवा-सियों की जो दुर्दशा की थी उसका अंश भालकर दमन का काम इन पदाधिकारियों को करना

पड़ा। पहले तो इतना ही था कि जरा भय का कारण उपस्थित होते ही लोग भागकर अपनी रक्षा कर लेते थे, पर होलकर ने तो शहर की नाकेबन्दी पहले से ही करके फिर लोगों को कष्ट देना प्रारम्भ किया था।

बाजीराव के पूना छोड़कर चले जाने पर रेजीडेंट कर्नल क्लोज भी बसई को चले गये। होलकर ने रेजीडेन्ट से ठहरने के लिए बहुत कहा, परन्तु उन्होंने होलकर से सन्धि करने की अपेक्षा अपने हाथ में आये हुए पेशवा से सन्धि करना अधिक लाभ दायक और मुभीते की बात समझी और उसके द्वारा अङ्गरेजों और बाजीराव के बीच में तारीख ३१ दिसम्बर सन् १८०२ के दिन सन्धि हुई। सन्धि की मुख्य शर्तें अङ्गरेजी सेना को अपने यहाँ रखने के सम्बन्ध में थी। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस सन्धि के अनुसार अङ्गरेजों को ६००० पैदल सेना पेशवा के राज्य में रखना स्थिर हुआ और युद्ध के समय पेशवा की रक्षा के लिए एक हजार सेना बाजीराव के पास रहना स्थिर किया गया। इसके खर्च के लिए पेशवा ने अङ्गरेजों को छब्बीस लाख की आमदनी का प्रदेश देना स्वीकार किया तथा सूरत पर से पेशवा के अपना अधिकार उठा लेने, गायकवाड़ और निजाम पर का दावा अङ्गरेजों की मध्यस्थता में निपटा लेने, अन्य रजवाड़ों से जो युद्ध सन्धि अथवा अन्य कार्य हों वह बिना अङ्गरेजों को मालूम हुये न होने और दूसरे यूरोपियन लोगों को आश्रय न देने की शर्तें भी इस सन्धि में रक्खी गई। इस सन्धि पर ग्राण्ट डफ ने अपने ये निन्दापूर्ण उद्गार निकाले हैं कि "बाजीराव ने अपने स्वातन्त्र्य को मूल्य के रूप में देकर अपने शरीर की रक्षा कर ली थी।" इस सन्धि से सिंधिया बहुत अप्रसन्न हुआ और उसने बाजीराव की रक्षार्थ अपनी सेना भेजी परन्तु उसने सन्धि करने के पहले सिंधिया और दूसरे हितचिन्तक रघुजी भोंसले से एक शब्द भी नहीं कहा। इस सन्धि के कारण पेशवा तो अङ्गरेजों के हाथ के खिलौने हो गये और सिंधिया, होलकर इत्यादि सरदारों और पेशवा के परस्पर सम्बन्ध के सब सूत्र अङ्गरेजों के हाथ में चले गये। इस सन्धि से मालिक को मालिकी चले जाने का जितना दुःख नहीं हुआ उतना दुःख सेवकों को सेवकाई के चले जाने का हुआ। बाजीराव ने अपने साथ-साथ दूसरे की स्वतन्त्रता भी नष्ट कर दी और अङ्गरेजों ने भी इस सन्धि को करने की शीघ्रता में दूसरों की ओर झांका तक नहीं। जो सिंधिया सालबाई की सन्धि के समय अङ्गरेजों के जामिनदार थे उन से यह सन्धि करते समय पूछा तक नहीं। यह देखकर कि जब समय का लाभ उठाकर सब ही स्वतन्त्र व्यवहार कर रहे हैं तो सिंधिया ने भी बसई की सन्धि स्वीकार नहीं की और नागपुर के भोंसले ने भी इस सन्धि के लिए कान पर हाथ रख कर मना कर दिया।

सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर होते ही बाजीराव को गद्दी पर बैठाने का प्रयत्न करना अङ्गरेजों के लिए आवश्यक हुआ, अतः उन्होंने हैदराबाद मैसूर आदि की ओर की सेना जनरल वेलस्ली की अधीनता में एकत्रित करना प्रारम्भ किया।

निमाणीकर, विन्चूरकर आदि मराठे सरदार भी अङ्गरेजों के सहायतार्थ आ पहुँचे। तब होलकर के द्वारा गद्दी पर बैठाये हुए अल्पकालीन पेशवा अमृतराव ने पूना शहर को जला कर अपनी नैराश्यता का बदला चुका लेने का विचार किया, परन्तु बाजीराव और अङ्गरेजों की सेना के आने के समाचार सुन वह पूना से भाग गया और होलकर रास्ते में लूटपाट मचाते और गाँवों को जलाते हुए औरङ्गाबाद होकर मालवा को चले गये। अमृतराव ने भी नासिक तक यही क्रम जारी रक्खा पर अन्त में जनरल वेलस्ली से संधि कर और कुछ दिनों तक उनकी सेना के साथ में रह आठ लाख रुपये वार्षिक की जागीर लेना स्वीकार किया और वह काशी में जाकर रहने लगा। ता० १३ मई १८०८ के दिन बाजीराव पूना आये और फिर गद्दी पर बैठे।

लौटते समय सिंधिया अंगरेजों का पतन करने का विचार करने लगा। भोंसले ने भी उसे सहायता देने का वचन दिया। तब दोनों ने मिलकर होलकर को शामिल करने के लिये प्रयत्न किया, क्योंकि उसके शामिल हो जाने की स्वाभाविकतया आशा थी, परन्तु उस समय इस मित्र संघ में शामिल होने की बुद्धि होलकर को नहीं हुई। अतः दोनों ने मिलकर मुगलों की सीमा पर एक लाख सेना एकत्रित की। इधर अंगरेजों ने सब प्रान्तों से बुला कर ५० हजार सेना एकत्रित की। जनरल वेलस्ली ने अहमदनगर का किला अधिकृत कर दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। सन् १८०३ में उसने दिल्ली लेकर बादशाह शाह-आलम को अपने हाथ में ले लिया और अन्त में लासवारी में युद्ध हुआ, जिसमें सिंधिया का पराभव हुआ और चम्बल नदी के उत्तर का सिंधिया का सब देश अंगरेजों के हाथ लगा।

सन् १८०३ के मई मास की ३० वीं तारीख को पूना के रेजीडेंट कर्नल क्लोज को कलकत्ता के गवर्नर ने जो खरीता भेजा था उसमें उन्होंने अंगरेजों की दृष्टि से मराठी राज्य की उस समय की स्थिति की परीक्षा की है। उसे जानना आवश्यक समझ खरीते के कुछ अंशों का अनुवाद यहाँ दिया जाता है। गवर्नर लिखते हैं कि—

'मैसूर का राज्य नष्ट हो जाने से अब मराठों के सिवा हमारा दूसरा कोई प्रतिपक्षी नहीं रहा है और उनसे भी जब तक उन्हें किसी यूरोपियन राष्ट्र की सहायता न मिले तब तक हमें भय नहीं है। फ्रांस के द्वारा शक्ति पाकर अन्य राज्यकर्ताओं को मिला कर भय निर्माण करना यह हमारे लिए अवश्य भय का कारण होगा, परन्तु ऐसे समय में भी बहुत अधिक भय करने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, ऐसे प्रयत्न अवश्य होने चाहिये जिससे भय का निर्माण न होने पावे। इसका सबसे उत्तम उपाय यही है कि मराठों के मुख्य-मुख्य राजाओं में आपस में स्नेह हो और वह भी इस तरह का कि उन पर हमारा प्रभाव रहे और वे हमारी सेना पर अवलम्बित रहें। बाजीराव से वसई में संधि करने में भी हमारा यही प्रयोजन था। इस संधि से यद्यपि पेशवा को रक्षा मिलेगी, तथापि पूना दरबार में हमारा इतना प्रभाव जम

जायगा कि मराठे सरदारो को अपनी हित रक्षा का कार्य हमारे द्वारा ही कराना होगा। ऐसा कोई काम—विशेष कर अतर्व्यवस्था सम्बधी—मत करना जिससे पशवा के स्वाभिमान म धक्का लगे और वह उसे अपमान-पूर्ण प्रतीत हो, किन्तु तुम उह यह सममाने का प्रयत्न करो कि तुम्हारे ही प्रजा-जन, नौकर और माण्डलिकों ने जो झगडे खडे किय थे और तुम्हारा अपमान किया था, वह हमने निवारण कर दिया है और सिंधिया, होलकर, भोसलें और बेईमान अमृतराव के कारण तुम्हें जो सम्मान तथा शान्ति कभी न मिलती, वह हमने तुम्ह दिला दी है। देखो, हमारे आश्रय म आ जाने से निजाम को कितना लाभ हुआ है। बसई की सधि का एक मुख्य हेतु यह भी है कि फ्रेंच लोगो का पाँव मराठी राज्य म जमने न पावे, इसलिए फ्रेंचो को दरबार से निकालने के प्रयत्न म तुम तुरन्त लग जाओ। सधि के अनुसार अपन काम के लायक फौज रखकर बाकी लौटा दो और फौज के व्यय के लिए जो प्रदेश अपन को देने कहा है वह तुरन्त अपन अधिकार म कर लो। राजकाज म तुमसे जो सलाह लेव सो खुशी स दो, परन्तु पशवा क काय म विशेष उथल-पुथल करने की जरूरत नही है। हाँ, बिना थोडी उथल पुथल क काय चलेगा भी नहीं, क्योंकि जागीरदारों का मध्यस्थता का काम हमने लेना स्वीकार किया है।

"बाजीराव विश्वास योग्य नही है और न उससे जागीरदारो के हितो की रक्षा ही होनी सम्भव है। अत तुम जो उथल पुथल करो उसके सम्बन्ध म पेशवा क मन मे यह जमाओ कि हम यह सब न्याय के लिए ही करत है। काम लायक सेना, इससे भी अधिक पूना मे रहे तो और भी अच्छा है, परन्तु इतना ध्यान रखना कि उससे पेशवा अथवा अन्य मराठे सरदारों क मन म किसी प्रकार का सन्देह उत्पन्न न होने पावे और न पेशवा को यह मालूम पडे कि हम जो हेतु ऊपर प्रदर्शित करते हैं उसके सिवा हमारा कोई अन्य हेतु है। दौलतराव सिंधिया पूना पर सब सेना लेकर चढ़ाई करना चाहता है, परन्तु हम भी उसके इस विचार को छुडा देने के प्रयत्न हैं। बिना भोंसले और होलकर की सहायता के सिंधिया को भी युद्ध करने का साहस नही होगा। यद्यपि अगरेजो के नाम के भय से ही सघ शक्ति निर्मित न हो सकगी, परन्तु सघ बनने की बातें तो बाजार म बहुत उड रही हैं या कि ये हमे डराने के लिए ही उडाई जाती है। ऐसी झूठी बातो को न उठने देने का प्रयत्न करना उचित है। यदि हमारे कार्यों से यह दीख पडा कि हम डर गये, तो यह सघ न भी बनता होगा, तो बन जायगा और मराठो मे साहस आ जायगा। हम सिंधिया और भोसले को परस्पर भिडा रहे हैं और यदि सिंधिया और होलकर क बीच परस्पर मनमुटाव रहा, तो फिर चिन्ता का कोई कारण नहीं है। हम यह देखते हैं कि इन दोनो का यदि मिलाप भी रहा तो भी होलकर, निजाम या पेशवा के विरुद्ध उठते हैं या नही? पशवा ने हम जो प्रदेश देने को कहा है उससे अधिक सुभीते का प्रदेश कोकन या बुन्देलखण्ड म हमे प्राप्त

हो सकता है या नहीं, इसका हम विचार कर रहे हैं। पर तुम इस बीच म उन्होंने जो प्रदेश देना स्वीकार किया है, उसे तुरन्त अपने अधिकार म ले लो और यदि पेशवा देने मे देरी करे तो उसकी नुकसानी भी उनसे मांगो।"

इस खरीते म तीन ही दिन बाद गवनर ने जो खरीता सिंधिया दरबार के रेजीडेन्ट कनल कालिन्स को लिखा था उसका आशय इस प्रकार है "तुम जिस तरह स भी हो सके सिंधिया को नमदा उतार कर उत्तर की ओर बढ़ने क लिए कहो और उन इस बात पर राजी करो। सिंधिया को इस प्रकार समझाओ कि सिंधिया मराठा साम्राज्य क माण्डलिक हैं। उन्ह पहले ही यह चाहिए था कि होलकर से पेशवा का बचाव करते, परन्तु जब उन्होंने ऐसा नहीं किया तब उन्ह पूना जाने का अब कोई कारण ही नहीं रहा है। तुम स सिंधिया ने यह पहले कह ही दिया है कि बसई की सधि हम मान्य है, परन्तु अब यदि उसके विचार कुछ भिन्न दिखाई देते है, तो भी उन्हे समझाओ कि बसई की सधि से हमारा प्रयोजन किसी की स्वतन्त्रता हरण करने का नहीं है, किन्तु सबके न्यायपूर्ण अधिकारों की रक्षा करने का है। किसी क कारबार म हाथ डालने का हमारा प्रयोजन नहीं है। हम केवल इतना ही चाहते हैं कि पेशवा की आज्ञा दूसरे दरबार मान्य कर और माण्डलिक होने के नाते सिंधिया का हेतु भी यही होगा। यद्यपि सिंधिया को यह खटकता कि पूना दरबार म मेरा प्रभाव कम हो गया, पर तुम उसे यह समझाना कि वह प्रभाव बसई की सधि क कारण कम नहीं हुआ है, किन्तु जब होलकर ने पूना मे सिंधिया पर जो विजय प्राप्त की थी और सिंधिया ने बीच-बचाव करने के लिए अङ्गरेजो से विनय की थी उसी समय से कम हो गया है। सिंधिया को यदि यह भ्रम हो कि पेशवा, सिंधिया से बिना पूछे सधि नहीं कर सकते तो उसका यह भ्रम निकाल डालो। सालबाई की सधि के समय अङ्गरेजो महादजी सिंधिया की मध्यस्थता और जमानत मजूर की थी, वह वश परम्परा के लिये नहीं थी। वह समय गया और वे मनुष्य भी गये। अब उसके उदाहरण का प्रयोजन नहीं। इतना ही नहीं, किन्तु सम्पूर्ण मराठाशाही के मुख्य रूप पेशवा ने जो सधि की है उसे उनके माण्डलिकों को मानना उचित है और वह उन्हे अपने लिए बधनकारक समझना चाहिये। मराठाशाही की पुरानी रचना अब नहीं रही है। महादजी और दौलतराव सिंधिया ने यद्यपि अपने-अडोसी-पड़ोसी राजाओं से युद्ध और सधि की है, परन्तु उन्होंने पेशवा को गद्दी का अधिकार कभी अस्वीकार नहीं किया। बरार के भोसले के सम्बन्ध मे कदाचित् यह नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि भोसले कहते हैं कि शाहू महाराज का अधिकार हमे मिला है, परन्तु शाहू महाराज के प्रतिनिधित्व की वंश परम्परा पेशवा चला रहे हैं अत पेशवा की स्वतन्त्रता कम करने के अधिकार भोसले को नहीं है। पेशवा, भोसले से उच्च माने जाय अथवा भोसले स्वतन्त्र माने जाय, पर इन दोनों अवस्थाओं म भी भोसले को यह अधिकार नहीं हो सकता कि वे पेशवा से यह पूछें कि

तुमने अमुक सन्धि क्यों किया और यही बात सिंधिया के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये, तो भी सिंधिया का पेशवा अथवा होलकर से किसी हित-सम्बन्ध में झगड़ा हो, तो सिंधिया हमसे कहे, हम उनकी मध्यस्थता करने को तैयार हैं।"

इसी दिन गवर्नर जनरल वेलस्ली साहब ने दौलतराव सिंधिया को भी एक पत्र लिखा, जिसमें स्पष्ट रीति से ये समाचार लिखे थे कि तुमसे स्नेह भाव रखने की हमारी पूर्ण इच्छा है, परन्तु जो व्यवस्था हो चुकी है उसमें यदि तुम कुछ अदल-बदल करना चाहोगे, तो वह हमें सहन नहीं होगा और हम उसका यथा शक्ति प्रतिकार करेंगे।

अङ्गरेजों से खुले मैदान सिंधिया और भोंसले का युद्ध कर अपना पराभव करा लेना होलकर को पसन्द नहीं आया। उनका कहना था कि यदि दाव-पेच की लड़ाई दोनों करते तो उसका अन्तिम परिणाम इस प्रकार नहीं होता, परन्तु होलकर की इस चतुरता का उपयोग मराठों के काम में न हो सका, क्योंकि सिंधिया और भोंसले के युद्ध करते समय होलकर स्वयम् उनसे अलग रहा था और इतना ही नहीं, किन्तु अपने ही देशभाइयों के राज्य में उसी समय उसने लूटपाट भी मचा रक्खी थी। होलकर को आशा थी कि सिंधिया का पराभव हो जाने से हमारा और सिंधिया का दर्जा समान हो जायगा और फिर हमारा प्रभाव भी बढ़ेगा, परन्तु उसकी यह आशा सफल न हो सकी। सिंधिया का प्रभाव हो जाने पर जब सिंधिया और अङ्गरेजों की सन्धि हो गई तब होलकर को अङ्गरेजों से युद्ध करने की स्फूर्ति हुई और अंगरेजों से सिंधिया की जो सन्धि हो चुकी थी उसे तोड़ने की सम्मति वह सिंधिया को देने लगा और राजपूत, रोहिले, सिक्ख, प्रभृति की सहायता मिलने के लिए भी खूब प्रयत्न करने लगा। सिंधिया को थोड़े ही समय में पराभव कर देने के कारण अङ्गरेजों में भी युद्ध करने की उत्तेजना हो आई थी और होलकर से युद्ध करना उन्हें लाभदायक भी था। होलकर की शर्तें भी कठिन थीं। अतः १८०४ में होलकर और अङ्गरेजों का युद्ध प्रारम्भ हो गया। पहले तो होलकर ने अङ्गरेजों को खूब हानि पहुँचाई और उनकी बहुत सी तोपें छीन लीं परन्तु अन्त में डीग में होलकर की हार हुई। दक्षिण के बहुत से होलकर के किले और मालवा के भी किले तथा इन्दौर शहर अङ्गरेजों के अधिकार में चले गये। उधर भरतपुर के किले को भी अङ्गरेजों ने घेर लिया था, अतः उस प्रान्त में भी होलकर के आश्रय-योग्य स्थान न होने के कारण वह पञ्जाब चला गया। अब कहीं सिंधिया के मन में भी होलकर से मिलने के विचार उत्पन्न हुए, क्योंकि गोहद के राणा की स्वतन्त्रता स्वीकार करने के लिए अङ्गरेज सिंधिया को दबाते थे और सिंधिया को यह स्वीकार नहीं था, परन्तु अब वह कुछ कर नहीं सकता था, क्योंकि देर बहुत हो चुकी थी। इतने में ही अङ्गरेजों ने सिंधिया और होलकर से सन्धि करने का प्रयत्न किया, क्योंकि इस समय कम्पनी सरकार पर ऋण बहुत हो गया था इसलिए लार्ड वेलस्ली की सैनिक पद्धति विलायत में नापसन्द हुई और लार्ड कार्नवालिस, यहाँ गवर्नर

जनरल बना कर फिर भेजे गये। उन्होंने सन्धि के काम को पूर्ण किया और सन् १८०५ के लगभग सिन्धिया, होलकर, भोसले और गायकवाड से सन्धि होकर मराठा संघ सत्ता के लिये नष्ट हो गया और एक बड़ा युद्ध होने से रुक गया।

सालबाई की सन्धि से तो मराठी सत्ता के नाश का प्रथम भाग अङ्गरेजों को मिला ही था और अब इस सन्धि से दूसरा भाग भी उन्हें मिल गया। इस समय किसी भी मराठे राजा में अङ्गरेजों से युद्ध करने की वास्तविक शक्ति नहीं थी, तो भी उस स्थिति-परिवर्तन का क्रोध सबके मन में मौजूद था पर जब कि मिल कर काम करने की मराठों की पद्धति ही नहीं इच्छा भी नष्ट हो चुकी थी तब उन्हें अङ्गरेजों पर क्रोध करने की अपेक्षा अपने आप पर ही क्रोध करना वस्तुतः उचित था। इस समय अङ्गरेजों का भाग्य अवश्य अच्छा था, इसी से उन्होंने केवल पाँच वर्षों में ही इतना राज्य विस्तार कर लिया था कि विलायत के अङ्गरेज उसके प्राप्त होने की आशा भी नहीं कर सकते थे। इधर होलकर, सिन्धिया और भोसले के अधीन इतना कम राज्य रह गया कि खर्च वगैरह बाद देकर साठ लाख रुपये वार्षिक की भी आमदनी उससे नहीं हो सकती थी। राज्य कम होने के कारण इन्हें सेना भी तोड़ देनी पड़ी। अकेले होलकर को ही २० हजार सवार कम करने का मौका आया। पहले तो ये वेतन न मिलने के कारण होलकर के सिपाही दरवाजे पर धरना देकर बैठे और जब वेतन मिल गया तो इन्हें उदर निर्वाह के लिये उद्योग करने की चिन्ता हुई। क्योंकि इन्हें फौजी नौकरी का अभ्यास था। खेती-बाड़ी करना भूल गये थे और कितनों के पास खेती भी नहीं थी इधर शस्त्र न रखने का कानून बनने वाला था यह तो होलकर के सिपाहियों की दशा थी। उधर सिन्धिया ने यद्यपि सेना तोड़ी नहीं थी, परन्तु राज्य की आमदनी कम हो जाने के कारण कुछ न कुछ काम निकाल कर सेना को उस काम पर भेज देते थे और उनकी लूट-खसोट की ओर ध्यान नहीं देते थे। अथवा जिन छोटे मोटे राजाओं की रक्षा करने की स्वीकृति अङ्गरेजों ने नहीं दी थी, उनसे अपना पुराना दावा उगाहने का एक काम रहा था, उसे सेना की मार्फत कराते थे परन्तु यह काम बहुत दिनों तक न पूरे सकें और अन्त में पहले से जो बेकार पिंडारी थे उसमें सिन्धिया के बहुत से सैनिकों के मिल जाने पर उनकी संख्या खूब बढ़ गई और पहले होलकर, सिन्धिया आदि की सेना के नाम से काम करने वाले पिण्डारियों को जब दूसरों का आश्रय न रहा तब वे अपने नाम से उदर निर्वाह करने लगे। उनके लिए मानो कोई बन्धन न होकर दशों दिशायें खुली थी पर इनका अधिक जोर चम्बल नदी तक ही था। इन लोगों ने शान्तिप्रिय और सुखी गृहस्थों को बहुत दुःख दिया। इन लोगों को दबाने में अङ्गरेजों को भी बहुत कष्ट उठाना पड़ा। क्योंकि कभी इन पिण्डारियों की सेना २०, २५ हजार तक पहुँच जाती थी और कभी सौ पचास मील पर ही बड़े बड़े धावे कर देते थे। पिण्डारियों में प्राय मुसलमान ही अधिक थे और उनके अगुआ भी मुसलमान ही थे। इनमें मराठे नाम-मात्र

को ही थे। क्योकि मराठो के पास वश परम्परा से प्राप्त भूमि आदि थी तथा वे मुसलमानो के सामने नगे नही हो गये थे। उनमे प्रतिष्ठा की थोडी चाह भी थी। पिण्डारियो म प्रत्येक हजार म चार सौ सवार थे और ६०, ६५ लोगो के पास बन्दूकें होती थी। शेष लोगो के पास भाला अथवा चाकू, हँसिया वगरह होते थ । एस लोगा न ब्रिटिश सत्ता को कुछ न गिन दस वर्षों तक सैकडो मील के प्रदेश मे मनमाना राज्य किया। परन्तु उनका घर सदा अपनी पीठ पर ही रहता था। मराठाशाही सैनिक वृत्ति का निर्मल नदी सूख गई थी और पिण्डारियो का यह दुर्गन्धपूर्ण नाला मात्र बह रहा था। पिण्डारियो ने कोई भी अपराध करने मे कसर नही की था, परन्तु यहां उनके चरित्र से हम कोई प्रयोजन न होने से उस सम्बन्ध म अधिक चर्चा करना उचित नहीं है।

उत्तर भारत मे इस प्रकार बहुत अशान्ति थी, पर बाजीराव पेशवा को इस समय सब प्रकार से शान्ति थी और अङ्गरेजो की सहायता से उन्होंने महत्व भी प्राप्त कर लिया था, परन्तु उन्होने इस शान्ति और महत्व का उपयोग अपने शत्रुओ से बदला लेने म किया। लोग बाजीराव से नही डरते थे। किन्तु रक्षार्थ जो ६,००० अङ्गरेजी सेना सदा तैयार खडी रहती थी, उससे डरते थ। पहले ही सन् १८०४ के भयङ्कर दुष्काल के कारण महाराष्ट्र मे हाहाकार हो रहा था उस पर बाजीराव ने फिर अत्याचार करना प्रारम्भ किया। अत बहुत से मराठे उस समय पूना छोडकर उत्तर भारत म सिंधिया के आश्रय म रहने को चल गये। बाजीराव ने शत्रु पक्ष के सरदारो की जागीर को तो जप्त किया ही, किन्तु उन लोगो को भी जो उससे सरलतापूर्वक व्यवहार करते थे, गृह-कलह में बिना कारण अपना हाथ डाल कर बैठे-बैठे, एक को भागने और दूसरे को पकडने को कहने की नीति से काम लेना प्रारम्भ किया। स्वयम् ग्राण्ट डफ साहब कहते है कि, "यदि बाजीराव के इस जघन्य और आश्रित जनो को दुख देने वाले कार्य को अङ्गरेजो ने उस समय रोका होता, तो लोग भी सुखी होते और बाजीराव का राज्य भी कुछ अधिक दिनो तक रहता। परन्तु अङ्गरेजो ने तो पहले से ही राजनैतिक कार्यों म अपनी पद्धति, इस कहावत के अनुसार रक्खी थी कि बिना बिके फूल तोडता नही और कच्चा फोडा फाडना नही।" इधर सरदारो की जागीर जप्त करते समय बाजीराव अङ्गरेज रेजीडेन्टो से अपना व्यवहार बहुत अच्छा कर लिया था। बाजीराव के मन्त्रि मण्डल की बात ही क्या पूछना है? उसमे तो नादान दोस्तो की ही भरमार थी। हरिदास, पनभरे, आदि सबको उसने अपने मन्त्रि मण्डल म एकत्रित किया था। उनके काम यही थे कि हंसी मजाक करना, लोगो को ठगना और समय पडने पर सरकारी राजकाज म उथल पुथल कर डालना। बाजीराव के समय मे कर्नल क्लोज, हेनरी रसेल और एल्फिस्टन इस प्रकार तीन ब्रिटिश रेजीडेन्ट आये और उसने अपनी मीठी बोली से तीनो को वश म कर लिया। रेजीडेन्ट के जितने

जासूस पेशवा के दरबार में रहते थे, पेशवा के उतने ही जासूस रेजीडेन्सी में थे। इस कारण से दोनों ओर के गुप्त विचार दोनों को मालूम हो जाते थे। परन्तु पेशवा की ओर के समाचारों का उपयोग करने की जितनी बुद्धि रेजीडेन्सी में थी उतनी बाजीराव में नहीं थी। यद्यपि अङ्गरेजों की सहायता से बाजीराव ने जागीरदारों पर अपनी दबदबा बैठा लिया था। परन्तु राज्य रक्षा के कार्य के उपयोग में सदा आने वाले सरदार उससे बहुत अप्रसन्न हो चुके थे। बाजीराव ने अपने आश्रय में एक भी सरजा मदार न रख, स्वतन्त्र नई वेतनिक पैदल सेना बनाने और उस पर अङ्गरेज अधिकारी नियत करने का विचार किया, यह काम अङ्गरेजों के लिए तो लाभदायक ही था। क्योंकि एक तो पहले ही सरदारों का जागीर जप्त करने के कार्य में रोक-टोक न कर बाजीराव के सिर पर अपने उपकार का भार लाद अङ्गरेजों ने पेशवा और सरदारों का सम्बन्ध सदा के लिए तुड़वा दिया था, दूसरे उक्त सेना सम्बन्धी कार्य से बाजीराव के पूर्णरूप से अङ्गरेजों पर अवलम्बित हो जाने की सम्भावना थी। बाजीराव की नयी सेना पर केप्टन फोर्ड साहब अधिकारी नियत किये गये। इस सेना में मराठों की भर्ती न कर परदेशियों ही की भरती की गई और भरती होते समय उक्त अङ्गरेज सरदार ने तथा अन्य सैनिकों ने राजभक्ति की शपथ ली। इस शपथ में भी एक पुछल्ला जोड़ दिया गया। शपथ इस प्रकार ली जाती थी कि हम बाजीराव के साथ ईमानदारी से तब तक व्यवहार करेंगे जब तक बाजीराव का व्यवहार अङ्गरेजों से ईमानदारी का रहेगा। इस प्रकार शपथ के भरोसे पर अवलम्बित होकर अपने पैसे से सेना रखने वाले राजा का उदाहरण महाराष्ट्र के सिवा अन्यत्र शायद ही कहीं मिल सकेगा। इस नवीन सेना की छावनी पूना से वायव्य की ओर चार मील की दूरी पर डाली गई।

बाजीराव के समान दूसरे किसी पेशवा को इतनी शान्ति नहीं मिली, परन्तु वे इस शान्ति का उपयोग राज्य की सुव्यवस्था करने में न कर सके। निकम्मेपन में जैसी खराब बातें सूझती हैं, वैसी ही दशा बाजीराव की हुई। न तो वह स्वयं राजकार्यों को देखता था और न दूसरों को ही देखने देता था। वह ठेके से कार्य भार सम्पन्न करने देता और जो आमदनी होती उसमें से बहुत सा हिस्सा अपने पास रख लेता था तथा राज्य के और निज के द्रव्य का उपयोग अनैतिक अनाचार और धार्मिक अत्याचारों के कामों में करता था। अपने आश्रित सरदारों की अप्रतिष्ठा आदि अपने में ही उसकी बुद्धि का व्यय अधिक होता था और इस कार्य से जो कुछ बुद्धि बच जाती थी उसका उपयोग दुष्ट सलाहगीरों के कहे अनुसार दरबार के कार्यों को खेल समझकर उनके करने में होता था। अन्त में, इन्हीं खेलों में से हाथ से राज्य निकल जाने का अवसर उत्पन्न हुआ।

एल्फिन्स्टन साहब ने अपने स्थान पर बैठे ही बैठे गुप्तचरों के द्वारा यह जान लिया था कि पूना तथा महाराष्ट्र की प्रजा बाजीराव पर मन से अप्रसन्न है, परन्तु

मही चूकता था। अत इन दोनो ने अपने नाश के साथ २ छत्रपति शिवाजी महाराज की स्थापित मराठाशाही का भी नाश कर दिया।

त्र्यम्बकजी के कारण अगरेजो और बाजीराव म बहुत दिनो से मन मोटाव चल रही थी। अगरेजी रेजीडेण्ट अच्छी तरह जानता था कि त्र्यम्बक जी अगरेजो का पक्का द्वेषी है, परन्तु प्रगट रीति से उस पर यह दोषारोपण करने का उन्हे साहस नही होता था और केवल द्वेष का प्रमाण भी क्या हो सकता है ? अत अगरेज भीतर ही भीतर त्र्यम्बकजी के नाश की इच्छा करते थे और किसी अवसर की बाट जोहते थे। दैवयोग से उन्हे यह अवसर गायकवाडी प्रसङ्ग के कारण अकस्मात् मिल गया।

गायकवाड और पेशवा मे खण्डनी के सम्बन्ध म बहुत दिनो से झगडा चल रहा था। पेशवा ने गायकवाड पर अपना बहुत सा कर्जा निकाला था, परन्तु गायकवाड उलटा कहता था कि पेशवा पर हमारा कुछ कर्जा निकलता है। अत पेशवा से झगडा तोडने के लिये गायकवाड ने गगाधर शास्त्री पटवधन नामक अपना एक कारभारी अगरेजो की मार्फत सन् १८१४ मे भेजा। शास्त्री यद्यपि बडौदा का दीवान था, परन्तु उसके जीवन का बहुत कुछ भाग नीचे दर्जे का काम करने म व्यतीत हुआ था। अत ऐसे मनुष्य का वकील बनकर समानता के नाते स बातचीत करने को आना बाजीराव को पसन्द नहीं हुआ। एल्फिन्स्टन साहब ने एक स्थान पर इस शास्त्री का बडा ही मनोरजक वर्णन किया है। वे लिखते है— गगाधर शास्त्री बहुत धूर्त और चतुर है। इसने बडौदा राज्य की व्यवस्था बहुत उत्तम कर रक्खी है। पूना म बहुत सज कर बडे ठाठ से रहता है और अपनी सवारी इस सजधज से निकालता है कि लोग देखते ही रह जाते हैं। यद्यपि यह पुराने ढग का है तो भी ठेठ अगरेजो के समान रहने का अभिमान करता है। जल्दी जल्दी चलता है और शीघ्रता स बोलता है। चाहे जिसे लौटकर जवाब दे देता है। पेशवा और उनके कारभारी को मूर्ख कहता है। 'डैम— रास्कल' शब्द उसकी जबान पर रहते हैं बातचीत म बीच-बीच मे अगरेजी शब्दो का भी प्रयोग कर देता है। गायकवाड की ओर स अगरेजो के द्वारा ऐसे मनुष्य का आना बाजीराव के दरबार मे अप्रसन्नता का कारण होना एक सहज बात थी। गगाधर शास्त्री को पूना म हिसाब लेते देते और बातचीत करते कराते एक वर्ष व्यतीत हो गया, क्योकि शास्त्री का स्वभाव झगडालू और बाजीराव का चिकटा था। वे किसी बात का निर्णय शीघ्रता से करने वाले न थे। सन् १८१५ मे बाजीराव पण्ढरपुर को गये। उनके साथ-साथ गगाधर शास्त्री भी गये और तारीख १४ जुलाई की रात्रि को बिठोबा मन्दिर के महाद्वार के रास्ते पर शास्त्री जी का खून हुआ। अपनी मध्यस्थता म आये हुए वकील का खून होने से अगरेजो को बहुत क्रोध आया और इस खून का सन्देह त्र्यम्बकजी पर कर बाजीराव स उसको अधीन करने के लिए एल्फिन्स्टन साहब ने बार बार तकाजा करना शुरू किया।

किसी भी राज्य में यह कोई नियमित बात नहीं है कि सभी खूनों का पता लगता ही हो और अपराधियों को दण्ड मिलता हो। अभी भी कलकत्ते में यही स्थिति है कि खून हो जाते हैं पर पता नहीं लग पाता। समाचार-पत्रों के पाठकों को विदित होगा कि कुछ दिनों पहले कलकत्ता में दिन भर नाकेबन्दी कर गश्त लगानी पड़ती थी। सम्भव है कि गंगाधर शास्त्री का खून भी इसी प्रकार का हो, परन्तु उसके दरबारी वकील होने के कारण इस दुर्घटना को राजकीय महत्त्व दिया गया था। इसके सिवा उस समय बाजीराव स्वयं पन्ढरपुर में थे और उनके साथ-साथ त्र्यम्बकजी भी था तथा खून के पहले मन्दिर में आने के लिए बाजीराव की ओर से शास्त्री से बहुत आग्रह किया गया था। तभी वह मन्दिर को गया भी था और त्र्यम्बकजी ठहरा अंगरेजों का द्वेषी और शास्त्री था अंगरेजों के पसीने का सिरजोर कारभारी, अतएव इस खून का सन्देह त्र्यम्बकजी पर होना और उसका बाजीराव तक पहुँचना स्वाभाविक था, परन्तु अंगरेजों ने ऊपरी दिखाऊ ढंग से बाजीराव पर इसका उत्तरदायित्व न डालकर त्र्यम्बकजी पर ही सन्देह रक्खा और यदि बाजीराव अंगरेजों के कहते ही तुरन्त त्र्यम्बकजी को उनके अधीन कर देते तो बाजीराव के प्रति अंगरेजों का मन निर्मल हो गया होता।

इस खून पर एक दूसरी दृष्टि से भी विचार करना उचित है। वह यह कि यद्यपि शास्त्री, पेशवा और गायकवाड के विवाद को निपटाने के लिए गायकवाड की ओर से अंगरेजों की उत्तेजना प्राप्त करने के निमित्त आया था परन्तु इसके निज के शत्रु भी बहुत थे। शास्त्री गर्विष्ठ और महत्वाकांक्षी भी था और उसे गायकवाड का पक्ष सत्य सिद्ध कर देने में ही सन्तोष नहीं था, बल्कि वह स्वयं पेशवा का कारभारी बनना चाहता था। इस सम्बन्ध में एक इतिहासकार ने लिखा है कि—"गंगाधर शास्त्री बड़ौदा से आया। इस कारण कलह का प्रारम्भ हुआ। दो चार माह बाद प्रभु (पेशवा) के कारभारी सदाशिव माणकेश्वर और समुद्र पर रहनेवालों (अंगरेजों) की ओर के मोनी सेठ को निकालकर स्वयं कारबार करने की उसकी इच्छा हुई। पर मोनी ने आत्म हत्या कर ली, अतः प्रभु (पेशवा) को बहुत बुरा मालूम हुआ।' दूसरे शास्त्री अपने निज के एक झगड़े को लेकर भी पूना आया था। कहा जाता है कि इसी झगड़े के प्रतिपक्षियों ने पन्ढरपुर में इसका खून किया और इसका प्रमाण बड़ौदा के पटवर्धनी दफ्तर के बहुत से कागजों में मिलता है। इस सम्बन्ध में कुछ वर्षों पहले मराठी केशरी में एक पत्रमाला प्रकाशित हुई थी। उस समय केशरी के सम्पादक, इस ग्रन्थ के मूल लेखक, स्वयं थे। वे विश्वासपूर्वक कहते हैं कि वे पत्र शास्त्री पटवर्धन के दफ्तर में काम किये हुए एक पदवीधारी द्वारा प्राप्त हुए थे। एल्फिन्स्टन साहब के पत्र पर से भी यह बात सिद्ध होती है कि खून के पहले त्र्यम्बकजी और शास्त्री जी में गाढ़ी मैत्री हो गई थी। इसलिये इस बात का प्रयत्न चल रहा था कि शास्त्री को वहम में लाकर उन्हें पेशवाई के कारभारी पद का लोभ दिखाया जाय जिससे वे हिसाब में बदमानी से गायक-

वाड की हानि और पेशवा का लाभ कर सके तथा यह भी निश्चित किया गया था कि बाजीराव की साली के साथ नासिक में शास्त्री जी का विवाह तुरन्त कर दिया जाय। शास्त्री जी का यह व्यवहार एल्फिन्स्टन साहब को भी अखरा और उन्होंने स्पष्टतापूर्वक शास्त्री जी से कह दिया कि तुम्हारा यह व्यवहार कि गायकवाड के वकील बनकर आना और फिर पेशवा के कारभारी हो जाना अच्छा नहीं है। अत शास्त्री ने विवाह करना अस्वीकार कर दिया। इसके सिवा त्र्यम्बकराव जी और शास्त्री में द्वेष होने के और कोई उचित कारण नहीं दिखाये दिये। गोविन्दराव गण्डोजी प्रभृति शास्त्री के शत्रु पूना पहुँचकर फिर वहाँ से पंढरपुर गये थे। उस समय शास्त्री का खून होने का हल्ला उड़ने से पेशवा ने पहले उनकी रक्षा आदि के लिए उचित प्रबन्ध किया था। ये सब बातें छिपी नहीं थी। एलफिन्स्टन साहब का कहना है कि शास्त्री के खून का यह हल्ला त्र्यम्बकजी ने जान बूझ कर फैलाया था और पेशवा का उस पर विश्वास भी नहीं था, परन्तु तो भी वे ऊपरी ढंग से ऐसा प्रगट करते थे मानो इसे सत्य मानते हों, परन्तु एलफिन्स्टन साहब की इस बात के सबूत कुछ अधिक नहीं है।

शास्त्री के पक्षपाती और पृष्ठ पोषक बापू मैराल ने शास्त्री के खून के बाद जो समाचार एल्फिन्स्टन को लिखकर भेजे थे, उनमें लिखा था कि, "खून हो जाने के दूसरे दिन शास्त्री के कर्मचारी ने त्र्यम्बकजी के पास जाकर कहा कि आप शास्त्री जी के स्नेही और पेशवा के कारभारी हैं अतः आपको इस खून का पता लगाना चाहिए।' इस पर त्र्यम्बकजी ने उत्तर दिया कि "मैं तो प्रयत्न करता ही हूँ, पर सन्देह किस पर किया जाय कुछ पता नहीं लगता। कर्मचारी ने कहा कि, "आपको यह मालूम ही है कि शास्त्री के शत्रु कौन-कौन हैं। मालूम होता है कि इस कार्य में उन कर्नाटक वालों का हाथ रहा होगा।' त्र्यम्बक जी ने कहा—"होतनार टलती नहीं है। एक तो प्रभु सीताराम है और एक गायकवाड में से तुमने कान्होजी गायकवाड को कर्नाटक में रखा है, परन्तु इनमें से किसी पर सन्देह किस प्रकार किया जाय? तो भी मैं प्रयत्न करता हूँ।" बापू मैराल की ये सब बातें रेजीडेण्ट ने एल्फिन्स्टन साहब को लिखकर भेजी थी, परन्तु लिखने वाले ने एल्फिन्स्टन साहब को ऐसा ध्वनित नहीं किया है कि यह खून त्र्यम्बकजी ने कराया है। वहाँ से गण्डोजी और भगवन्तराव पर शास्त्री के पक्ष वालों का सन्देह था परन्तु वे कैद नहीं किये गये और पंढरपुर में साहब के मतानुसार इस खून का पता लगाने की कोशिश जैसी चाहिए वैसी नहीं की गई। अत एल्फिन्स्टन साहब ने इस पर अब यही निश्चय किया कि इस अपराध में त्र्यम्बकजी का हाथ रहा होगा और इसी सन्देह पर आगे की कार्यवाही की इमारत उठाई गई। इतिहासकार ने लिखा है—"अनचरों (अंगरेजों) ने प्रभु पन्त से कहा कि शास्त्री से आपके लोगों ने दगा किया है इसलिए उन लोगों को हमारे अधीन करो। तब पेशवा ने बहुत ही सद्गुणपूर्ण त्र्यम्बकजी डेंगले को अंगरेजों के अधीन कर दिया। गंगाधर शास्त्री के खून के

सम्बन्ध में जो वर्णन ऊपर किया गया है वह यदि सत्य माना जाय तो यह सहज ही समझ में आ जायगा कि त्र्यम्बकजी को अंगरेजों के अधीन करने में बाजीराव को क्यों कष्ट होता था। त्र्यम्बकजी अंगरेजों का द्वेषी होने के कारण एल्फिन्स्टन साहब के मन में खटकता था परन्तु वे केवल इसी कारण से उसे अपने अधीन करने के लिए बाजीराव से भी नहीं कह सकते थे और यदि कहते भी तो बाजीराव भी उन्हें स्पष्ट उत्तर देते। राजकीय प्रतिपक्षी पर खून का आरोप लगाना उसे उखाड़ने के लिए एक उत्तम साधन है यदि यह साधन अनायास ही कर्म धर्म संयोग से प्राप्त हो जाय, तो चतुर नीतिज्ञ उसमें लाभ उठाने में नहीं चूकते, यह एक निर्विवाद और सर्वकाल की अनुभव सिद्ध बात है। मालूम होता है कि इसी तरह की यह भी एक घटना हुई होगी। क्योंकि शास्त्री जी के पक्षपातियों को खून के सम्बन्ध में त्र्यम्बक जी पर सन्देह करने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। केवल एल्फिन्स्टन साहब का ही उन पर सन्देह था और इसी सन्देह पर अंगरेजों ने बाजीराव को चंगुल में ले लिया।

पूना निवासियों के मतानुसार भी त्र्यम्बक जी पर बाजीराव का बहुत विश्वास था और इसीलिए उन्होंने त्र्यम्बक जी को बड़े कष्ट से अंगरेजों के अधीन किया था, त्र्यम्बकजी ने अंगरेजों की कैद से भाग जाने का साहस-पूर्ण प्रयत्न किया, तब तो उस पर उनका और भी अधिक विश्वास हो गया और वे समझने लगे कि यह पराक्रमी पुरुष अवश्य हमें अंगरेजों के चंगुल से छुड़ायेगा। अतः उन्होंने त्र्यम्बकजी को गुप्त सहायता देने का और सिंहगढ़ रायगढ़ आदि किलों पर युद्ध सामग्री संग्रह करने का कार्य प्रारम्भ किया। इन सब बातों को देखकर अंगरेजों का सन्देह स्वभावतः दुगुना हो गया और वे कहने लगे कि त्र्यम्बकजी श्रीमन्त के फूलगाँव में आकर गुप्त रीति से मिलता है और पूना के आस-पास जिन पिण्डारी सवारों की टोलियाँ फिरा करती हैं वे वास्तव में त्र्यम्बक जी के आश्रित सवारों की टोलियाँ हैं तथा पिण्डारियों पर श्रीमन्त की अप्रसन्नता नहीं है। अंगरेजों के इस आरोप के समान ही लोगों का भी विश्वास था और त्र्यम्बक जी पर बाजीराव का आश्रय होने के कारण उसके आने-जाने के समाचार भी लोग छिपाते थे, अतः अंगरेजों ने यही निश्चय किया कि बाजीराव पर बिना शस्त्र उठाये त्र्यम्बकजी का हाथ नहीं लगेगा। सन् १८१७ के मई मास के लगभग एल्फिन्स्टन साहब जनरल स्मिथ को पूना लाये और एक चिट्ठी बाजीराव के पास भेजी कि—"एक मास के भीतर त्र्यम्बक जी को हमारे अधीन करो और उसकी जामिन के तौर पर रायगढ़, सिंहगढ़ और पुरन्दर के किले शीघ्र हमारे सुपुर्द करो। यदि ऐसा नहीं करोगे, तो तुम पर आक्रमण करने के लिए सेना को आज्ञा दी जायगी।" बाजीराव तो पहले से ही बड़े सोच विचार में ही पड़ा हुआ था, फिर उसके आश्रय में रहने वाला का स्वभाव प्रायः प्रत्येक बात के सम्बन्ध में टाल मटोल करने और इस तरह समय निकाल देने का था। इसी तरह इस सम्बन्ध में भी उन्होंने बहुत कुछ समय तो निकाल **दिया और** जब तक

गुरु [illegible] एक आध दिन ही रह गया तब बाजीराव के कर्मचारी प्रभाकरपन्त जोशी और बापू कन्हडोरकर ने साहब के पास जा दो बार आकर बाजीराव से झूठ ही यह कह दिया कि साहब ने विचार करने के लिये दो दिन का समय और लिया है। बाजीराव इन दो दिनों के विश्राम में थे कि उधर एल्फिन्स्टन ने ता० ७ मई के प्रातःकाल तक बाजीराव के उत्तर की बाट जोही और तारीख ८ का उदय होते ही पूना से [illegible] मील की दूरी पर भागा और शहर का घेरा डालकर सारवानी की अब लाचार होकर बाजीराव को त्र्यम्बक जी के पकड़ने का विज्ञापन जारी कर, तीनों किले अङ्गरेजों के अधीन करने की चिट्ठी देना पड़ा। तब स्मिथ साहब ने घेरा उठाया और एल्फिन्स्टन साहब अपने स्थान सङ्गम को लौट गये।

इतना सब कुछ हो जाने पर भी बाजीराव को समाधान नहीं हुआ। वह पूना से बाहर निकल जाने का विचार करता और बाहर से आए सेना को सदा तैयार रखता था। मोटी समझ इसे बात कहते थे कि सिंधिया होलकर भोंसले और अमीर खाँ की सहायता से सरकारी सेना अङ्गरेजी फौज के छक्के छुड़ा देगी और ये बातें भोले बाजीराव को सत्य मालूम होती थीं। परन्तु वह यह भी समझता था कि तात्काल समीप होने पर इतनी दूर से सेना की सहायता मिलनी असम्भव है अतः उसने ऊपर से सन्धि और भीतर से सेना एकत्रित करने का विचार किया। मोरोदीक्षित के द्वारा सन्धि की शर्तें तय हुईं जिसमें पहले की बसई और पूने की सन्धियों का समर्थन करने के सिवा यह निश्चय किया गया कि राजा गायकवार आदि के वकील यानि बाजीराव अपने दरबार में न रक्खें इतना जो कुछ बातचीत करनी हो अङ्गरेजों के वकील के द्वारा की जाय अङ्गरेजों से स्नेह रखने वाले करवीरकर सावंतवाड़ीकर प्रभृति पर बाजीराव अपना कुछ अधिकार प्रगट न करें और सिंधिया होलकर प्रभृति का राज्य जो नर्मदा और तुङ्गभद्रा के बीच में हो उस पर भी बाजीराव अपना अधिकार प्रगट न कर सकें, बाजीराव को अपने यहाँ अङ्गरेजों के पाँच हजार सवार तीन हजार पैदल, तोपखाना और अन्य सामान सदा रखना और उसका खर्च देना होगा, इस खर्च के लिए जो ३४ लाख की आमदनी का प्रदेश और उसमें किले अलग निकाल दिये जायँगे, उन पर पेशवा सरकार का कुछ हक न होगा अहमदनगर के किले की सीमा के बाहर की चारों ओर की ४००० हाथ जमीन और अङ्गरेजी सेना की छावनी के पास की धरोहर पेशवा अङ्गरेजों को देंगे, तैनाती फौज के सिवा अङ्गरेज अपने खर्च से मनमानी सेना पेशवा के राज्य में रख सकेंगे इसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली जायगी और उत्तर भारत का अधिकार और शासन, पेशवा अङ्गरेजों के अधीन कर देंगे और सन्धि की शर्तों की सत्यता के विषय में विश्वास दिलाने के लिए त्र्यम्बक जी के बाल बच्चे अङ्गरेजों के सपुर्द करने होंगे।"

इस सन्धि से बाजीराव के हाथ पाँव तो खूब जकड़ गये, पर अङ्गरेजों के पञ्ज

से छूटने की उसकी इच्छा नष्ट नही हुई। बाजीराव न मालूम किसके बल पर लड़ना चाहता था, पर इसमें सन्देह नही कि युद्ध करने की उसकी पूर्ण इच्छा थी। ऊपर लिखी हुई सन्धि हो जाने के बाद जब पुरन्दर, सिंहगढ और रायगढ के किले उसे वापिस मिले, तो उसने अपने जवाहिरात, धन दौलत और चीज-वस्तु सिंहगढ को तथा अपनी बड़ी स्त्री और घर की देव मूर्तियाँ आदि रायगढ को भेज दी और आप स्वय पहले पण्ढरपुर मे और फिर अधिक श्रावण मास होने के कारण माहुली म जाकर रहे। वहाँ फिर आगे के लिए युद्ध की सलाह और जमाव होना शुरू हुआ।

इधर पिण्डारियो की धूमधाम चल रही थी। अत उनका प्रबन्ध करने के लिये जनरल मालकम हैदराबाद से १८१७ के अगस्त मास में पूना आये और जब यह देखा कि पेशवा पूना को नही आते हैं तो आप स्वय बातचीत करने के लिये माहुली को गये और बाजीराव से कहा कि पिण्डारियो का प्रबन्ध करने के लिये अङ्गरेजी फौज जा रही है आप भी अपनी सेना दीजिये। बाजीराव सेना एकत्रित करना ही चाहता था, अत उसे अनायास ही यह अवसर मिल गया और इससे लाभ उठाकर उसने सेना भर्ती करना आरम्भ कर दिया। बाजीराव की इच्छा थी कि मेरे कार्य म सतारा के महाराज भी सम्मिलित हो, क्योकि उनके नाम पर सरदारो से जितनी सहायता मिलने की आशा थी उतनी बाजीराव के नाम से नही थी। सतारा के दरबारा मे इस विषय पर दो मत थे। परन्तु अन्त मे बाजीराव की इच्छा पूर्ण हुई और यह निश्चय हुआ कि महाराज के साथी वसोरा के किले में रहे और महाराज बाजीराव के साथ रहे। भाद्रपद मास में बाजीराव पूना लौट आये और अपने २००० सवार स्मिथ साहब के सहायतार्थ उत्तर भारत को रवाना किये। यद्यपि बाजीराव के इतने निजी सवार उनके पास से दूर होने वाले थे पर साथ में जो अङ्गरेजी सेना जा रही थी वह भी दूर होती थी तथा इस काम मे बाजीराव सन्धि पालन के लिए तन मन से तैयार हैं। यह भी ऊपरी ढङ्ग से प्रगट करता था। ऊपर तो मोरोपन्तदीक्षित तथा फोर्ड साहब के द्वारा अङ्गरेजो से सफाई की बातचीत होती थी, परन्तु भीतर ही भीतर बापू गोखले के द्वारा झगडा करने की तैयारी हो रही थी। अन्त मे सब सरदारो को मिलाने के प्रयत्न शुरू हुये और एक करोड रुपयो के व्यय से सैनिक सामान सग्रह करना निश्चित हुआ। धुलप के द्वारा सैनिक जहाजो की मरम्मत कराई जाने लगी, किलो पर अनाज भरा गया और सेना भर्ती होने लगी। पेशवाई के कितने ही कारभारियो को अङ्गरेजों से बिगाड करना उचित प्रतीत नही होता था। ऐसा मालूम होता है कि बाजीराव की अपेक्षा वे अपने पक्ष के बलाबल को अच्छी तरह जानते होंगे। कुछ भी हो पर उनका अन्त करण कहता था कि इस समय बाजीराव की बुद्धि ठिकाने नही है। इधर बाजीराव के निजके अनाचार भी कम नही हुये थे, वे भी बराबर जारी थे। एक बार पूना म यह जनश्रुति भी उडी थी कि बाजीराव ने अपनी एक प्रिय स्त्री को पुरुष का वेश [illegible] और जवाहि-

रात पहिना कर गद्दी पर बैठाया और स्वयम् श्रीमन्त ने (बाजीराव पेशवा ने) उनके सेवक बनकर उस पर चवर करने का खेल खेला । इस पर लोगों ने यह कहना शुरू किया कि श्रीमन्त का अब पूरा दुर्दैव आ गया है जिसके कारण जो दुराचार किसी ने नहीं किये उन्हें वे कर रहे हैं । अङ्गरेजों से अंतिम सामना कर राज्य नष्ट करने के अवसर पर केवल एक बापू गोखले पर अवलम्बित रहना उचित नहीं था और न बाजीराव में ऐसे समय जिस उद्योग, आवेश और गाम्भीर्य आदि गुणों की आवश्यकता होती है वे भी नहीं थे लोगों को यह सब साफ दिखाई दे रहा था ।

पेशवा समझते थे कि अङ्गरेजों से बिगाड़ करने में सिंधिया हमारे सहायक होंगे परन्तु यह उनका भ्रम था । क्योंकि एक तो सिंधियों संधि के कारण पहले ही जकड़े हुए थे अतः बिगाड़ होने पर पहला तड़ाका लगने का उन्हीं को भय था दूसरे पन्द्रह वर्ष पहले सिंधिया पूना में उथल-पुथल कर जब उत्तर भारत को चले गये थे तब से वह पेशवा से अलग-अलग रहते थे । फिर सिंधिया तथा बाजीराव में प्रेम रहने का कोई कारण भी नहीं था । सन् १८१२ में सब मराठों का मिलकर अङ्गरेजों को हानि पहुँचाने की कल्पना सदा के लिये नष्ट हो चुकी थी । इधर अङ्गरेजों ने जब देखा कि बाजीराव सिर उठाने वाला है तो उन्होंने पिण्डारियों का नाश करने के बहाने सिंधिया से तारीख ५ नवम्बर सन् १८१७ को बारह शर्तों की एक नवीन संधि की और होलकर तथा भोसले के यहाँ भी नई शर्तों का कुछ सिलसिला जमाया परन्तु वहाँ जैसा चाहिए वैसा फल नहीं हुआ । मालुम होता है कि अङ्गरेजों की सेना को बहकाने का भी प्रयत्न किया गया था ।

इतिहासकार ने लिखा है कि, "विनायक ओतो वामन भटकर्वे और शङ्कराचार्य स्वामीश ने अङ्गरेजों की सेना में षडयन्त्र कराने की सलाह दी और कुछ रकम लेकर षडयन्त्र करने के लिये गये । न मालूम इस समय कितने लोगों ने बाजीराव से इसी षडयन्त्र के बहाने कितने रुपये ठगे ? सोहूकर यशवंत घोरपड़े ने इसी सलाह के लिये ५० हजार रुपये लिये और इस सलाह को गुप्त रखने की प्रतिज्ञा की । परन्तु ग्रान्ट डफ साहब ने लिखा है कि—"यह भीतर ही भीतर सब समाचार एल्फिन्स्टन साहब को पहुँचाता था ।" बाजीराव की इच्छा थी कि एक दिन एल्फिन्स्टन साहब को मेहमानी के लिये बुलाया जाय और उनका खून किया जाय या त्र्यम्बक जी के आश्रित रामोशिया के द्वारा किसी रात्रि को यह काम कराया जाय, परन्तु कहा जाता है कि बापू गोखले के विरोध करने से यह आसुरी कृत्य न हो सका । बाजीराव चाहता यह था कि अङ्गरेजो की सेना में विद्रोह उत्पन्न हो, परन्तु उसे यह नहीं मालूम था कि आश्रित लोगों के विद्रोह ने कैसा भयङ्कर रूप धारण कर रक्खा है । पेशवा के बाड़े में जो गुप्त सलाह होती थी वे तुरत ही अङ्गरेजों के पास पहुँच जाती थी । जिन्होंने प्रत्यक्ष में अंगरेजों की नौकरी स्वीकार कर ली थी, वे बाला जी पन्त सरीखे मनुष्य तो बाजीराव के विरुद्ध थे ही,

परन्तु जो बाजीराव के आश्रय में रहकर उसका वेतन लेते थे वे भी उस पर अप्रसन्न होने अथवा रिशवत लेने के कारण भीतर ही भीतर अंगरेजों से मिले थे। बाजीराव यह अच्छी तरह जानता था कि लोग मुझसे अप्रसन्न हैं, अतः उसने जिन लोगों की जागीरें जप्त कर ली थी वे उन्हें वापस कर दी और सब लिखित अधिकार बापू गोखले को देकर अपने अविश्वास करने वाले सरदारों को विश्वास का प्रत्यक्ष आश्वासन दिया परन्तु पटवर्धनादि बूढ़े पुराने सरदारों की अप्रसन्नता वह दूर नहीं कर सका। क्योंकि जप्त हुई जागीरें वापस करने का आग्रह कर एल्फिन्स्टन साहब ने पटवर्धनादि बहुत से सरदारों को अपना ऋणी और स्नेही बना लिया था।

बाजीराव और एल्फिन्स्टन साहब की मुलाकात बारम्बार होती थी। ये दोनों ही बड़े मि० बोल थे। अतः इसकी कल्पना हर एक कर सकता [redacted] कि ये दोनों भरोसा और सफाई की बातें किस प्रकार करते रहे होंगे? इन दोनों की अंतिम मुलाकात ता० १४ अक्टूबर सन् १८१७ को हुई जिसमें बाजीराव ने दशहरा बाद पिण्डारियों पर की हुई चढ़ाई के लिए अङ्गरेजों के सहायतार्थ सेना भेजना स्वीकार किया। दशहरा के दिन एल्फिन्स्टन साहब और बाजीराव सदा के समान सिंगगन गये और वहाँ सेना की सलामी लेने को दोनों खड़े हुए, परन्तु नारोपन्त आपटे के सवारों ने कुछ अभिमान पूर्ण व्यवहार किया और फिर दोनों ने भी जैसी चाहिए वैसी परस्पर में सलामी नहीं की। दोनों शहर लौट आये। बस, यहीं से बिगाड़ होना आरम्भ हुआ और वह दिन पर दिन शीघ्रता से बढ़ता गया। तारीख २५ अक्टूबर से पूना में चारों ओर से सवार और सिपाही एकत्रित होने लगे और अङ्गरेजों की छावनी के आस पास पेशवा की सेना की टुकड़ियाँ डेरा डाल कर रहने लगी। तब द्वीप के अङ्गरेजों ने अपनी स्त्रियाँ दापोड़ी को भेज दी और बम्बई से गोरे सिपाहियों की पलटन बुलाने का प्रयत्न किया। उनके आ जाने पर उन्हें गारपिर की छावनी में न ठहरा कर खड़की में ठहराया। अश्विन कृष्ण ८ के दिन विठ्ठलसिंह नायक ने गणेश खिण्डी के नजदीक लेफ्टिनेण्ट शा नामक गोरे अधिकारी को भाला भोंक दिया तथा अङ्गरेजों की सेना गारपिर छावनी छोड़ कर खड़की को जा रही थी तो मराठी फौज ने उनका पड़ाव लूट लिया। पहले तो छेड़ छाड़ शुरू करने का दोष एक दूसरे पर मढ़ने के प्रयत्न दोनों ओर से हुए, परन्तु अन्त में तारीख ५ को युद्ध प्रारम्भ हुआ। बाजीराव निकल कर पर्वती पर चला गया और एल्फिन्स्टन भी संगम पर वकील की इमारत की रक्षा होना कठिन जान सब आदमियों के साथ खड़की को चला गया। शहर में धूम धाम शुरू हुई। चतुःश्रृंगी के पर्वत से लेकर भाँबुर्डा तक घोड़ों की टापों और तोपों की गाड़ियों की आवाज के सिवा कुछ भी सुनाई नहीं देता था। पहले दिन के आक्रमण में पेशवा के घुड़सवारों की विजय हुई, परन्तु पैदल सेना की सहायता समय पर न मिलने के कारण अन्त में उन्हें हारना पड़ा। बाद बापू गोखले ने स्वतः आक्रमण किया, परन्तु उन्हें भी पीछे हटना पड़ा। दूसरे दिन

मराठी सेना के भाग खडी होने से उनका ही नाश हुआ और खडकी की लडाई में अङ्गरेजो की विजय हुई। नारोपन्त, आपटे, माधवराव, रास्त आबा, पुरन्दरे, पटवर्धन आदि मे से कुछ सरदार बापू गोखले के सहायतार्थ थे, परन्तु अङ्गरेजो की ओर से तोपों की मार शुरू होने के कारण मराठी फौज को निरुपाय होकर पीछे हटना पडा। पेशवा की ओर के मोरोदीक्षित प्रभृति कुछ प्रतिष्ठित पुरुष भी मारे गये। यद्यपि पेशवा के सिपाहियों ने सगम पर अगरेजी बगला जला दिया और लूटा भी, पर मुख्य युद्ध में हारने के कारण और घोडो आदि की खराबी होने के कारण बहुत नुकसान पेशवा का ही हुआ। बाजीराव २००० सवारों के साथ पर्वती पर थे। वहाँ से उन्होंने मन्दिर की छत पर से खडकी का युद्ध देखा और लडाई का अन्त होने के पहले ही उसके रङ्ग-ढङ्ग को देखकर वे सवारो के साथ सासवड को भाग गये। लडाई के पहले जब पर्वती को जाने के लिए वह शुक्रवार के बाडे म से निकला उस समय उसके जरी के निशान का डण्डा टूट गया और अन्त मे इस टूटे हुये डण्डे ने अपना गुण दिखला दिया अर्थात् बाजीराव ने शुक्रवार के बाडे मे से जो एक बार पाँव बाहर रक्खा वह फिर भीतर नही हुआ। बाजीराव फिर पूना न देख सके।

खडकी के युद्ध मे अगरेजो को जय मिलने पर भी अगरेजी सेना खडकी ही में टिकी हुई थी, क्योकि एल्फिन्स्टन साहब जनरल स्मिथ की बाट देख रहे थे। जनरल स्मिथ और एल्फिन्स्टन मे यह सकेत हो चुका था कि जिस दिन तुम्हें पूना की डाक न मिले उसी दिन तुम समझना कि युद्ध प्रारम्भ हो गया और घाट नदी से अपनी तरफ सेना लेकर तुरन्त पूना पर आक्रमण कर देना। तारीख ५ नवम्बर की डाक चूकते ही स्मिथ साहब फौज लेकर रवाना हुए। रास्ते मे मराठे सवारो की सेना ने उन्हें बहुत कष्ट दिया। तारीख १३ को वे पूना पहुँचे। तारीख १५ और १६ को उनकी सेना और मराठी सेना के साथ घोरपडी नदी पर युद्ध हुआ। तारीख १६ की रात्रि का पेशवा की बची हुई सेना पीछे हटी और बापू गोखले आदि सरदारो के साथ उसने सासवड का रास्ता पकडा। तारीख १७ को एल्फिन्स्टन और स्मिथ साहब ने बालाजी पन्त, नातु प्रभृति लोगो के साथ पूना म प्रवेश किया और उसी दिन कार्तिक शुक्ल ६ सोमवार को तीसरे पहर से शनिवार के बाडे पर अङ्गरेजो का झण्डा फहराने लगा और मानों यह प्रगट करने लगा कि अब मराठाशाही का अन्त हो गया।

बाजीराव के भाग जाने के कारण पूना चारो ओर से खाली हो गया था। जब स्वय स्वामी और उनके साथी मुख्य-मुख्य सरदार भी देश को छोड गये तो फिर पूना का बचाव कौन करता? यदि बाजीराव जनता को प्रिय होते तो उनके पीछे पूना की रक्षा करने के लिये जनता ने भी कुछ प्रयत्न किया होता, परन्तु बाजीराव ने कब इस पर विचार किया था? उन्होंने तो न कभी अपना बलाबल देखा और न कभी किसी को प्रसन्न रक्खा। यद्यपि उनके पास सेना और रसद बहुत थी और बापू गोखले के

समान शूर सिपाही भी थे, परन्तु उनकी सेना न तो सुशिक्षित थी, न उसका उचित प्रबन्ध था, न वह अस्त्र शस्त्र से पूर्ण सुसज्जित ही थी, और न उसमें शासन और पद्धति ही थी। इसके सिवा लोगों की सहायता भी न थी। केवल उस विद्या और उद्दण्डता थी। खड़की का लड़ाई का अन्त होने के पहले ही बाजीराव ने भागना प्रारम्भ कर दिया और उसके समाप्त होने पर पुरन्दरे, गोखले आदि सरदार भी भाग कर बाजीराव से जा मिले। पहले तो इन सरदारों को बाजीराव का पता ही नहीं लगा, पर अन्त में ढूँढ़ते-ढूँढ़ते सासवड़ में जाकर बाजीराव से मिले। वहाँ से सब मिलकर पहले जुन्नरी की ओर फिर माहुली को गये। लगभग छः माह तक बाजीराव के भागने का यह क्रम रहा कि वह आगे और अंगरेजी सेना उसके पीछे रहती थी। इस समय पूना में जो कुछ हुआ उसका वर्णन इतिहासकार को पुटकर, किन्तु आर्जास्विनी भाषा में, यहाँ दिया जाता है।

"शक १७३९ की आश्विन बदी ११ से पौष मास के अन्त तक पूना में खूब धूम धाम रही। बाजीराव के भाग जाने पर शहर की नाकेबन्दी की गई, परन्तु इससे लोगों की रक्षा न हो सकी। पेशवा के कितने ही राजवाड़ों की डेवढ़ी पर सिवा सिपाहियों के और कोई न रहा। बालाजीपन्तनाथ ने इन पहरेदारों को भी निकाल दिया और कहा कि अपने स्वामी के आने के बाद तुम आना अभी तुम्हारे लिये कुछ काम नहीं है। तब इस पर वे लोग अपना सामान और अस्त्र शस्त्र लेकर चल गये। इन लोगों में कुछ ऐसे भी थे जो सिर देकर पड़े रहे, हटे नहीं तब इन्हीं लोगों से बाड़े के प्रबन्ध का काम कराया गया। पूना में प्रति रात को तोप छूट कर नाकेबन्दी होने की रीति थी। तदनुसार पहले दिन तोपें छोड़ने की आज्ञा दी गई, परन्तु उस दिन यह स्थिति थी कि गोलन्दाजों के पास न तो बारूद थी और न बारूद ठूसने के गज। दूसरे दिन बारूद आदि का प्रबन्ध कर तोपें छोड़ने का कार्य प्रारम्भ किया गया। केवल मुहर्रम में कतल की रात के दिन तोप नहीं छोड़ी गई और खेलने वालों को तथा ताजिया वालों को खेलने और जुलूस निकालने की इजाजत दी गई। साहब ने अपने आदमियों को आज्ञा दे दी थी कि इन लोगों से कोई न बोले और जैसी चाल चली आई हो उसी के अनुसार काम करने दिया जाय। इस प्रकार की डुग्गी पिटाई गई कि पहले की लूट की जिसके पास जो चीजें हों, लौटा दी जायें। तब अकाते की हवेली के पास लूटे हुए माल का ढेर हो गया। राज्य क्रान्ति के समय चोरों को इस प्रकार के अवसर मिलते ही हैं। साहब ने एक सूचना शहर की कोतवाली पर लगा दी कि सब लोग उद्यम व्यापार करें, दङ्गा फसाद न करें। किसी प्रकार का नवीन कर आदि नहीं बैठाया जायगा। परन्तु व्यापार उद्यम किसे सूझता था? सबको यही चिन्ता थी कि जो कुछ है वह किस प्रकार बचाया जाय? पूना में डाके पड़ने लगे। अपराधियों को भय दिखलाने के लिये मालमता सहित पकड़े हुए कुछ चोरों को फाँसी भी दी गई, परन्तु उससे

भी काम नहीं चला। तब सब लोग मिलकर एल्फिन्स्टन साहब के पास गये। साहब को नजर करने के लिये कोई शक्कर और कोई बादाम ले गये थे। हरेश्वर भाई अगुआ थे। साहब ने कहा—"कि प्रसन्नता से रहो। तुम्हारे स्वामी शीघ्र आवेंगे, हम तुम्हारे स्वामी को लेने आते हैं।" हरेश्वर भाई और बालाजी पन्त नाथ से कहा गया कि नये आदमी नौकर रखकर नगर का प्रबन्ध करो। साहब भी ऐसे समय में चोरों का प्रबन्ध कहाँ तक कर सकते थे। साहब से कहने गये तो साहब ने कहा कि "उसकू ल्याव, हम फाँसी देगा।" पहले चोर पकड़ा भी तो जाय फिर उसे फाँसी दी जाय? व्यापारियों ने कहा साहब वह कैसे पकड़े जावेंगे। साहब ने उत्तर दिया—"तो हम क्या करें। चोर ऊपर हम जाने नहीं।" यह उत्तर सुनकर व्यापारी रोते रोते घर लौट आये और अपनी ओर से वेतन देकर पहरे वाले नौकर रख अपना प्रबन्ध आप करने लगे।

एल्फिन्स्टन साहब टोप छोड़ कर गारपिर में छावनी डाल कर रहते थे और वहीं से उनका काम चलता था। उनकी छावनी पर भी पत्थर फेंके जाते थे और सौ पचास रामोशी मिलकर जो कोई मिलता उसे लूट लेते थे। इसलिए रात भर गश्त दी जाती थी। अन्त में अरजुनी नायक रामोशी ने शहर में डाका न पड़ने देने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली। तब उसे पगड़ी बधाई गई।

कार्तिक बदी ३ से पूना में बाजीराव के सम्बन्ध में प्रतिदिन एक दूसरे के विरुद्ध बे सिर पर की नई अफवाहें फैलने लगीं। उनके फैलाने वाले तथा सुनकर विश्वास करने वाले भी ऐसे बहादुर होते थे कि वे कहने-सुनने में आगा-पीछा सोचते ही न थे। बाजीराव जीतें या हारें, इसकी उन्हें परवाह न थी, पर उन्हें विश्वास था कि बाजीराव एक बार पूना फिर आवेंगे। लोगों को यह बात निःसन्देह फिर मालूम होती थी कि उत्तर भारत में पहुँचने पर सिंधिया और होलकर बाजीराव की सहायता करेंगे। जनता को दिल से यह विश्वास था कि अन्त में फिरंगियों की बात नीची और श्रीमन्त की ऊँची अवश्य होगी, परन्तु अन्त में ये आशायें व्यर्थ हुईं। पूना में कितने ही दिनों तक यह क्रम रहा कि लोग दिन भर मनसूबा बाँधते और छिप छिप कर बातें करते थे तथा रात्रि को नाकबन्दी की तोप की आवाज सुनकर निराश हो जाते थे। पूना के बाहर से सिंधिया, होलकर, भोसले आदि के पास से जो डाक आती थी उस पर देख रेख रक्खी जाती थी। बाजीराव के आने के समाचारों से लोगों में बार बार हलचल हो उठती थी, अतः अंगरेजों को शहर में बारम्बार स्थान-स्थान पर नाकबन्दी करनी पड़ती थी और शनिवार बाड़े पर तोपें भी चढ़ाई गई थीं। कुछ सरकारी भगवा निशान जो कोतवाली और बाजार के बाकी बच गये थे वे भी निकाल डाले गये और उनकी लकड़ियाँ उखाड़ डाली गईं। इन झण्डों के पास वाले अंगरेजी निशान ही बाकी बच रहे। और वह ठीक भी है, भगवा निशान रहने देने का कारण ही क्या था। क्योंकि

बाजीराव के सुख समाधान पूर्वक शीघ्रता से अधीन हो जाने पर उसे पूना लाकर गद्दी पर बैठने का एल्फिन्स्टन साहब का विचार तो था ही नहीं।

तारीख २२ नवम्बर से जनरल स्मिथ ने बाजीराव का पीछा करना प्रारम्भ किया। इधर पूना मे शान्ति हो जाने पर महाराष्ट्र के सम्पूर्ण जागीरदारों और सरदारो के नाम तारीख ११ फरवरी सन् १८१८ को सूचना भेजकर यह कहा गया कि बिना कारण और बिना कुछ झगड़े के पेशवा ने अङ्गरेजो से बिगाड़ किया परन्तु इसके लिये अङ्गरेज दूसरो को हानि नहीं पहुँचाना चाहते। सबको अपने-अपने स्थान पर सुख सन्तोष से रहना उचित है जिससे कि युद्ध के पहले के दिनों के समान सब अपना-अपना कार्य कर सकें। इस सूचना के कारण बाजीराव को कहीं भी अधिक सहायता न मिल सकी। सिंहगढ और रायगढ में युद्ध हुआ और सासवड में भी दोनों ओर से कुछ तनातनी हुई। यों तो अंगरेजो को बहुत सी छोटी बड़ी गढ़ियां युद्ध करके ही लेनी पड़ी, परन्तु बाजीराव के लिये या पेशवा के लिये किसी भी सरदार या जागीरदार ने सिर नहीं उठाया।

बाजीराव सासवड से माहुली को गया। वहां उसने सतारा के महाराज को कुटुम्ब सहित अपनी सेना में लाने की व्यवस्था की, परन्तु उनके आने की बाट न देख कर फिर भाग खड़ा हुआ और माहुली से पन्ढरपुर, पंढरपुर से जुन्नर और जुन्नर से ब्राह्मणवाड़ा को गया। ब्राह्मणवाड़ा में कुछ दिन मुकाम हुआ। यहां त्र्यम्बकजी डेंगला पेशवा से प्रगट रीति से आकर मिला। उसके रामोशी आदि भी आस पास के पहाड़ों की खोह में छिपे रहते थे। पंढरपुर से रवाना होने के बाद सतारा के महाराज भी पेशवा से आ मिले थे। इतने में ही जनरल स्मिथ सङ्गमनेर के पास आ पहुँचा। तब बाजीराव दक्षिण की ओर चल दिया। इस पर से यह जनश्रुति उड़ी कि बाजीराव पूना पर चढ़ाई करने आता है। यह सुनते ही पूना की ओर जो कर्नलबेवर नामक अङ्गरेजों का सरदार था उसने घोड़ नदी से सेना बुलाई। इस सेना की और मराठी सेना की कोरेगाँव में तारीख १ जनवरी १८१८ को बहुत बड़ी लड़ाई हुई। उसमें अङ्गरेजो की बहुत हानि हुई और उन्हें हार कर पीछे घोड नदी तक हट जाना पड़ा। कोरेगाव के युद्ध में गोखले और त्र्यम्बकजी ने बड़ी भारी वीरता दिखाई, परन्तु मराठी सेना इससे अधिक और कुछ नहीं कर सकती थी, क्योंकि जनरल स्मिथ पीठ पर बैठे ही हुए थे। बाजीराव भीमा नदी से दो मील की दूरी पर की एक टेकड़ी पर से युद्ध देख रहे थे। सतारा के महाराज भी साथ थे। उन्हें इस समय अपनी आबदागिरी को छुट्टी देकर धूप में खड़े रहना पड़ा, क्योंकि उन्हें सन्देह था कि कहीं अङ्गरेज गोलन्दाज आबदागिरी को देखकर गोला न मार दें।

कोरेगाँव से भी बाजीराव रवाना हुये और सालपा के घाट से ऊपर चढ़कर कर्नाटक में घुसे और ठेठ गटप्रभा नदी पर जा पहुँचे, परन्तु जब वहाँ सुना कि मद्रास

से जनरल मनरो आ रहे हैं तो फिर लौटे और कृष्णा नदी को पार कर सालपाघाट से ऊपर को ओर चढ़ शोलापुर की ओर रवाना हुये। इधर जनरल स्मिथ ने तारीख १० फरवरी को सतारे का किला ले लिया। उस पर पहले अङ्गरेजों की और फिर महाराज को ध्वजा लगाई गई। सतारा के महाराज पेशवा के साथ कुछ समय तक भले ही रहे हों, पर वे अङ्गरेजों के शत्रु नहीं माने जाते थे। इसी बीच में कलकत्ता से बाजीराव की सब व्यवस्था करने का पूर्ण अधिकार एल्फिन्स्टन साहब के लिये आ गये थे। उसमें एक विज्ञापन निकाला गया कि पेशवा को गद्दी नहीं दी जायगी, उनका राज्य खालसा कर लिया जायगा। केवल सतारा के महाराज के लिए एक छोटा सा राज्य अलग कर उनका पद स्थिर रखा जायगा।

शोलापुर से पन्ढरपुर को जाते समय आष्टी स्थान पर जनरल स्मिथ ने बाजीराव को घेर लिया। बापू गोखले ने भी स्मिथ साहब का सामना किया। दोनों ओर से बड़ी भारी लड़ाई हुई। ता० २० फरवरी सन् १८१८ को बापू गोखले ने इस युद्ध में शौर्य का अन्त कर दिया और रणस्थान में अपने प्राण दिये। गोविन्दराव घोरपड़े आदि सरदार भी इस युद्ध में मारे गये। पेशवा और सतारा के महाराज का साथ भी यहीं छूटा। बाजीराव ने महाराज से जैसा व्यवहार कर रक्खा था वह सतारा महाराज के मन्त्रियों को पसन्द नहीं था। अङ्गरेजों से युद्ध छिड़ने के दो ही वर्ष पहले ही से उनकी गुप्त बातचीत चल रही थी। आष्टी की लड़ाई के लगभग उस बातचीत का परिणाम निकला। महाराज भी भागते-भागते उकता गये थे और अङ्गरेजों तथा सतारा के कार-भारियों के समाचार उनके पास पहुँच चुके थे। अतः युद्ध में हार होते ही वे माता के साथ बाजीराव के चक्र से स्वतन्त्र हो गये। स्मिथ साहब ने महाराज को एल्फिन्स्टन साहब के सुपुर्द किया और फिर आप बाजीराव का पीछा करने को गये। आष्टी के युद्ध में बाजीराव बहुत झगड़े में पड़ गये और उन्हें पालकी छोड़ कर घोड़े पर बैठकर भागना पड़ा। लड़ाई खतम होने के पहले ही बाजीराव बापूराव गोखले को छोड़कर भाग खड़ा हुआ था। वह जाकर गोदा नदी के तीर पर कोपरगाँव में ठहरा। बहुत दिनों से जन-श्रुति उड़ रही थी कि होलकर की ओर से पेशवा के सहायतार्थ रामदीन नामक सरदार आ रहा है। अन्त में, यह सरदार कोपर गाँव में आकर महाराज से मिला। पटवर्धन सरदार ने पेशवा से आगे न जाकर यहीं से लौट जाने की आज्ञा ली और बाजीराव भी कुछ देशी और परदेशी सेना के साथ उत्तर भारत की ओर रवाना हुआ। बाजीराव को नागपुर के भोसले से सहायता मिलने की पहले बहुत आशा थी, परन्तु दिसम्बर मास में अप्पा साहब भोसले का पराभव कर अंगरेजों ने सीताबर्डी का किला ले लिया था। इसलिए नागपुर की ओर जाने से अब कोई लाभ नहीं था। फिर भी गणपतराव भोसले की सहायता से चाँदा (चन्द्रपुर) तक जाने के लिए बाजीराव वर्धा नदी तक गया भी, परन्तु वहाँ भी अङ्गरेजों की सेना सामना करने को तैयार थी। अतः वह वर्धा नदी के

विश्वास की ओर पाढरकवाडा को ओर वहाँ से सिवनी को गया। यहाँ से उसके भाई चिमाजी अप्पा और देसाई निपाणकर तथा नारोपन्त आपटे आदि सरदार दक्षिण को लौट गये और तुरन्त जनरल स्मिथ के अधीन हो गये। सिवनी से बाजीराव उत्तर की ओर मुड़ा और तारीख ५ मई को उसने ताप्ती नदी को पार किया। यहाँ से नर्मदा उतर कर सिंधिया के राज्य में जाने और सिंधिया से सहायता लेने का उसका विचार था, परन्तु जब उसे यह विदित हुआ कि जनरल मालकम की सेना सिर पर तैयार खड़ी है तब वह हताश हो गया और असीरगढ़ के पास धोलकोट में ठहरा। वहाँ से तारीख १६ मई को बाजीराव ने अपना वकील जनरल मालकम के पास मऊ की छावनी को भेजा। बाजीराव, इस समय, बहुत बुरी दशा में था। उसके आश्रित जन उसे छोड़ गये थे। दूसरे लोगों से सहायता मिलने की कोई आशा नहीं थी। उसकी सेना में अरब और पुरबिया की ही भर्ती थी और अपना वेतन न मिलने के कारण वे विद्रोह करने की तैयारी में थे। उन्होंने बाजीराव का कैदी सा कर रखा था, इसलिये बाजीराव को अङ्गरेजों की शरण में जाने के सिवा दूसरा कोई मार्ग ही नहीं था। जनरल मालकम ने बाजीराव को आठ लाख रुपया की जागीर अपनी जिम्मेदारी पर देना तथा उसके पक्ष के सरदारों को आंच न आने देना स्वीकार किया। तब बाजीराव उनकी छावनी में जाकर रहा। लार्ड हेस्टिंग्स ने पहले तो इन शर्तों को बहुत उदार बतलाया, परन्तु अन्त में उन्हें स्वीकार कर लिया। बाजीराव ने वचन दिया—' कि मैं कभी दक्षिण को न जाऊंगा और न मैं तथा मेरे उत्तराधिकारी पेशवाई राज्य पर कभी अपना अधिकार प्रगट करेंगे।'' तब बाजीराव को गङ्गा किनारे रहने की आज्ञा दी गई और बहुत जाँच पड़ताल के बाद कानपुर के पास बिठूर अथवा ब्रह्मावर्त्त में रहना बाजीराव ने स्वीकार किया। अतः वे उस स्थान को रवाना किये गये।

ब्रह्मावर्त्त में आठ लाख रुपये वार्षिक नकद देने के सिवा एक छोटा सा प्रदेश राज्य के समान दिया गया था। यह राज्य छः वर्गमील के लगभग था। उसके पास एक स्वतन्त्र रेजीडेंट रक्खा गया था। इस राज्य की जनसंख्या दस पन्द्रह हजार थी और यही बाजीराव की प्रजा भी थी। बाजीराव की मराठी पदवी महाराज अथवा श्रीमन्त थी, परन्तु अङ्गरेज हिज हाइनस के नाम से उनका उल्लेख करते थे। ब्रह्मावर्त्त मे बाजीराव के नाम से और अङ्गरेजों का सम्बन्ध स्नेह पूर्ण रहा। एक प्रसङ्ग पर बाजीराव ने छः लाख रुपये और एक हजार सवार तथा पैदल की सहायता अङ्गरेजो को दी थी। ब्रह्मावर्त्त मे बाजीराव को धार्मिक कृत्य करने के लिये मन माना समय मिला। उसी प्रकार पूना के राजवाड़े के समान तमाशे भी बन्द नहीं हुये। ब्रह्मावर्त्त में बाजीराव ने और ५ विवाह किये जिनसे उन्हें दो पुत्रियां हुईं। इनमें से एक यमाबाई साहब आपटे थी जिनका देहान्त गत-वर्ष (सन् १९१७ में) हुआ। इनका जन्म बाजी-

राव की ७२ वर्ष की अवस्था मे हुआ था। सन् १८५१ मे बाजीराव की मृत्यु हुई। उस समय उनकी अवस्था ७६ वर्ष की थी। बाजीराव ने जिस प्रकार बहुत से विवाह किये उसी प्रकार बहुत से दत्तक लडके भी गोद लिये। बडे लडके धोडोपन्त उर्फ नाना साहब थे। बाजीराव की मृत्यु के बाद उनकी ८ लाख की जागीर अङ्गरेजो ने जब्त कर ली और नाना साहब को केवल उदर-निवाह के लिये वृत्ति नियत कर दी, तो भी नाना साहब ने १८५७ तक अङ्गरेजो से व्यवहार रखने की अपनी पद्धति मे बहुत अधिक अन्तर नही होने दिया। ब्रह्मावर्त्त, कानपुर के पास होने के कारण नाना साहब प्राय कानपुर मे ही रहते थे। वहा मुल्की और सैनिक अधिकारियो से उनका खूब स्नेह हो गया था। वे निरन्तर इन लोगो को भोज आदि देते और विनोदार्थ नाच करवाते रहते थे। सन् १८५७ मे अपने भाई और भतीजे के आग्रह से तथा विद्रोही पुरुषो की इस धमकी से कि हम लोगो म मिल जाओ तो अच्छा है नही तो तुम्हारा खून करेंगे, नाना साहब को लाचार होकर विद्रोही दल मे शामिल होना पडा। विद्रोहियो ने उन्हे अपने दल म शामिल कर उनकी इच्छा और आज्ञा के विरुद्ध कानपुर म कतल आदि उनके नाम पर करना आरम्भ कर दिया। ब्रह्मावर्त्त के लोकमत के अनुसार देखा जाय तो साहस और शौर्य का आरोप भी उन पर बिना कारण लादा गया। नाना साहब का अन्त किस प्रकार हुआ, यह कोई भी ठीक नही कह सकता।

पाँचवाँ अध्याय

मराठा राज-मण्डल और अङ्गरेज

सतारे के भोंसले और अङ्गरेज

गत दो प्रकरणों में, शिवाजी, सम्भाजी, राजाराम और शाहू तक छत्रपति के घराने का तथा बालाजी विश्वनाथ से लेकर दूसरे बाजीराव तक पेशवाओं का जैसा सबंध अङ्गरेजों से रहा उसका वर्णन किया जा चुका है और मुख्य कथा भाग भी यहीं समाप्त होता है परन्तु पेशवा के समान दूसरे मराठे राजाओं का अङ्गरेजों से कब और कैसे सबंध हुआ इसका वर्णन करना भी आवश्यक है क्योंकि यह ध्यान में रखना चाहिए कि मराठाशाही का इतिहास केवल पेशवा घराने से ही नहीं बना उसमें सतारा कोल्हापुर नागपुर और सावन्तवाडी के भोंसले (छत्रपति और सरदार) तथा सिंधिया, होलकर आदि मराठा शाही के सरदारों का भी भाग है। अत इन सरदारों का अङ्गरेजों से स्वतन्त्र अथवा पेशवा के द्वारा जैसा सबंध रहा उसका वर्णन संक्षेप में नीचे दिया जाता है।

मराठाशाही राज्य में सतारे के भोंसले घराने का नाम मुख्य है। इस घराने के मुख्य पुरुष शिवाजी, सम्भाजी और राजाराम का इतिहास प्रसिद्ध ही है और इनके राजत्वकाल में अङ्गरेजों से जैसा सम्बन्ध रहा उसका वर्णन पहले किया जा चुका है। राजाराम के बाद शाहू महाराज के समय में अङ्गरेजों की हैसियत एक प्रार्थी के समान थी। अङ्गरेजों को शाहू से व्यापार के लिए आज्ञा और मुआफ़ी प्राप्त करना था। अतः उन्होंने नजराना और वकील भेजकर कार्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया, परन्तु इस समय राजकाज का अधिकार शाहू के पास न होकर पेशवा के पास थे और यह जानकर अङ्गरेजों ने भी अपने राजकार्यों का सम्बन्ध पेशवा से प्रारम्भ कर दिया। शाहू महाराज के राज्यकाल में बालाजी विश्वनाथ और बाजीराव प्रथम का कार्यकाल समाप्त हो चुका था और नाना साहब, पेशवाई की गद्दी पर थे। इनका भी लगभग आधा समय व्यतीत हो चुका था। शाहू के मरने के पश्चात् सतारे के महाराज निर्माल्यवत् हो गये थे, इसलिए आगे इनसे अङ्गरेजों को कोई काम नहीं पड़ा। केवल इनका सम्बन्ध दूसरे बाजीराव के शासनकाल के अन्त में हुआ। क्योंकि वे उस समय बाजीराव की कैद में थे और यह कारावास उन्हें तथा उनके मित्रों को असह्य होने के कारण महाराज ने अङ्गरेजों की सहायता से छूटने का प्रयत्न किया था।

सतारे के महाराज निर्माल्यवत् हो गये थे, तो भी उनका सम्मान गद्दी के स्वामी के ही समान था। सतारे के छोटे से राज्य की सीमा में सम्पूर्ण अधिकार और

हुकूमत महाराज ही की थी। पेशवा के परिवर्तन के समय में पेशवा को अधिकारों के वस्त्र महाराज द्वारा ही दिये जाते थे और जब तक वस्त्र प्राप्त न हों तब तक पेशवा के अधिकारों को तात्विक दृष्टि से नियमानुकूलता प्राप्त नहीं होती थी। दूसरे बाजीराव को यद्यपि अङ्गरेजों ने गद्दी पर बैठाया था, पर वस्त्र उन्हें सतारे से ही लेने पड़े थे। पेशवा पूना में राजा थे परन्तु सतारे की सीमा में वे नौकर ही माने जाते थे और वहाँ वे भी अपनी नौकरी के नाते का स्मरण कर उसी के अनुसार चलते थे। यदि पेशवा सेना सहित सतारे को जाते तो सतारे की सीमा लगते ही उनकी नौबत बजना बन्द हो जाती थी और पेशवा हाथी या पालकी पर से उतर कर पैदल चलते थे। महाराज के दर्शनों के लिए हाथ बाँध कर जाते और महाराज के सम्मुख नजर देते थे तथा उनके पैरों पर सिर रखकर प्रणाम करते थे। इसी प्रकार अपने हाथ में चँवर लेकर महाराज पर दुलाते थे और महाराज के सामने सादी बैठक पर या पीछे खवास-खाने में बैठते थे।

सन् १८०६ के लगभग महाराज को बाजीराव की कैद से छुड़ाने के लिए चतुर्रसिंह भोंसले बावी वाल के नेतृत्व में प्रयत्न हुए। चतुर्रसिंह ने इस काम के लिये जब विद्रोह किया तब बाजीराव ने उसे भी बाल बच्चों के साथ कैद कर लिया। पहले तो यह मालेगाँव में और फिर कांगोरी के किले में रक्खा गया था। इस पर देख रख रखने का काम त्र्यम्बकजी डेंगला के सुपुर्द किया गया था। सन् १८१६ में उक्त किले में ही चतुर्रसिंह की मृत्यु हो गई। चतुर्रसिंह के साथ ही साथ महाराज के कितने ही हितचिन्तकों को बाजीराव ने कैद में रक्खा था। चतुर्रसिंह के विद्रोह के कारण महाराज की कैद और भी सख्त कर दी गई। सतारे के महाराज, महाराजा प्रतापसिंह स्वभाव के धीमे और शान्त थे, परन्तु इनकी माता बहुत चतुर और महत्वाकांक्षिणी थी। अतः उन्होंने अपना वकील गुप्त रीति से अङ्गरेजों के पास भेजकर पुत्र को छुड़ाने का प्रयत्न करना प्रारम्भ किया। अङ्गरेजों को बाजीराव के विरुद्ध यह बहुत अच्छा कारण मिल गया। अतः उन्होंने महाराज के वकील की सब बातें सुनकर उनकी माता के पास सहानुभूति पूर्ण उत्तर भेजने और धैर्यपूर्वक रहने के लिये कहने का क्रम जारी रक्खा। परन्तु, अङ्गरेजों को बाजीराव के काम में प्रत्यक्ष रीति से हाथ डालने का अधिकार न होने के कारण वे इस सम्बन्ध में उनसे कुछ भी नहीं कहते थे। उन्होंने महाराज के वकील से कह रक्खा था कि बाजीराव से युद्ध हो, तो महाराज को हमारा पक्ष लेना होगा, क्योंकि एल्फिन्स्टन साहब का अनुमान था कि बाजीराव से युद्ध अवश्य होगा। बाजीराव को भी इन बातों का समाचार मिल गया, अतः उसने महाराज की देख रेख का और भी अधिक प्रबन्ध कर दिया।

सन् १८१७ में जब युद्ध का निश्चय हो गया तब बाजीराव ने महाराजा सतारा को अपने हाथ से न जाने देने के लिये महाराज से कहलवाया कि—"मैं आपका केवल

नौकर हैं, राज्य सब आपका [redacted] यह आपही को शासन करने के लिये प्राप्त होगा।" फिर महाराज को सतारा से लाकर वासोटा के किले में रक्खा और वहाँ से फिर बाजीराव ने उन्हें अपनी सेना में लाकर भाग दौड़ में आष्टी के युद्ध तक साथ में रक्खा। आष्टी के युद्ध में अङ्गरेजों से पहले से ही ठहरे हुये संकेत के अनुसार काम करने का अवसर मिला और उस अवसर का महाराज के अनुयायियों ने लाभ उठा लिया। राज्य खास स्वामी के हाथ में आ जाने के कारण अङ्गरेजों को भी बहुत लाभ हुआ और उन्होंने एक घोषणा निकाली कि यद्यपि राजविद्रोही पेशवा का शासन नष्ट हो गया है, पर वास्तविक राज्य तो अभी मौजूद ही है, इसलिये सब मराठे सरदार हमारी शरण में आकर अपने-अपने घर जावें। हम मराठी राज्य को पहले के समान ही चलाना चाहते हैं। पेशवा का राज्य नष्ट हो गया है, परन्तु महाराजा का राज्य अभी अबाधित है। इसके बाद प्रतापसिंह महाराज को सतारे की गद्दी पर बिठला कर उनके लिये एक छोटा सा स्वतन्त्र राज्य पृथक कर दिया और ग्राण्ड डफ उसके रेजीडेंट बनाये गये। सतारा-नरेश का यह नवीन राज्य भी आम केवल ३० वर्ष ही टिका। सन् १८३६ में अङ्गरेजों के विरुद्ध विद्रोह करने का आरोप महाराज प्रतापसिंह पर लगाया गया और इसलिये वे काशी को भेज दिये गये। *मालूम होता है कि दक्षिण के राजा महाराजाओं को अङ्गरेजों के उपदेश से उत्तर भारत के तीर्थों में रहना बहुत पसन्द था।* तभी तो बाजीराव ब्रह्मावर्त में जाकर रहे और उनके स्वामी ने काशी वास स्वीकार किया। महाराज प्रतापसिंह के विद्रोह के सम्बन्ध में सतारे के इतिहासकार ने लिखा है कि—'सन् १८१८ में अङ्गरेज सरकार और छत्रपति सरकार प्रतापसिंह महाराज का बिगाड़ हो गया। तब पूना से अङ्गरेजों की सेना आई। उस रात्रि के समय में छत्रपति महाराज के पास फौज के मुख्य सेनापति बलवन्तराव राजे भोंसले थे। उन्होंने विचार किया कि एक पलटन से साथ युद्ध कर अपनी सैनिक वृत्ति का अन्त कर दिया जाय, परन्तु महाराज ने सेनापति का हाथ पकड़ कर उन्हें बैठा लिया और सुबह होने तक बाहर नहीं जाने दिया।" इसी इतिहासकार ने यह भी लिखा है कि—"बालाजी नारायणराव ने छत्रपति के विरुद्ध झूठी-झूठी गवाहियाँ अङ्गरेजों के यहाँ देकर महाराज को काशी भिजवाया।' शक सम्वत् १७६६ में काशी में महाराज प्रतापसिंह का देहान्त हुआ। प्रतापसिंह के काशी चले जाने पर उनके दत्तक पुत्र शाहजी राजगद्दी पर बैठाये गये, परन्तु शाहजी को भी कोई और सन्तान नहीं थी, इसलिये उन्होंने वेंकोजी को गोद लिया और उन्हें रेजीडेंट ने गद्दी पर भी बैठाया, परन्तु पीछे से यह आज्ञा आने पर कि अब दत्तक-विधान की आज्ञा नहीं है, सन् १८४८ में सतारा राज्य खालसा कर दिया गया।

कोल्हापुर के भोसले और अङ्गरेज

शिवाजी महाराज और सम्भाजी के समय में मराठाशाही की राजधानी रायगढ़

अजीमतारा बेवस
मे थी। उस समय कोल्हापुर के पास का पन्हाला और सतारे का मुगलों से स्वतन्त्रता
विले समझे जाते थे। सम्भाजी क बध होन के पश्चात् आठ वर्ष तक
के रक्षार्थ युद्ध हुआ और जब राजाराम महाराज जिञ्जी से वापिस लोटे तब सन् १६९८
म राजधानो सतारे लाइ गई। इस परिवतन म सब सरदारा की सम्मति थी। पन्हाला
की अपेक्षा सतारा मध्यवर्ती स्थान था और यहाँ से सम्पूण राज्य का निरीक्षण अच्छी
तरह किया जा सकता था।

राजाराम की मृत्यु हो जाने के ७ वर्ष बाद जब शाहू देहली से वापस लौटे तो
सतारा की गद्दी के सम्बन्ध में ताराबाई और शाहू मे झगडा शुरू हुआ। सन् १७०७
मे खेड नामक स्थान पर युद्ध हुआ और १७०८ में शाहू सतारा म आकर गद्दी पर बैठे।
इसी समय के लगभग ताराबाई ने कोल्हापुर में स्वतन्त्र गद्दी स्थापित कर नवीन अष्ट-
प्रधान बनाये। यही म कोल्हापुर और सतारे के भासने की ओर से पेशवा का मनो
मालिन्य शुरू हुआ और वह सतारे का राज्य नष्ट हो जाने तक रहा। आज भी तञ्जोर
की आमदनी के उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे कोल्हापुर के महाराज और सतारे के महा
राज वादी प्रतिवादी हैं। नाना साहब पेशवा के समय मे शाहू महाराज की मृत्यु के
अवसर पर कोल्हापुर और सतारे के महाराजाओ का परस्पर मेल हो जाने का प्रयत्न
किया गया, परन्तु वह सफल न हो सका। पानीपत के युद्ध म पेशवा के नाश के समा
चारों को सुनकर ताराबाई को बहुत सन्तोष हुआ और फिर उसकी मृत्यु हो गई। उन
दिनो पेशवा के शत्रु कोल्हापुर महाराज के मित्र और कोल्हापुर महाराज के शत्रु पेशवा
के मित्र होते थे। निजाम पेशवा के शत्रु होने क कारण कोल्हापुर महाराज के मित्र थे।
इस बात से अप्रसन्न होकर बडे माधवराव ने कोल्हापुर राज्य का कुछ हिस्सा अधिकृत
कर लिया और उसे पटवधन को जागीर के रूप मे दिया। इस तरह पटवधन पेशवा
की ओर से कोल्हापुर के पहरे वाले के समान हो गये फिर रघुनाथराव के झगडे से
कोल्हापुर वालो ने रघुनाथराव का पक्ष लेकर खोये हुये परगने वापिस ले लिये, परन्तु
माधवराव सिंधिया की फौज ने दुबारा इनको जीत लिया। सवाई माधवराव के राज-
काल मे जो विद्रोहियो का उपद्रव हुआ उसम कोल्हापुर वालो का ही हाथ था। बाजी-
राव के समय म नाना फडनवीस की सूचना से कोल्हापुर वालो ने परशुराम भाऊ पट-
वधन की जागीर पर आक्रमण किया और सतारे मे चतुरसिंह ने जो विद्रोह किया उसमे
पेशवा के विरुद्ध कोल्हापुर वालो ने मदद दी। पट्टणकुडी की लडाई म चतुरसिंह और
कोल्हापुर की सेना ने परशुराम भाऊ का पराभव कर उस मार डाला, तब नाना फडन-
वीस ने विचुरकर प्रतिनिधि और मेजर ब्राउनरिग्ग का सिंधिया की सेना देकर कोल्हा-
पुर भेजा और शहर पर घेरा डाला। यह घेरा बहुत दिनो तक रहा, परन्तु अन्त मे
पेशवा ने घेरा उठा लिया।

अङ्गरेजो और कोल्हापुर के महाराज का सम्बन्ध पहल-पहल सन् १७६५ म

हुआ। मालवण का किला कोल्हापुर के राज्य म था और समासी लोग अङ्गरेजों के जहाजों को बहुत सताते थे। सन् १७६५ म बम्बई क अङ्गरजी जहाजो बेडे में से मेजर गाडन और मेपून वाटसन के नेतृत्व में सना ने इस किले को सर किया और इसे अपने अधिकार में रखने के लिए इसका नाम "फोर्ट आगस्टस" रखा, परन्तु उस किले को बहुत उपयोगी न समझ उसको इन्धन्नी गिरा देने का विचार किया और अन्त म इस तरह पटवर्धन पेशवा की ओर से मदद लेकर उस किले को कोल्हापुर वालों को ही दे दिया। सन् १८११ में अङ्गरेजो ने कोल्हापुर वाला से स्वतन्त्र संधि करने का प्रयत्न किया। तब बाजीराव ने इस सधि म बाधा डाली, परन्तु अङ्गरेजा ने उस पर कुछ ध्यान न देकर सधि कर ली। इस सधि के अनुसार पेशवा को चिकोडी और मनोली प्रान्त वापिस लौटाये गये और अङ्गरेजा को मालवण का किला तथा उसके नीचे का प्रदेश मिला। इसके सिवा सामुद्रिक लुटेरे लोगा को बन्दर म आश्रय न दने, शत्रु क जहाजो को बन्दर में न आने दने, स्वयम् लडाऊ जहाज न रखने, लडाऊ जहाज मिलने पर अङ्गरेजों को लौटा दने, अङ्गरेजो के टूटे हुए जहाज किनारे लगने पर अङ्गरेजों को वापिस कर देने और अङ्गरेजों की सम्मति के सिवा किसी से युद्ध न करने आदि की शर्तें कोल्हापुर वालो की ओर से सधि में स्वीकार की गई। अङ्गरेजो ने कोल्हापुर के पुराने दावे स्वीकार किये और कोल्हापुर राज्य की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया।

शाहू से विवाद उपस्थित होने पर ताराबाई के अधिकार में बहुत थोडा प्रदेश रह गया था। कोल्हापुर के महाराज अथवा उनके मन्त्रियो ने फिर कोई प्रदेश राज्य में नही मिलाया। उनकी चढाई प्राय कोल्हापुर के आस पास पटवर्धन की जागीर पर ही हुआ करती थी। इनके पास सेना भी बहुत थोडी थी। पेशवाओं के ७५ वर्ष के शासन-काल में कभी न कभी इसी राज्य का अन्त हो ही जाता, परन्तु सुदैव से यह बच गया और बाजीराव के समय से तो इस राज्य को सिवा अङ्गरेजा के और किसी का डर नही रहा। अङ्गरेजों से लडने के लिये कोल्हापुर राज्य के सन्मुख बहुत से कारण भी उपस्थित नहीं हुए और अपनी कमजोरी के कारण इसने अङ्गरेजो से पहले ही सधि कर ली। सन् १८१७-१८ म पेशवा और अङ्गरेजा से जो युद्ध हुआ उसमें कोल्हापुर वालो ने अङ्गरेजों का ही पक्ष लिया था। इस युद्ध के बाद कोल्हापुर वालों से जो फिर नवीन सधि हुई उसके अनुसार तीन लाख की आमदनी के ताल्लुके चिकोडी और मनोली कोल्हापुर वालो को वापस दिलाये गये। सन् १८२२ मे एल्फिन्स्टन साहब कोल्हापुर गये। सन् १८२५ में महाराज कोल्हापुर नरेश ने "कागल" के जागीरदारों से शत्रुता कर "कागल" छीन लिया और उन्हें लूट लिया तब वेबर साहब धारवाड से छ हजार सेना लेकर कोल्हापुर पर चढ आया। महाराज ने उसको शरण दी और युद्ध के लिए जो तोपें गाँव के बाहर निकाली थी उन्ही से वेबर साहब की सलामी ली गई। इस बार फिर सधि हुई उसके अनुसार अङ्गरेजों की आज्ञा बिना फौज न

मे थी । उस समय कोल्हापुर के पास का पन्हाला और सतारे का अजीमतारा केवल किले समझे जाते थे । सम्भाजी के वध होने के पश्चात् आठ वर्ष तक मुगलों से स्वतन्त्रता के रक्षार्थ युद्ध हुआ और जब राजाराम महाराज जिंजी से वापिस लौटे तब सन् १६९८ म राजधानी सतारे लाई गई । इस परिवर्तन म सब सरदारों की सम्मति थी । पन्हाला की अपेक्षा सतारा मध्यवर्ती स्थान था और यहाँ से सम्पूर्ण राज्य का निरीक्षण अच्छी तरह किया जा सकता था ।

राजाराम की मृत्यु हो जाने के ७ वर्ष बाद जब शाहू देहली से वापस लौटे तो सतारा की गद्दी के सम्बन्ध मे ताराबाई और शाहू म झगडा शुरू हुआ । सन् १७०७ मे खेड नामक स्थान पर युद्ध हुआ और १७०८ में शाहू सतारा म आकर गद्दी पर बैठे । इसी समय के लगभग ताराबाई ने कोल्हापुर में स्वतन्त्र गद्दी स्थापित कर नवीन अष्ट-प्रधान बनाये । यही स कोल्हापुर और सतारे के शासने की ओर से पेशवा का मनो-मालिन्य शुरू हुआ और यह सतारे का राज्य नष्ट हो जाने तक रहा । आज भी तञ्जोर की आमदनी के उत्तराधिकार के सम्बन्ध म कोल्हापुर के महाराज और सतारे के महाराज वादी प्रतिवादी हैं । नाना साहब पेशवा के समय म शाहू महाराज की मृत्यु के अवसर पर कोल्हापुर और सतारे के महाराजाओ का परस्पर मेल हो जाने का प्रयत्न किया गया, परन्तु वह सफल न हो सका । पानीपत के युद्ध मे पेशवा के नाश के समाचारो को सुनकर ताराबाई को बहुत सन्तोष हुआ और फिर उसकी मृत्यु हो गई । उन दिनो पेशवा के शत्रु कोल्हापुर महाराज के मित्र और कोल्हापुर महाराज के शत्रु पेशवा के मित्र होते थे । निजाम पेशवा के शत्रु होने के कारण कोल्हापुर महाराज के मित्र थे । इस बात से अप्रसन्न होकर बडे माधवराव ने कोल्हापुर राज्य का कुछ हिस्सा अधिकृत कर लिया और उसे पटवधन को जागीर के रूप म दिया । इस तरह पटवधन पेशवा की ओर से कोल्हापुर क पहरे वाले के समान हो गये फिर रघुनाथराव के झगडे से कोल्हापुर वाला ने रघुनाथराव का पक्ष लेकर खोये हुये परगने वापिस ले लिये परन्तु माधवराव सिंधिया की फौज ने दुबारा इनको जीत लिया । सवाई माधवराव के राजकाल मे जो विद्रोहियो का उपद्रव हुआ उसमे कोल्हापुर वाला का ही हाथ था । बाजीराव के समय मे नाना फडनवीस की सूचना से कोल्हापुर वालो ने परशुराम भाऊ पटवधन की जागीर पर आक्रमण किया और सतारे मे चतुरसिंह ने जो विद्रोह किया उसमे पेशवा के विरुद्ध कोल्हापुर वालो ने मदद दी । पट्टणकुडी की लडाई मे चतुरसिंह और कोल्हापुर की सेना ने परशुराम भाऊ का पराभव कर उसे मार डाला, तब नाना फडनवीस ने बिचुरकर प्रतिनिधि और मेजर ब्राउनरिग्ज को सिंधिया की सेना देकर कोल्हापुर भेजा और शहर पर घेरा डाला । यह घेरा बहुत दिनो तक रहा, परन्तु अन्त मे पेशवा ने घेरा उठा लिया ।

अङ्गरेजो और कोल्हापुर के महाराज का सम्बन्ध पहले-पहल सन् १७६५ मे

हुआ। मालवण का किला कोल्हापुर के राज्य मे था और खलासी लोग अङ्गरेजो के जहाजो को बहुत सताते थे। सन् १७६५ म बम्बई के अङ्गरेजो जहाजो बेडे में से मेजर गाडन और केप्टन वाटसन के नेतृत्व मे सेना ने इस किले को सर किया और इसे अपने अधिकार में रखने के लिए इसका नाम "फोर्ट आगस्टस" रक्खा, परन्तु उस किले को बहुत उपयोगी न समझ उसकी हदबन्दी गिरा देने का विचार किया और अन्त मे इस तरह पटवधन पेशवा की ओर से नकद लेकर उस किले को कोल्हापुर वाला को ही दे दिया। सन् १८११ मे अङ्गरेजो ने कोल्हापुर वाला से स्वतत्र सधि करने का प्रयत्न किया। तब बाजीराव ने इस सधि म बाधा डाली, परन्तु अङ्गरेजो ने उस पर कुछ ध्यान न देकर सधि कर ली। इस सधि के अनुसार पेशवा को चिकोडी और मनोली प्रान्त वापिस लौटाये गये और अङ्गरेजो को मालवण का किला तथा उसके नीचे का प्रदेश मिला। इसके सिवा सामुद्रिक लुटेरे लोगा को बन्दर मे आश्रय न देने, शत्रु के जहाजो को बन्दर मे न आने देने, स्वयम् लडाऊ जहाज न रखने, लडाऊ जहाज मिलने पर अङ्गरेजो को लौटा देने, अङ्गरेजो के टूटे हुए जहाज किनारे लगने पर अङ्गरेजा को वापिस कर देने और अङ्गरेजों की सम्पत्ति के सिवा किसी से युद्ध न करने आदि की शर्तें कोल्हापुर वालो की ओर से सधि मे स्वीकार की गई। अङ्गरेजो ने कोल्हापुर के पुराने दावे स्वीकार किये और कोल्हापुर राज्य की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया।

शाहू से विवाद उपस्थित होने पर तारावाई के अधिकार में बहुत थोडा प्रदेश रह गया था। कोल्हापुर के महाराज अथवा उनके मन्त्रियो ने फिर कोई प्रदेश राज्य में नही मिलाया। उनकी चढाई प्राय कोल्हापुर के आस पास पटवधन की जागीर पर ही हुआ करती थी। इनके पास सेना भी बहुत थोडी थी। पेशवाओ के ७५ वर्ष के शासन-काल में कभी न कभी इसी राज्य का अन्त हो ही जाता, परन्तु सुदैव से यह बच गया और बाजीराव [redacted] समय से तो इस राज्य को सिवा अङ्गरेजो के और किसी का डर नही रहा। अङ्गरेजों से लडने के लिये कोल्हापुर राज्य के सन्मुख बहुत से कारण भी उपस्थित नहीं हुए और अपनी कमजोरी के कारण इसने अङ्गरेजो से पहले ही सधि कर ली। सन् १८१७-१८ में पेशवा और अङ्गरेजो से जो युद्ध हुआ उसमें कोल्हापुर वालों ने अङ्गरेजो का ही पक्ष लिया था। इस युद्ध के बाद कोल्हापुर वालो से जो फिर नवीन सधि हुई उसके अनुसार तीन लाख की आमदनी के ताल्लुके चिकोडी और मनोली कोल्हापुर वालो को वापस दिलाये गये। सन् १८२२ मे एल्फिन्स्टन साहब कोल्हापुर गये। सन् १८२५ मे महाराज कोल्हापुर नरेश ने "कागल" के जागीरदारों से शत्रुता कर "कागल" छीन लिया और उन्हें लूट लिया तब वेबर साहब धारवाड से [redacted] हजार सेना लेकर कोल्हापुर पर चढ आया। महाराज ने उसको शरण दी और युद्ध के लिए जो तोपें गाँव के बाहर निकाली थी उन्ही से वेबर साहब की सलामी ली गई। इस बार फिर सधि हुई उसके अनुसार अङ्गरेजो की आज्ञा बिना फौज न

रखने, अङ्गरेजों की सम्मति के अनुसार राज्य चलाने और अङ्गरेज जो निश्चय करें उसके अनुसार जागीरदारों को नुकसानी देने की शर्तें कोल्हापुर सरकार ने स्वीकार की। इसके लिए चिकोडा और मनोली ताल्लुके अङ्गरेजों के सुपुर्द कर दिये गये। इसके पश्चात् मालवण के किले से तोपें मगाकर महाराज अपनी प्रजा को ही कष्ट देने लगे। तब फिर अङ्गरेजों ने बेलगाव से एक पलटन कोल्हापुर को भेजी। सन् १८३७ में जब यह सेना कोल्हापुर आई तब फिर नवीन म... ...। इसके अनुसार सब तरह की बारह सौ से अधिक सेना न रखने तोपों ... ...ने और चिकोडी तथा मनोली प्रान्त जिनके मिलने की आशा से महाराज ... ...देश के खर्च से पन्हालगढ पर अङ्गरेजी सेना रखने और बिना अङ्गरेजों की सम्मति के कोई दीवान न रखने की शर्तें भी इस संधि में की गई थी।

नागपुर के भोसले और अंगरेज

नागपुर के भोसले के कुटुम्ब के मूल पुरुष परसोजी सन्ताजी घोरपडे के आश्रय में एक छोटा सा सरदार था। इसका जन्म सतारे के पास देऊर नामक गाव में हुआ था। यह इस गाँव के निवासियों में से एक था। किसी किसी का कहना है कि पूना के पास वाला हिंगणखण्डी नामक गाँव नागपुर के भोसले का मूल गाँव है। परसोजी ने सन्ताजी के आश्रय में आने के पहले भी शिवाजी के हाथ के नीचे सिपाही का काम किया था। इनका और शिवाजी का भोसला घराना एक ही था और ये भी बड़े महत्वाकांक्षी थे। पेशवाई का पद बाजीराव को न मिलने देने में दाभाड़े के समान परसोजी भोसले का भी मत था। परसोजी के लड़के कान्होजी को शाहू महाराज ने "सेना साहब सूबा" की पदवी दी थी, परन्तु आज्ञा भंग के अपराध पर कान्होजी सतारे में कैद किये गये और उनका पद उनके भतीजे राघोजी को दिया गया। इनके पहले राघोजी कान्होजी के हाथ के नीचे सिपाही का काम करता था। इसी तरह गोंडवाना प्रान्त के एक मुसलमान राजा के आश्रय में भी इसने नौकरी की थी। राघोजी यद्यपि एक साधारण सिपाही था तो भी उसकी बुद्धि तीव्र थी और वह बहुत साहसी तथा चपल था। राघोजी शिकार बहुत अच्छा करता था। शिकार खेलने का प्रेम छत्रपति शाहू महाराज को भी बहुत था, इसलिए शाहू राघोजी पर प्रसन्न हो गये और इस गुण से राघोजी ने लाभ उठा लिया। राघोजी भामला घराने का था, इसलिए उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए शाहू महाराज के सिरके घराने की एक लड़की अर्थात् अपनी ही साली से उसका विवाह कर दिया और फिर उसे बरार प्रान्त की सनद दी। इसके बदले में राघोजी ने ५ हजार सवार रखकर सतारा की गद्दी की नौकरी करने और नौ लाख रुपया वार्षिक वसूली देने का करार किया। उसने इसी प्रकार अवसर पड़ने पर १० हजार सेना लेकर पेशवा के साथ चढ़ाई पर जाने का भी करार किया था।

कन्होजी भोंसले के समय से ही गोंडवाने का बहुत सा भाग अपने अधिकार में करके कटक प्रान्त पर भोंसलों ने चढ़ाइयाँ करना शुरू किया था। राघोजी ने भी यही क्रम रक्खा और इसकी वृद्धि की। १७३८ के लगभग राघोजी ने कटक लूटा और उत्तर प्रांत में इलाहाबाद तक चढ़ाई कर वहाँ के सूबेदार शुजाखान को जान से मारा और लूट का बहुत सा माल लेकर वह लौटा। इस आक्रमण में बाजीराव या शाहू महाराज की सम्मति नहीं थी, इसलिए आना-जाना बन्द करने की बात उठाकर बाजीराव ने आवजी कवडे और सरलश्कर को बरार प्रांत पर आक्रमण करने के लिए भेजा, परन्तु राघोजी ने उनको पराजित किया। यह सुनकर स्वयम् बाजीराव पेशवा ने जाने का निश्चय किया, परन्तु नादिरशाह के चढ़ आने के समाचारों के कारण उन्हें अपना विचार बदल देना पड़ा। बाजीराव का कहना था कि नर्मदा के उत्तर की ओर आक्रमण करने और कर वसूल करने का अधिकार राघोजी को नहीं है और न शाहू महाराज या पेशवा की आज्ञा पाये बिना राघोजी देश-विजय के लिए चढ़ाई ही कर सकते हैं। राघोजी का कहना था कि पेशवा का पद सदा ब्राह्मणों को देने की आवश्यकता नहीं है। राघोजी मौका लगने पर पेशवाई का काम बाजीराव से ले लेने के सिवा, शाहू के पुत्र-रहित मरने पर, स्वयम्, गद्दी पर बैठने का हौसला भी रखता था।

यह झगड़ा बढ़ते बढ़ते युद्ध का रूप धारण करने वाला ही था कि इतने में दिल्ली का बड़ा भारी राजनीय झगड़ा आ जाने से बाजीराव ने इस घर के झगड़े को तोड़ डाला और प्रत्यक्ष मिलकर उसे आपस में तय कर लिया। कितने ही लोगों का यह तक है कि राघोजी भोंसले की बड़ी भारी महत्वकांक्षा जानकर बाजीराव पेशवा ने पूर्वी किनारे के ऊपर बंगाल प्रांत से कर्नाटक तक के प्रदेश पर चढ़ाई करने का मार्ग बतलाया और इस तरह अपना एक प्रतिस्पर्धी कम कर लिया। इससे आगे की भोंसले की चढ़ाइयाँ भी इसी क्रम के अनुसार हुईं। सन् १७४० में कर्नाटक पर मराठों ने फिर चढ़ाई की उस समय सेना का आधिपत्य राघोजी को ही दिया गया था। यह सेना कम से कम ५० हज़ार थी। राघोजी ने कर्नाटक के नवाब दोस्त अली को पराजित कर उसे जान से मारा और उसके मन्त्री मीर असद को कैद किया। इस विषय के कारण दक्षिण भारत के लोगों तथा फ्रेन्चों पर मराठों का बहुत दबदबा जम गया। उक्त मन्त्री मीर असद ने ही नवाब सफ्दरअली और मराठों से सन्धि करवा दी। उसमें यह निश्चय हुआ कि नवाब साहब मराठों को एक करोड़ रुपया किस्तबन्दी से देवें। सफ्दरअली के प्रति-स्पर्द्धी चन्दा साहब को निकाल देने के लिये मराठी फौज नवाब साहब को सहायता दे और पूर्वीय किनारे पर के जिन हिन्दू राजाओं का राज्य सन् १७३६ के पश्चात् फ्रेन्चों ने ले लिया हो, वह जिनका हो उनको लौटा दिया जाय। इसके बाद राघोजी ने फ्रेन्चों के पीछे तकाज़ा लगाया, क्योंकि वह त्रिचनापल्ली अपने अधिकार में करना चाहता था।

राघोजी ने पांडुचेरी के फ्रेन्च गवर्नर को एक पत्र लिखा कि "हमारे महाराज ने तुम्हें पांडुचेरी में रहने की जो आज्ञा दी थी उसे ४० वर्ष हो गये। हमें विश्वास था कि तुम हमारी मर्जी के पात्र हो और अपने करारों का पालन करोगे, इसलिये तुम्हें रहने के लिये यह स्थान दिया गया था। तुमने इसके बदले में जो वार्षिक कर देना स्वीकार किया था वह अभी तक नहीं पूरा हुआ। अब हमें जिन्जी और त्रिचनापल्ली के किले लेकर उनका प्रबंध करने और किनारे पर के यूरोपियनों से कर वसूल करने की आज्ञा हुई है। हम तुम पर कृपा करते हैं, पर तुम हमसे विरुद्ध चलते हो। हमने अपना आदमी भेजा है, सो कर की रकम और चन्दा साहब के बाल बच्चे तथा उनकी जो कुछ सम्पत्ति हो वह इनके सुपुर्द कर देना। बम्बई की जो स्थिति हुई वह तुम्हें मालूम ही है। हमारा जहाजी बेड़ा भी उधर जाने वाला है इसलिये झगड़े को तुरन्त निपटा देना उचित होगा। इस पत्र का उत्तर पांडुचेरी के गवर्नर ड्यूमा ने इस प्रकार दिया—"फ्रेंच राष्ट्र पर आज तक किसी ने भी कर नहीं बैठाया। यदि हमारे स्वामी यह सुनेंगे कि मैंने कर देना स्वीकार किया है तो वे मेरा सिर उड़ाये बिना नहीं रहेंगे। इधर के राजाओं ने समुद्र किनारे की बालू पर किला बांधने और शहर बसाने की आज्ञा दी थी। उस समय हमने केवल यहां के धर्म और देवालयों की क्षति न पहुँचाने की बात ही की और यह बात हमने पालन भी की है अतएव आपकी सेना के यहां आने का कोई कारण नहीं है। आप लिखते हैं कि हमारी मांग स्वीकार न करने पर सेना सहित आवेंगे, सो आपका सत्कार करने के लिये हमारे यहां भी पूर्ण तैयारी है। बसई में क्या हुआ यह हमें अच्छी तरह मालूम है। आप केवल इतना ही ध्यान में रखें कि बसई की रक्षा फ्रेंच लोगों के हाथ में नहीं थी।' अन्त में पांडुचेरी पर आक्रमण न कर मराठों की सेना लौट आई।

सन् १७४० में प्रथम बाजीराव की मृत्यु के पश्चात् पेशवाई के वस्त्र नाना साहब को मिले। राघोजी ने ये वस्त्र न मिलने देने का प्रयत्न किया। कर्नाटक से लौट आने का यह भी एक कारण था। बाजीराव और बाबूजी नायक नामक अमरावती वाले के बीच में बाजीराव के कर्ज ली हुई रकम के कारण परस्पर वैमनस्य हो गया था, अतः उसे आगे कर और शाहू को रिश्वत में बड़ी भारी रकम देने का भी प्रयत्न कर पेशवाई के वस्त्र राघोजी ने नायक को दिलाना चाहा, पर उसे इसमें सफलता न मिली। तब राघोजी नायक को साथ लेकर फिर कर्नाटक गया वहाँ तंजोर के मराठों की सहायता से उसने सन् १७४१ में त्रिचनापल्ली अपने अधिकार में ले ली और मुरारराव घोरपड़े को वहाँ का किलेदार बनाया तथा चन्दा साहब को पकड़ कर सतारे में नजर-कैद किया।

जिस समय राघोजी कर्नाटक में थे उसी समय मुर्शिदकुली खां के दीवान मीर हबीब ने राघोजी के दीवान भास्करपन्त को कटक प्रान्त पर चढ़ाई करने का निमन्त्रण

लिया और उन्होंने स्वीकार भी किया। इसी समय लगभग और इसी काम के लिये नाना साहब पेशवा भी उत्तर हिन्दुस्तान में देश विजय करने को निकले और उन्होंने नर्मदा-तट का गढामण्डले का राज्य अपने अधिकार में कर लिया। उनका विचार इलाहाबाद पर चढाई करने का था, परन्तु राघोजी ने मालवे में फिसाद मचा रक्खी थी, अतः उन्हें पूर्व की चढाई के काम को रोककर पश्चिम की ओर मुड़ना पड़ा और मालवे का प्रबन्ध कर इलाहाबाद होते हुये मुर्शिदाबाद तक जाना पड़ा। इधर राघोजी भी कटवा और बर्दमान तक पहुँचा, परन्तु उसके पहुँचने के पहले ही नवाब अलीवर्दी खाँ से कर लेकर पेशवा ने हिसाब साफ कर लिया था, अतः राघोजी को लौटना पड़ा। मालवा के फिसाद पर ध्यान रखकर पेशवा ने राघोजी पर चढाई की और उसका पराभव किया, तब पेशवा से सन्धि कर राघोजी सतारा को जाने के लिये रवाना हुये। राघोजी भोंसले को दमाजी गायकवाड और दमाजी शिवदेव की सहायता मिलने वाली थी, अतः पेशवा ने झगडे में पड कर अपना कुछ काम साध लिया और बङ्गाल की कर-वसूली का अधिकार उन्होंने राघोजी को दिया। इस प्रकार दोनों ने मैत्री कर भारतवर्ष के दो भाग किये और वसूली के रुपये आपस में बाँट लिये। इस सन्धि के अनुसार लखनऊ, पटना, बिहार, दक्षिण बङ्गाल और बरार से कर्नाटक प्रान्त तक के प्रदेशों पर राघोजी भोंसले का अधिकार हुआ। इसके बाद ही राघोजी के दीवान भास्कर पन्त ने बीस हजार सेना के साथ बङ्गाल पर चढाई की, परन्तु अलीवर्दी खाँ ने सन्धि करने के बहाने भास्कर पन्त को भोजन करने को बुलाया और उसे तथा उसके बीस साथियों को जान से मार डाला। इसके बाद स्वयं राघोजी ने उड़ीसा प्रान्त पर चढाई की, परन्तु गाडवाने में बलीशाह और नीलकठशाह के विद्रोह करने के कारण राघोजी को लौटना पड़ा। फिर देवगढ और चाँदा पर अधिकार करके उन्हें अपने राज्य में मिलाया।

सन् १७४६ में हैदराबाद के सूबेदार नासिरजङ्ग ने राघोजी को अपने सहायतार्थ सेना लेकर बुलाया और पारितोषिक स्वरूप कुछ राज्य देना स्वीकार किया। राघोजी ने यह काम अपने पुत्र जानोजी को सौंपा और उसे दस हजार सेना देकर नासिरजङ्ग के सहायतार्थ कर्नाटक को भेजा। इस समय शाहू महाराज का मरणकाल समीप आ रहा था, अतः उन्होंने पेशवा यशवतराव दाभाडे, राघोजी भोंसले आदि सब पक्षों के सरदारों को अपने पास बुलवाया। भट्टों के घराने से पेशवाई छीनकर अपने हाथ में लेने के लिए राघोजी को यह बहुत अच्छा अवसर मिला था, परन्तु उसके पास सेना कम होने तथा नाना साहब के प्रेमपूर्ण व्यवहार से वश में हो जाने के कारण उस समय वह कुछ न कर सका। शाहू महाराज के द्वारा नाना साहब पेशवा के नाम पर राज कार्य चलाने की स्थायी सनद दी जाने पर राघोजी ने कुछ भी आपत्ति नहीं की। उस समय यह जनश्रुति सुनाई देती थी कि रामराजा नामक एक गोंधल जाति के लडके को भूठा उत्तराधिकारी बनाकर छत्रपति की गद्दी दी जाने वाली है इसके कारण

राघोजी भागने जिगह पड़ा और जब ताराबाई ने अपने जाति वालों के सम्मुख भोजन की थाली पर हाथ रखकर अन्न का शपथ न यह स्वीकार किया कि यह वास्तव में मरा ही जाती है तब कहीं अन्न माना। पशवा न पाछे राघोजी दूसरे सरदारों के साथ पूना गया और उन सबकी सम्मति पेशवा ने पूना को मराठाओं की राजधानी बनाया। राघोजी ने जाने के पन्न गाल्वाना, बरार और बङ्गाल प्रान्त की नई सनदें सतारा के महाराज से ली। इन सनदों के बल पर उसने इन प्रान्तों पर अपना स्वामित्व स्थापित किया, साथ ही निजाम के राज्य में भी बन्द उपद्रव किया। नागिरअङ्क व वहाँ से जानोजी के लौटने पर राघोजी ने उसे कटक प्रान्त में भेजा। वहाँ उसने अलीवर्दी खाँ को दबाकर अपने कृपापात्र मीर हबीब के नाम, बालासोर तक के प्रदेश की जागीर की सनद लिखवाई और बङ्गाल तथा बिहार की चौथ के बारह लाख रुपये वार्षिक देने का फैसला किया। इस समय निजाम तथा पेशवा में युद्ध होने पर राघोजी ने गाविलगढ़, नरनाला और माणिकदुर्ग आदि थाने और प्रदेश ले लिये और जब निजाम पूना पर चढ़कर आये तो इधर गोदावरी और वन गया के बीच के प्रदेश को नष्ट भ्रष्ट कर मुगलों के थाने वहाँ से हटा दिया और अपने थाने बैठाये।

सन् १७५१ में राघोजी की मृत्यु हुई। राघोजी के चार लड़के थे। इनमें से बड़े लड़के जानोजी और साबाजी छोटी स्त्री से और मुधाजी तथा बिम्बा बड़ी महारानी से थे, परन्तु अवस्था में छोटे थे। राघोजी ने अपने पीछे शासन की गद्दी पर जानोजी को बैठाने का निश्चय कर लिया था, परन्तु मुधाजी और जानोजी में झगड़ा शुरू हो गया।

जानोजी ने पूना आकर अपने पिता के समान ही सब शर्तें स्वीकार कर पेशवा को लिखा दी और सेना साहब सूभ का पद प्राप्त किया। परन्तु, बरार लौटते समय उसने मुगलों के राज्य के साथ साथ पेशवा का भी राज्य लूटा, अतः जानोजी और पेशवा के बीच में अनबन हो गई। इसके पश्चात् निजामशाही के झगड़े में जानोजी पड़ा तब भी उसका पराभव हुआ और उसे नीचा देखना पड़ा। पानीपत के युद्ध में यद्यपि जानोजी नहीं था पर उस लड़ाई की अड़चनों के समाचार मिलने पर जब स्वयम् नाना साहब पेशवा सेना लेकर उत्तर भारत की ओर चले तब जानोजी दस हजार सेना के साथ उनसे आ मिला। जब नमदा के मुकाम पर पेशवा को पानीपत के सम्पूर्ण समाचार मिले तब वे लौटे। माधवराव के शासन काल में जानोजी ने रघुनाथराव का पक्ष स्वीकार करके पूना पर चढ़ाई करने का विचार किया, परन्तु गङ्गाधर ने अपने काका के अधीन होकर उस समय यह झगड़ा मिटा दिया। सन् १७६६ में पेशवा और नागपुर के भोंसले में परस्पर इतना असंतोष बढ़ गया कि माधवराव ने जानोजी के विरुद्ध निजाम अली से मित्रता की सन्धि की और अपनी तथा निजाम की संयुक्त सेना के साथ बरार प्रान्त पर चढ़ाई की तब निरुपाय होकर जानोजी को दोनों से सन्धि करनी पड़ी और अपना बहुत सा प्रान्त इन्हें

देना पड़ा। भोसले से लिये हुए प्रदेश में से लगभग १५ लाख की आमदनी का प्रदेश पेशवा ने स्नेह सम्पादन करने के लिए निजाम को दिया। इस आक्रमण के कारण नागपुर के भोसलो के राज्य में से २५ लाख की आमदनी का प्रदेश कम हो गया।

माधवराव पेशवा और जानोजी भोसले का वैर जन्म भर रहा। सन् १७६८ में जब रघुनाथराव ने फिर सिर उठाया तब जानोजी ने उनका पक्ष प्रगट रीति से लिया और माधवराव की चढाई के भय से कलकत्ते से अंगरेजों की सहायता पाने का प्रयत्न किया। इधर मराठे और निजाम ने तुरन्त ही उस पर चढाई कर दी। ये दोनों पहले बरार प्रान्त में घुसे। उस समय जानोजी और मुधाजी ने अपने कुटुम्ब कबीले को गाविलगढ में ठहरा कर पेशवा को धोखा देकर बगाई करने का विचार किया। माधवराव ने नागपुर शहर को लूटा और चांदा पर घेरा डाला। इधर जानोजी ने भी पेशवाई राज्य पर बगाई की और वह अहमदनगर होता हुआ पूना की ओर गया। भोसले के आने के समाचार सुन पूना की प्रजा ने अपना माल लेकर भागना शुरू किया। जानोजी ने पूना के आस पास बहुत लूट की, तब पेशवा ने चांदा का घेरा उठा लिया और पूना को वापिस लौट आये। इस प्रकार दोनों ने दोनों की राजधानी लूटी, परन्तु विजय एक को भी न मिल सकी। अन्त में दोनों दल झगडे से जब ऊब उठे तब सन्धि करने को प्रस्तुत हुए। सन् १७६६ के माघ मास में भामा नदी के किनारे कणकापुर ग्राम में पेशवा के अनुकूल एक सन्धि हुई, जिसमें यह ठहरा कि भोसले पेशवाई राज्य से 'घास-दाना' नामक कर वसूल न करें और निजाम से 'घासदान' के बदले में नगद रुपये ठहरा लें। पेशवा की आज्ञा के सिवा न तो सेना बढावे और न घटावें और नियत की हुई सेना के साथ जहां पेशवा आज्ञा दें, वहां उपस्थित हुआ करे। व दिल्ली के बादशाह, निजाम, अङ्गरेज, रोहिले और अयोध्या के नवाब से स्वतन्त्र रीति से पत्र व्यवहार न करे और पेशवा को किस्तबन्दी से ५ लाख रुपये कर दें, यह तो भोसले ने स्वीकार किया। पेशवा ने यह स्वीकार किया कि उत्तर भारत को जाते समय पेशवा की सेना भोसले के राज्य में उपद्रव न करे, भोसले पर यदि कोई चढाई करे तो अपनी सेना से पेशवा भोसले की सहायता करे तथा यदि दरबार की कोई नौकर न हो तो बङ्गाल के अङ्गरेजों पर पेशवा चढाई करने की स्वीकृति दें। इस प्रकार माधवराव ने आधे स्वामित्व और आधे स्नेह के नाते से यह सन्धि की।

माधवराव की मृत्यु के पश्चात् पूना के समान नागपुर में भी गृह कलह उत्पन्न हुई। जानोजी ने माधवराव पेशवा की आज्ञा से अपने भाई मुधाजी के पुत्र राघोजी को दत्तक लिया था और सुधाजी को उसका पालनकर्ता नियत किया था। १७७३ में जब जानोजी मर गया तब यह झगडा शुरू हुआ कि बालक का अभिभावक कौन हो अर्थात् रेजेंसी का क्या प्रबन्ध किया गया जाय। इस झगडे को तय करने के लिए दोनों पक्षों के लोग पूना आये। इन दोनों में मुधाजी रघुनाथराव के पक्ष में आये साबाजी

नारायणराव के पक्ष मे थे। पूना म इन दोनो के बीच का झगडा दोनो के मत के अनुसार तय न हो सका। तब भासला म युद्ध शुरू हुआ। इस युद्ध म पेशवा, निजाम, और एलिचपुर के नवाब आदि लोग शामिल थे। इसक बाद ही नारायणराव का वध हुआ। कहा जाता है कि इस कार्य म भी भासल का अप्रत्यक्ष हाथ था। रघुनाथराव क झगडे से साबाजी न सेना सहित नाना फडनवीस की सहायता की। तब नाना फडनवीस ने छोटे राघोजी स "सेना साहब सूबे" का पद छीनकर साबाजी को दिया। मुधाजी ने इसके बाद ही साबाजी से युद्ध प्रारम्भ किया और साबाजी को अपने हाथ स गाली स मार डाला तथा छोटे राघोजी क अभिभावकता के अधिकार फिर प्राप्त किये। परन्तु निजाम ने मुधाजी को शान्ति से नही बैठने दिया और इब्राहीमबग धोंसा को मुधाजी पर आक्रमण करने क लिए भेजा। तब मुधाजी उसकी शरण गया और अपने अनेक किले देना तथा माडवाना प्रान्त का प्रबध करना स्वीकार कर निजाम से उसने सधि की। इसी प्रकार पूना दरबार से बातचीत कर लाख रुपये देने का इकरारनामा लिख दिया और सदा के लिए भोसल का कारभारी रहना स्वीकार कर लिया तथा कलकत्ते के अगरेजो के दरबार मे भी अपना वकील रख दिया।

इसके बाद जब मराठो और अग्रेजो म युद्ध छिडा, तब अङ्गरेजो ने मुधाजी को अपने पक्ष मे खीचने का प्रयत्न किया। पहले एक बार जिस तरह निजाम के दीवान विट्ठल सुन्दर ने मराठो का राज्य हडप करने का लोभ मुधाजी का दिखाया था उसी तरह इस बार हेस्टिग्ज ने दिखाया। वास्तव मे देखा जाय, तो यह पहले ही ठहर चुका था कि सतारे की गद्दी पर नागपुर के भोसले का कुछ अधिकार नही है, परन्तु जब अकस्मात् पूना दरबार के विरुद्ध हेस्टिग्ज को हाथ का एक खिलौना मिलता हो तो वे उसे क्यो छोडने लगे? मुधाजी पर वास्तविक रहस्य प्रकट था, अत उसने अपने को सतारे की गद्दी पर बैठारे का अङ्गरेजो का वरदान लेने की अपेक्षा सतारे की कैद म पडे हुए महाराज का प्रतिनिधित्व लेना उचित समझा और इसलिए अङ्गरेजो से सधि करने के काम को लम्बा टाल दिया। पुरदर की सधि के बाद अङ्गरेजो ने फिर मराठो से छेड छाड की। तब सब मराठे अङ्गरेजो के विरुद्ध हो गये। उनके साथ साथ मुधाजी को भी कटक प्रान्त म अङ्गरेजो के विरुद्ध सेना भेजने का बहाना करना पडा। अङ्गरेज ने उस गुप्त रीति से सोलह लाख रुपये देना स्वीकार भी किया था। मुधाजी ५० लाख माँग रहा था, परन्तु कुछ कम पर सौदा ठहराकर हेस्टिग्ज ने नागपुर के भासल को मराठा सघ मे से फोडकर अपनी ओर मिला लिया। उस समय भोसले के पास तीस हजार सेना थी। यदि उस समय पूना दरबार की पद्धति के अनुसार उसने चढाई की होती तो वह सीधे कलकत्ते तक पहुँच सकता था। जब नाना फडनवीस को मुधाजी के षडयन्त्र की बात मालूम हुई तब उन्होंने उससे बदला लेने का निश्चय प्रकट किया। मुधाजी को यह समाचार मिलते ही उसने भी करवट बदली और अङ्गरेजो से कहने

लगा कि "मैंने तो निजाम के विरुद्ध तुम्हें सहायता देना स्वीकार किया है, मराठों के विरुद्ध नहीं, परन्तु यदि तुम चाहो तो तुम्हारी और मराठों को संधि करा देने में मैं बीच बिचाव कर सकता हूँ।" अन्त में सालबाई की संधि भोसले की मध्यस्थता के बिना ही हुई। इसके बाद नाना फड़नवीस का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ा और अङ्गरेज भी उनकी सहायता चाहने लगे। यह देख मुधाजी ने भी पूना दरबार से स्नेह बढ़ाने का प्रयत्न किया। टीपू पर चढ़ाई करते समय वह स्वयम् सेना लेकर हरिपन्त फड़के के सहायतार्थ गया था, पर मराठा के "बगमी" ले लेने पर अपने पुत्र और सेना को छोड़कर वह नागपुर लौट गया।

सन् १७८८ में मुधाजी की मृत्यु हुई। मुधाजी के राघोजी के सिवा खण्डोजी और बेंकाजी उर्फ मन्याबापू नामक दो लड़के और थे। खण्डोजी के पास भोसले की जागीर का उत्तर-भाग और बेंकाजी के अधिकार में दक्षिण भाग था। टीपू पर चढ़ाई करते समय पेशवा ने राघोजी को सहायतार्थ बुलाया और वह गया भी, परन्तु उसने कहा कि "जिस चढ़ाई में स्वयम् पेशवा सेनापति होकर आवेगें उसी चढ़ाई में और पेशवा के ही हाथ के नीचे सरदार की हैसियत से मैं नौकरी कर सकता हूँ, दूसरों के हाथ के नीचे नहीं कर सकता।" अन्त में सेना के व्यय के लिए दस लाख रुपये देते हुए राघोजी को पेशवा की नौकरी करने की क्षमा प्रदान की गई। इसके बाद ही जब खण्डोजी की मृत्यु हो गई तो राघोजी ने बेंकाजी को चन्दा और छत्तीसगढ़ की जागीर दी। इसके ८-१० वर्ष बाद तक तो भोसले और पेशवा का बहुत सम्बन्ध नहीं पड़ा, परन्तु फिर बाजीराव को गद्दी पर बैठाने के षड़-यन्त्र करने के समय सम्बन्ध पड़ा। इस समय नाना फड़नवीस ने जो बड़ा भारी व्यूह रचा था उसमें सम्मिलित होने के लिए राघोजी को १५ लाख रुपये और मण्डला प्रान्त तथा चौरागढ़ का किला देना स्वीकार किया था। इस समय उचित अवसर जानकर पेशवा की नौकरी के लिए उसने और भी अधिक सुभीते प्राप्त कर लिये। सन् १८०१-२ में जब सिंधिया और होलकर में झगड़ा हुआ तब भोसले ने उस कठिन अवसर पर सिंधिया का पक्ष लेकर उसकी सेना को नर्मदा पार उतारने में बड़ी सहायता दी। इसके बाद बसई में अंगरेजों और बाजीराव पेशवा से जो संधि हुई उसे तोड़ने का विचार बाजीराव करने लगा। इस संधि के समय बाजीराव ने सिंधिया, भोसले आदि की सम्मति नहीं ली थी, अब इसके समाचार सुनाने के लिए बाजीराव ने नारायणराव वैद्य को राघोजी के पास भेजा उसके द्वारा पूना आकर यशवन्तराव होलकर का प्रतिनिधित्व करने की प्रार्थना की। दौलतराव सिंधिया के समान राघोजी भोसले को भी बसई की संधि स्वीकार नहीं थी। इधर सिंधिया का कारभारी यादवराव भास्कर भी जब राघोजी के पास पहुँचा तो उसके और सिंधिया के बीच में बसई की संधि तोड़ने का निश्चय हुआ। असाई की लड़ाई में राघोजी स्वयम् सेना लेकर सिंधिया

से जा मिला था, परन्तु युद्ध प्रारम्भ होते ही वह लौट आया। तारीख ३१ अक्टूबर को राघोजी ने अपने ५ हजार सवारों से अङ्गरेजों की रसद पर धावा करवाया परन्तु उसमें वह सफल न हो सका। युद्ध में राघोजी के शामिल हो जाने के कारण अङ्गरेजों ने बङ्गाल की ओर से कटक प्रान्त पर चढ़ाई की। तब राघोजी अपने देश को लौट आया। दिसम्बर में संधि की बातचीत शुरू हुई और अन्त में यह ठहरा कि कटक बालासोर के परगने और वर्धा नदी के पश्चिम की ओर का प्रदेश तथा नरनाल गाविलगढ़ के दक्षिण की ओर का प्रदेश, राघोजी अङ्गरेजों को दें और केवल ये दोनों किले और उनके आसपास का चार लाख की आमदनी का प्रान्त राघोजी के पास रहे तथा निजाम पर जो राघोजी के दावे हों, राघोजी छोड़ दें और निजाम तथा पेशवा से भोसले के जो झगड़े हों उनमें अङ्गरेजों का मध्यस्थता राघोजी स्वीकार करें। इसके सिवा दोनों के वकील दोनों के दरबार में रहें। इस सन्धि को देवगांव की संधि कहते हैं। अन्तिम शर्त के अनुसार नागपुर में रेज़ीडेन्ट के पद पर माउंट स्टुअर्ट एलफिन्स्टन की नियुक्ति हुई थी। यद्यपि यह सन्धि राघोजी को मन से पसन्द नहीं थी तथापि चारों ओर से असमर्थ हो जाने के कारण उसे लाचार होकर स्वीकार करनी पड़ी। भोसले की सेना सिन्धिया और होलकर की सेना की अपेक्षा कम दर्जे की थी, इसलिए अमीरखाँ के पिण्डारियों ने सन् १८०९ में बरार प्रान्त में अर्थात् राघोजी के राज्य में जो उपद्रव किया उसका प्रतिकार करने में राघोजी को अङ्गरेजों की सहायता लेनी पड़ी। सन् १८१४ में राघोजी से फिर एक नवीन सन्धि करने के लिये अङ्गरेजों ने कहना शुरू किया। इस नई सन्धि का प्रयोजन यह था कि अङ्गरेजों पर यदि कोई चढ़ाई करे, तो भोसले अङ्गरेजों को सहायता दें, परन्तु राघोजी ने यह स्वीकार नहीं किया।

सन् १८१६ के मार्च में राघोजी की मृत्यु हुई और उसका पुत्र परसोजी सेना साहब सूबे बना, परन्तु उसके विक्षिप्त होने के कारण उसका चचेरा भाई मुधाजी उर्फ अप्पासाहब (व्यंकोजी का पुत्र) काम-काज देखने लगा। अप्पासाहब सन् १८०३ के युद्ध में शामिल था और अरगांव की लड़ाई में मराठी सेना का आधिपत्य भी उसे ही दिया गया था। अङ्गरेजों से स्नेह कर अपना अधिकार स्थिर रखने के लिए उसने अङ्गरेजों से बातचीत करना प्रारम्भ किया और राघोजी ने जो सन्धि करना अस्वीकार किया था उसे करना इसने स्वीकार किया। इस सन्धि के अनुसार यह ठहरा कि एक हजार सवार और [illegible] हजार पैदल सेना के खर्च के लिए भोसले ७॥ लाख रुपये वार्षिक सहायता दें और अंगरेजों के ३ हजार सवार और २ हजार पैदल सिपाहियों को भोसले अपने यहाँ रक्खें। यह सन्धि हो जाने पर भी पेशवा की सहायता से अङ्गरेजों का पक्ष छोड़ने की इच्छा उसके मन से नष्ट नहीं हुई थी। सन् १८१७ में परसोजी का खून हुआ। कहा जाता है कि यह खून अप्पासाहब ने ही कराया था। परसोजी के बाद नागपुर की सरदारी अप्पासाहब को मिली। इन दिनों में इसका और बाजीराव का गुप्त पत्र-व्यवहार हो

रहा था। बाजीराव और अङ्गरेजों का वैमनस्य प्रकट होने के समय से लगभग अप्पा जी ने भी अपनी सेना बढाना प्रारम्भ कर दिया था। बाजीराव ने अप्पा साहब के लिये एक जरी का निशान भेजकर उन्हें 'सेना पति' का पद दिया था जिसे उन्होंने तारीख २४ नवम्बर, १८१७ ई० को प्रकट रीति से स्वीकार किया था, अत शीघ्र ही अङ्गरेजों और भोसलों में सीताबर्डी स्थान पर युद्ध हुआ। तारीख १५ दिसम्बर को अप्पा साहब ने अङ्गरेजों की शरण ली। तब अङ्गरेजों ने उन्हें फिर गद्दी पर बैठाया और उनका २४ लाख की आमदनी का प्रान्त अपने हस्तगत कर उनकी सेना अपने अधिकार में ले ली। दुर्दैव से अङ्गरेजों को अप्पा साहब के विद्रोह का फिर सन्देह हुआ और उन्हें जेन्किन्स साहब ने कैद कर लिया। बाजीराव भागते भागते जब चांदा की ओर मुड़े तो उनको सहायता देने तथा गोंड लोगों को विद्रोह करने के लिये उकसाने का प्रयत्न करने का आरोप अप्पा साहब पर किया गया और इसीलिये वे इलाहाबाद के किले में कैद रक्खे गये। परन्तु वहाँ उन्होंने पहरे वालों को मिला लिया उनकी पोशाक पहिन कर भाग खड़े हुये और महादेव के पर्वत पर जाकर आश्रय लिया। यहाँ पिण्डारियों का एक सरदार आकर इनसे मिला और उसने आसपास बहुत धूम धाम की। अप्पा साहब के पीछे राघो जी की स्त्री ने एक लड़के को गोद लिया और उसके नाम से रेजेन्सी का का कारबार चलाया। अङ्गरेजों ने अप्पा साहब को पकड़ने के लिये सेना भेजी, परन्तु उस सेना को भी धोखा देकर वे असीरगढ़ के किले पर चले गये और उस किले को अपने अधिकार में कर लिया। इस किले पर जनरल डब्टन और मालकम साहब ने सेना के साथ घेरा डाला। अप्पा साहब ने इस किले पर से २० दिन तक लड़ाई की। अन्त में ता० ९ अप्रैल १८१९ को अङ्गरेजों ने किला ले लिया। अप्पा साहब यहाँ से भी भाग गये और सिक्ख दरबार के आश्रय में जाकर रहने लगे। सन् १८५७ के विद्रोह के पहले लार्ड डलहौजी के शासन काल में जो देशी राज्य ब्रिटिश राज्य में मिला लिये गये उनमें एक नागपुर का भी राज्य था, जिसका अन्त सन् १८५३ में हुआ।

सावन्तवाडी के भोंसले और अङ्गरेज

सावन्तवाडी के सावन्त भी प्रसिद्ध भोसले घराने के ही हैं। इन्हें 'सावन्त' कहते हैं और इन्हीं के नाम पर गाँव का नाम 'सावन्तवाडी' पड़ा है। इस घराने का मूल पुरुष विजय नगर-राज्य के समय प्रसिद्ध हुआ था। सोलहवीं शताब्दी के लगभग गोआ और सावन्तवाडी प्रान्त बीजापुर के अधिकार में आये। उस समय सावन्त बीजापुर के राजा के आश्रय में रहने लगे। जब शिवाजी ने कोंकन प्रान्त जीता तब उनसे छुडाने के लिये लखम सावन्त ने बादशाह से आज्ञा प्राप्त की, परन्तु शिवा जी ने उसका पराभव किया और कुडमल प्रान्त में भी घुस उसके थाने और किले लेकर लखम सावन्त को

बहुत हानि पहुँचाई। तब लखम, पोर्तुगीजों के आश्रय म गया। शिवाजी ने पोर्तुगीजों पर भी आक्रमण किया और फाढा नामक किला उससे लिया। इसके पश्चात् पोर्तुगीज भी शरण म आये और उन्होने तोपें नजर की। लाचार और निराश्रय होकर लखम ने १६५६ म शिवाजी से सन्धि की जिसमे सावन्त ने यह स्वीकार किया कि कुडाल प्रान्त की आमदनी म से [illegible] हजार सोने (सिक्का) लेकर अपने पास सेना रखूँगा और काम पड़ने पर शिवाजी की नौकरी बजाऊँगा। शिवाजी ने सावन्त को उस प्रान्त का अधिकारी बनाकर 'सावन्त बहादुर' का पद दिया, परन्तु लखम सावन्त फिर बीजापुर वालों से मिल गया और सन् १६६४ में बीजापुर वालों को शिवाजी के पान देकर मालवण गाँव इनाम में लिया तथा और भी कुछ हक प्राप्त किये। रांगणा किले पर बीजापुर की फौज ने जो आक्रमण किया था उसम लखम सावन्त शामिल था। इसके बाद जब कुडाल गाँव में शिवाजी और बीजापुर की सेना म लड़ाई हुई तो उसम लखम ने बड़ा भारी शौर्य प्रकट किया था।

सावन्त और अङ्गरेजों का प्रथम सम्बन्ध सन् १६७४ म हुआ। सावन्त कारुण पट्टी पर खलासी का काम करता था। उसी समय एक जहाज को लूटते समय एक अगरेज व्यापारी जहाज से उसकी लड़ाई हुई। इस लड़ाई के सम्बन्ध में फायर नामक अगरेज ने इस प्रकार लिखा है—'लुटेरों ने हम पर बहुत अग्नि-वर्षा की, गुलेल से पत्थर मारे और भाले फेंके। उनका जहाज हम से दस गुना बड़ा था। उनकी तैयारी बहुत अच्छी थी। नाविकों के सिवा उस जहाज म साठ लड़ाऊ योद्धा और थे। लखम सावन्त सन् १६७५ म मरा। उसने अपने नाम का सिक्का चलाया था। शिवाजी की मृत्यु के बाद मुगलों ने कोंकण पर चढ़ाई की। इधर सावन्त बीजापुर के आश्रय से भी निकल गये थे और कुडाल के मूल मालिक प्रभु भी सावन्त के विरुद्ध उठ खड़े हुये थे। तब खेम सावन्त ने सन् १६८६ में औरंगजेब बादशाह से दशमुखी और मनसबारी की सनद प्राप्त की। इसके बाद आंग्रे प्रबल हुये और इनसे सावन्तों के अनेक युद्ध हुए। सन् १६९७ मे जब प्रभु घराने का अन्त हो गया, तब सावन्त ने कुडाल प्रान्त पर अधिकार कर लिया। आंग्रे के समान पोर्तुगीजों से भी अगरेजों के बहुत युद्ध हुए। सन् १७०७ मे जब औरङ्गजेब की मृत्यु हुई तब उसके लड़के मोअज्जम ने दिल्ली की गद्दी सम्बन्धी झगड़े मे सावन्त की सहायता ली थी। पश्चात् दक्षिण से मुगलों का शासन नष्ट हो जाने के कारण खेम सावन्त ने मराठों का आश्रय लिया। पहले यह शाहू महाराज के विरुद्ध ताराबाई से जाकर मिला और कुडाल प्रान्त उनसे लिया। जब शाहू की विजय हुई और ताराबाई कोल्हापुर चली गई तब वह शाहू से जाकर मिल गया और उसने आधा 'शालसी' परगना शाहू से इनाम म पाया। इसलिए कोल्हापुर वालों से और अङ्गरेजों से युद्ध हुआ। सन् १७२० म सावन्त ने आंग्रे के विरुद्ध अङ्गरेजों से सन्धि की। सन् १७३० म दूसरी सन्धि फिर हुई। इसम यह ठहराव हुआ कि—"अङ्गरेज

सावन्ता को तोपें दिया करे और संयुक्त फौज के जीते हुए किले आदि सावन्तों का मिलें।" कहा जाता है कि भारतीय राजाओं की संधि में यह संधि सबसे पहले है।

फोंड सावन्त ने बहुत से किले बनवाये और उसके पुत्र रामचन्द्र और जयराम सावन्त ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। सन् १७३८ में सावन्त ने पोर्तुगीजों का पराभव कर बहुत सी तोपें और ध्वजायें प्राप्त कीं। सन् १७३६ में जब पेशवा ने बसई ली तब सावन्त ने भी उसमें थोड़ी बहुत सहायता दी थी। सन् १७४० में सावन्त और पोर्तुगीजों से संधि हुई, जिसके अनुसार इन लोगों ने २५ हजार रुपये सावन्त को दिये। सन् १७४६ में सावन्त और मराठा सरदार भगवन्तराव पण्डित ने आंग्रे पर चढ़ाई कर बहुत सा देश विजय किया। इसके बाद सन् १८५० में सावन्त और आंग्रे के कई युद्ध हुए जिनमें सावन्त को बहुत कीर्ति प्राप्त हुई। सन् १७५२ में सावन्त घराने में गृह-कलह प्रारम्भ हुई। तब पेशवा ने बीच में पड़कर उसे शान्त किया। इस कलह के कारण सावन्त घराने के एक पुरुष ने पोर्तुगीजों का आश्रय लिया, अतः झगड़े की जड़ न मिट सकी। सन् १७५६ में प्रभु घराने के एक पुरुष ने कुडाल प्रान्त वापिस लेने के लिए पेशवा की सहायता प्राप्त की। सन् १७६२ में जिबवादादा बक्षी-फेरकर (जो सावन्तवाडी का रहने वाला था) के प्रयत्न से जयप्पा सिंधिया की लड़की का खेम सावन्त के साथ विवाह हुआ। इस प्रकार जिबवादादा ने अपने पहले मालिक के उपकार का बदला चुकाया और सिंधिया तथा सावन्त का भी मेल हो गया। फिर सावन्ता के लुटेरेपन के कारण अंगरेजों से और उनसे अनबन शुरू हुई। सन् १७६५ में दोनों की लड़ाई छिड़ गई और फिर इस प्रकार संधि हुई कि सिन्धु दुर्ग से जो वेतन अंगरेजों को मिलता है वह सावन्ता को भी मिले। युद्ध-व्यय के बदले में एक लाख रुपये, कुछ प्रदेश और भरतगढ़ का किला, सावन्त अङ्गरेजों को दे, सावन्त जहाजी बेड़ा न रक्खें और न यूरोपियनों को नौकरी में रक्खें तथा गोला, बारूद आदि लड़ाई का सामान अङ्गरेज यथोचित मूल्य पर सावन्तों को बेचें। परन्तु इस संधि की शर्तों का भी जब सावन्त पूरी तरह नहीं पालन कर सके तब उन्हें और भी कड़ी शर्तों की संधि दूसरी बार स्वीकार करनी पड़ी। सन् १७८४ में जिबवादादा ने शाहआलम बादशाह से सावन्त को "राजा बहादुर" का पद और मोरछल का सम्मान दिलाया। सावन्त का सम्बन्ध सिंधिया से हो गया था, अतः सावन्त का सतारा के भोंसले को ऋणानुबंधी होना पड़ा और इसीलिए कोल्हापुर वालों ने सन् १७८७ में सावन्त से युद्ध छेड़ दिया। तब सावन्ता को अपने पड़ोसी पोर्तुगीजों से सहायता लेना आवश्यक हुआ। इस युद्ध में जो कोल्हापुर वालों के कई थाने ले लिये गये थे उन्हें वापिस दिलवा देने को सिंधियों के द्वारा पूना-दरबार में प्रयत्न किया गया। तब परशुराम भाऊ ने कोल्हापुर वालों पर चढ़ाई कर सावन्ता के थाने वापिस दिलवाये। इस पर पोर्तुगीजों ने छेड़-छाड़

की ओर सावन्तो से युद्ध कर उनके कुछ थाने ले लिये, परन्तु इन्होंने तुरन्त ही पोर्तु-गीजो का पराभव किया और पूरा फोडा परगना लौटा लिया।

सन् १७६६ म जिववादादा बक्षी की मृत्यु हुई जिससे सावन्ता का एक बडा भारी आश्रय ही नष्ट हो गया। सन् १८०३ म खेम सावन्त का परलोक वास हो गया। यह राजा विद्या व्यसनो के नाम से बहुत प्रसिद्ध था और इसने साधु सन्ता को दया धर्म म भी बहुत कुछ दिया था। इसकी चार स्त्रियाँ थी जिन्होंने इसकी मृत्यु के बाद राज्य काय चलाया। इसके बहुत शत्रु थे और इनमें गृह कलह की भी कमी न थी, अत इनक शासन काल म खूब उथल-पुथल हुई। यहाँ उनका विस्तृत वणन देने की आवश्यकता नही। इस कलह के कारण सावन्तो की साम्पत्तिक स्थिति बहुत ही नष्ट हा गई थी। पोर्तुगीजो और कोल्हापुर वाला ने उनकी बहुत सहायता की। सन् १८०५ म खेम सावन्त की बडी स्त्री लक्ष्मी बाई ने भाई साहब को गोद लेकर राज्य का उत्तराधिकारी बनाया परन्तु ऐसा न हो सका। अत सन् १८०८ म भाऊ साहब का खून हुआ। इसी वर्ष लक्ष्मी बाइ की भी मृत्यु हो गई। तब खेम सावन्त की दूसरी स्त्री दुर्गा बाई ने राज्य काय अपने हाथ म लिया। यह प्रसिद्ध है कि यह स्त्री बहुत काय दक्ष, चतुर, न्यायशील और स्वाभिमानिनी थी। इसने गृह कलह मिटाने के लिए फोण्ड सावन्त को गद्दी पर बैठाया।

सन् १८१२ मे सावन्तवाडी के आसपास जो सामुद्रिक डाके पडा करते थे उन्हे बन्द करने के लिए अङ्गरेजा ने सावन्तो से बार बार अनुरोध करना शुरू किया तब मथुरा म सधि होकर यह ठहरा कि सावन्त, अपने सब जहाज, वगुरला का कोट और तोपो की बैटरी के स्थान अङ्गरेजा के अधीन करे और अङ्गरेजा की आज्ञा के बिना कोई जहाज बन्दर छोडकर न जावे तथा सावन्त अङ्गरेजों की सेना को अपन राज्य मे रहने दे। इसी वष फोंड सावन्त की भी मृत्यु हुई। तब उसके पुत्र बापू साहब को दुर्गा बाई ने गद्दी पर बैठाया। सन् १८१३ म अङ्गरेजो ने कोल्हापुर वाला का पक्ष लेकर अपनी सेना सावन्तवाडी पर भेजी और भरतगढ का किला सावन्तो से कोल्हापुर वाला का दिलाया तथा वेगुरला का किला स्वय अङ्गरेजो ने ले लिया। दुबारा फिर अङ्गरेजो ने सेना भेजी और वह प्रदेश जिसे पहले अङ्गरेज बदले म लना चाहते थे, सावन्तो से बलात् छीन लिया। सन् १८१६ मे रेडीनिवती और वादे के किले भी अङ्गरेजा ने ले लिये। इस वर्ष दुगाबाई की भी मृत्यु हो गई और खेम सावन्त की शेष दो स्त्रियाँ राज काज देखने लगी, परन्तु अङ्गरेजा ने कहा कि कारभारी नियत करने का अधिकार हमारा है, अत उन्होंने कप्तान हचिनसन को सावन्त वाडी का रेजीडेट नियत किया। सन् १८२२ से यह काम रत्नागिरी के कलक्टर के सुपुर्द किया गया। इसके बाद कोल्हापुर वाला के घाट के नीचे गाँवा से कर वसूल न करने के बदले मे ७८२४ रु० वार्षिक ।। ने सावन्तवाडी वाला से कोल्हापुर वाला को दिलाये। सन् १८२६ से बापू

साहब स्वतंत्र रीति से काम काज देखने लगे। सन् १८१० में इनके विरुद्ध जब विद्रोह खड़ा हुआ तब उसके नष्ट करने के लिए अङ्गरेजों की सेना लानी पड़ी। सन् १८२३ में राज्य का ऋण कम करने के लिए अङ्गरेजों ने राज्य का आय व्यय निश्चित कर दिया। सन् १८३५ में फिर विद्रोह हुआ, जिसे ब्रिटिश सेना ने आकर शान्त किया। सन् १८३६ में सावन्तों से अङ्गरेजों ने जकात लेना शुरू किया। सन् १८३८ में अङ्गरेजों ने राजा की दुर्व्यवस्था के कारण पोलिटिकल सुपरिटेंडेंट नियत किया। इसके बाद कितने ही वर्षों तक बराबर विद्रोह पर विद्रोह होते रहे। सावन्तवाड़ी प्रान्त विद्रोह करने के लिए बहुत उपयुक्त स्थान था और वहां की प्रजा भी किसी की परवाह नहीं करती थी। गोआ की सीमा से उन्हें गोली-बारूद मिला करती थी। सन् १८४१ में शेष बचे हुए विद्रोहियों को क्षमा प्रदान की गई और उन्हें संस्थान में आने जाने की आज्ञा दे दी गई। तब उन लोगों ने आकर राज्य की सेना में नौकरी कर ली। स्वयम् युवराज भी इन विद्रोहियों में शामिल था।

सिन्धिया और अङ्गरेज

सिन्धिया घराने का मूलपुरुष राणोजी कण्हेर खेड का पटेल था। यह बाला जी विश्वनाथ पेशवा की नौकरी में मुख्य सेवक का काम करता था। राणोजी एक दिन बाजीराव के जूते अपनी छाती से लगाये सोया था। यह देखकर बाजीराव बहुत प्रसन्न हुए और उसे कृपा पूर्वक पगड़ी का काम दिया गया। वहाँ से राणो जी ने अपने पराक्रम और योग्यता से इतनी उन्नति की कि एक दिन राणो जी मराठा में केवल मुख्य सरदार ही नहीं बना, वरन मुहम्मद बादशाह के यहाँ जब बाजीराव की जामिनी की आवश्यकता हुई तब राणो जी की जामिन लेकर राणोंजी के दस्तखत जामिनि के कागज पर कराये गये। मालवा में सरकारी नौकरी करते-करते ही राणो जी की मृत्यु हुई। राणा जी के लड़कों में जयप्पा और दत्ताजी नामक दो पुत्र बड़े ही बलवान और शूर थे, जिन्होंने भी सरकारी सेवा उत्तम रीति से की थी। जयप्पा का खून हुआ था और दत्ताजी दिल्ली की लड़ाई में मारा गया था। राणा जी की राजपूत रानी से उत्पन्न दो पुत्र और थे जिनका नाम महादजी और तुकोजी था। राणोंजी के पश्चात् जयप्पा का पुत्र जनकोजी सरदार हुआ। यह भी अत्यन्त शूर था। इसकी मृत्यु पानीपत के युद्ध में हुई। पानीपत के युद्ध से लौटने के पश्चात् महादजी को पेशवा की निजी सेना का काम दिया गया। इसकी निज की सेना भी बहुत थी। अबदाली के काबुल लौट जाने पर मराठे फिर हिंदुस्तान भर में फैल गये। उस समय महादजी, विसाजी कृष्ण बिनीवाले के हाथ के नीचे सरदारों का काम करता था, परन्तु इसके बाद ही उसने स्वतन्त्र रीति से देश-विजय और खंडनी वसूल करने का क्रम प्रारम्भ किया, जिसमें वह बहुत सफल हुआ। नानासाहब पेशवा के बाद महादजी का प्रभाव पेशवा के दरबार

में बढ़ने लगा और सब सरदारों से भी उसका मान बढ़ गया। महादजी और नाना फडनवीस का उत्कर्ष—काल एक था। अङ्गरेजों से पेशवा के जो युद्ध हुए उनमें पेशवा का मुख्य आधार सिंधिया था। सिंधिया ने ही वडगाँव में अङ्गरेजों को हराकर पेशवा के अनुकूल संधि करने के लिये अङ्गरेजों को बाध्य किया और सालबाई की संधि के समय भी अङ्गरेजों और पेशवा की मध्यस्थता सिंधिया ने ही की तथा संधि की शर्तों के अनुसार काम करने के लिए स्वतन्त्र सत्ताधिकारी की हैसियत से दोनों का जामिनदार भी सिंधिया ही हुआ। इसके सिवा दिल्ली को अधिकृत कर बादशाह शाहआलम को अपने वश में कर उनसे पेशवा के नाम पर वकील मुतलक की सनद प्राप्त की।

उत्तर भारत में सिंधिया और अङ्गरेज देश बढ़ाने की इच्छा रखते हुये अपने अपने अधिकार की ताक में थे अतः इन दोनों का वैमनस्य हो जाना स्वाभाविक था। दोनों ही चाहते थे कि दिल्ली और उसका बादशाह हमारे अधिकार में रहे। इसके लिये दोनों ने प्रयत्न भी खूब किये परन्तु महाद जी के मरने तक अङ्गरेजों की इच्छा सफल न हो सकी। सन् १७९४ में महाद जी सिंधिया की मृत्यु हुई। महाद जी में अङ्गरेजों के ही समान पराक्रम, चातुर्य और राजनीतिज्ञता थी। महाद जी की मृत्यु के पश्चात् अङ्गरेज हाथ पाँव फैलाने लगे। महाद जी के उत्तराधिकारी का अङ्गरेजों ने पराभव किया और उसका उत्तर की ओर का बहुत सा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। महाद जी ने मध्य भारत में जितना प्रदेश अधिकृत किया था केवल उतना ही उसके अधिकारी के पास रह सका। एक ही वर्ष (१८०३) में अलीगढ़, दिल्ली, आसई आगरा, लासवारी और आरगाँव में सिंधिया की सेना का पूरा पतन हुआ और महाद जी के समय का सैनिक वैभव अस्त हो गया। इसी वर्ष के दिसम्बर मास की सूरजी अंजनगाँव की संधि के अनुसार सिंधिया को यमुना और गङ्गा के बीच के प्रान्त, जयपुर जोधपुर, और गोहद के उत्तर का प्रदेश भड़ोंच और अहमद नगर के परगने और किले और अजंटा घाटी तथा गोदावरी के बीच का देश तथा मुगल, पेशवा, निजाम और गायकवाड़ पर के सब हक और दावे छोड़ने पड़े। साथ ही उन राजाओं की स्वतन्त्रता जो पहले सिंधिया के अधीन थे और इस समय अङ्गरेजों के पक्ष में थे, सिंधिया को मान्य करनी पड़ी। फिर एक वर्ष बाद बुरहानपुर में संधि हुई जिसमें दौलत राव सिंधिया का अपने खर्च से अङ्गरेजों की छः हजार सेना रखना स्वीकार करना पड़ा। इसके एक वर्ष बाद अहमदाबाद में वेलस्ली से सिंधिया ने फिर संधि की जिसमें सुरजी अंजनगाँव की संधि का कुछ संशोधन किया गया और धौलपुर, बारी आदि परगने देकर उसके बदले में सिंधिया ने ग्वालियर और गोहद ले लिया। इसी समय सिंधिया राज्य की उत्तर सीमा चम्बल नदी निश्चित हुई और अङ्गरेजों ने यह स्वीकार किया कि सिंधिया के बिना पूछे उदयपुर, कोटा आदि राज्यों से हम स्वतन्त्र संधि न करेंगे। इसमें एक विशेष महत्व की बात यह हुई कि

अपने और अपनी लड़की के लिये अङ्गरेजो से चार लाख की जागीर लेकर सिंधिया, अङ्गरेजों के वेतनिक सरदार भी बने। सन् १८१७ मे अङ्गरेजो को सन्देह हुआ कि कदाचित सिंधिया, बाजीराव पेशवा की सहायता करेगा अतः उन्होंने अपनी सेना सिंधिया के राज्य की ओर भेजी तब सिंधिया ने संधि कर अपनी सेना अङ्गरेजो के बतलाये हुए स्थान पर छावनी डालकर रखना और बिना उनकी आज्ञा के सेना को कहीं न भेजना स्वीकार किया और मराठा से युद्ध होते समय अङ्गरेजी सेना या उसी रसद को अपने राज्य मे से जाने देना स्वीकार किया और इसके विश्वास के लिए असीर गढ का किला तथा राजपूत राजाओं की तीन साल की वसूली अंगरेजों को देने का वचन भी दिया।

दौलतराव सिंधिया सन् १८२७ के माघ मास मे मरे। इनके शासन मे पेशवाई के साथ साथ सिंधिया शाही के नाश होने का भी करीब-करीब समय आ चुका था, परन्तु सदैव से यह डेढ करोड रुपये वार्षिक आमदनी का मराठी राज्य उत्तर भारत मे बच गया। महादजी ने जितना अपना राज्य बढ़ाया था करीब-करीब उतना ही राज्य उनके बाद की पीढी मे दौलत राव ने खो दिया। दौलत राव की मृत्यु के पश्चात् उनकी स्त्री बायजी बाई अल्प-वयस्क दत्तिणी मराठा बालक गोद मे लिया और ब्रिटिश रेजीडेन्ट के देख-रेख मे प्रायः सब राज्य कार्य होने लगा। सन् १८३७ मे सिंधिया की सेना का पुनः सगठन हुआ और उस पर अङ्गरेजो के अधिकार नियत किये गये। जनको जी सिंधिया के शासन काल मे पहले तो नेपाल और अफगानिस्तान से और फिर सन् १८५७ मे पेशवा (ब्रह्मवर्त) की ओर से अङ्गरेजों के विरुद्ध युद्धों में खड़े होने के लिए तैयार करने को वकील आये थे, परन्तु जनकाजी ने सिर नहीं उठाया।

इसी बीच मे अर्थात् सन् १८४४ मे सिंधिया की बची हुई सेना से महाराजपुर में अङ्गरेजो से फिर लड़ाई हुई और उसमे अङ्गरेजो को हानि भी बहुत उठानी पड़ी थी परन्तु अन्त मे उसकी हार हुई और इसके प्रायश्चित् में सिंधिया को १८ लाख की आमदनी का प्रदेश अङ्गरेजों को सैनिक काम के लिए देना पड़ा तथा अपनी सेना भी कुछ कम करनी पड़ी। सन् १८५७ मे सिंधिया की कुछ सेना ने विद्रोह कर सिंधिया को अपना अगुआ बनने की प्रार्थना की। यह ऐसा समय था कि कर्नल मालसन कहता है कि "यदि इस समय महादजी सिंधिया जीवित होता तो उसने इस समय मे लाभ उठाकर अङ्गरेजी राज्य का नाश अवश्य किया होता और दौलतराव सिंधिया भी इतना दब चुका था, तो भी वह विद्रोह में अवश्य शामिल हो गया होता तथा जयाजीराव सिंधिया भी यदि चाहते तो झांसी की रानी और अङ्गरेजो की विद्रोही सेना से मिलकर उत्तर भारत से अङ्गरेजों को उखाड़ देते।" परन्तु जयाजीराव ने अङ्गरेजों का पक्ष नहीं छोड़ा इस ईमानदारी के बदले मे अङ्गरेजो ने उन्हें तीन लाख की आमदनी का प्रदेश और तीन हजार के बदले पाँच हजार सेना और बत्तीस तोपें की जगह छत्तीस तोपें

रखने की आज्ञा दी। सिंधिया की जिस सेना ने विद्रोह किया था उसके स्थान पर अङ्गरेजों ने अपने अधिकारियों के हाथ के नीचे की सेना रक्खी। इस प्रकार अङ्गरेज और सिंधिया के प्रयत्न सम्बन्ध का इतिहास करीब ८० ८५ वर्षों का है।

होलकर और अङ्गरेज

जिस तरह सिंधिया का मूल पुरुष दूजरा था, उसी प्रकार होलकर घराने का मूल पुरुष भेड़ चराने और बचाने विजनेस्मान एक गड़रिया था। एक दिन उसके गाँव पर से गुजरात की ओर सेना जा रही थी। उसमें वह भी सिपाही बनकर भर्ती हो गया। इसने लड़ाई में अच्छा पराक्रम दिखाया अतः इसे तुरन्त ही कठाजी कदम सरदार के हाथ के नीचे पच्चीस सवारों की मनसबदारी दी गई। इसके पश्चात् जब पेशवा मालवा की ओर जाने वाले थे तो उन्होंने शत्रु दल के विरुद्ध मल्हारराव होलकर का पराक्रम देखकर कठाजी से मल्हारराव को अपनी नौकरी के लिए माँग लिया और उन्हें ५०० सवारों का मनसबदार बनाया। राणोजी सिंधिया के समान मल्हारराव होलकर का उत्कर्ष भी तुरन्त ही हुआ। सन् १७२८ ॥ बारह और १७३१ में, २० और इस तरह मालवा के ३२ परगने अधिकृत कर मल्हारराव के अधिकार में दिये गये और नियमानुसार सूबेदारी की सनद दी गई।

इसके पश्चात् इन्दौर और उसके नीचे का प्रदेश मल्हारराव को सदा के लिए दिया गया और सन् १७३५ में नर्मदा के उत्तर की ओर की सेना का पूर्ण आधिपत्य भी दिया गया। निजाम और बसई के पोर्तुगीज आदि के साथ युद्धों में मल्हारराव प्रमुख थे। सन् १७५१ में मल्हारराव ने रुहेलों के विरुद्ध अयोध्या के नवाब को सहायता दी थी। मल्हारराव पानीपत के युद्ध में शामिल था और उसने सदाशिव भाऊ को सलाह दी थी कि रणक्षेत्र में सम्मुख की लड़ाई करने की अपेक्षा धोखा देकर लड़ना उचित है, परन्तु सदाशिव ने यह सम्मति नहीं मानी। पानीपत में पराजय होने पर बची हुई सेना लेकर मल्हारराव दक्षिण को लौट आये और सन् १७६५ में उनकी मृत्यु हुई। मृत्यु के समय उनके राज्य की आमदनी ५७ लाख के लगभग थी। मल्हारराव के पश्चात् उनकी पुत्र वधू अहिल्याबाई और तुकोजी होलकर ने मिलकर करीब ३० वर्षों तक राज्य चलाया। दूसरे राज्यों से किस प्रकार का सम्बन्ध रक्खा जाय, यह अहिल्याबाई ही करती थी। तुकोजीराव होलकर गुजरात, मैसूर आदि की लड़ाइयों में सम्मिलित हुआ था।

सन् १७९५ में अहिल्याबाई और सन् १७९७ में तुकोजीराव होलकर की मृत्यु के पश्चात् सिंधिया और होलकर में अनबन शुरू हुई और बाजीराव के धूर्त स्वभाव के कारण सिन्धिया के समान होलकर की मित्रता का नाता भी पूना दरबार से टूट गया। सन् १७९८ में यशवन्तराव होलकर ने अपने पराक्रम से अपने पिता का आसन

प्राप्त किया। अङ्गरेज और तुकोजी होलकर का सम्बंध शत्रुत्व की दृष्टि से पहले-पहल बोरघाट के युद्ध में हुआ। इनके बाद बसई की संधि के पश्चात् भी इसी प्रकार का सम्बंध हुआ। सन् १७०२ में बसई की संधि के कारण अङ्गरेज और सिंधिया का जो युद्ध हुआ। उसमें यशवन्तराव तटस्थ रहा, परन्तु सिंधिया का पूर्ण पराभव हो जाने पर स्वतः यशवन्तराव ने अङ्गरेजों से युद्ध छेड़ दिया। कर्नल मानसन को परास्त कर यशवन्तराव ने अङ्गरेजी राज्य पर आक्रमण भी किया, परन्तु फतहगढ़, डीग, भरतपुर आदि में हार होने पर यशवन्तराव को संधि करनी पड़ी। इनका बहुत सा राज्य नष्ट नहीं हुआ। युद्ध से लौटकर इन्दौर आने पर अपनी सेना कम कर दी और राज्य व्यवस्था करना प्रारम्भ किया। इनका विचार था कि थोड़ी ही क्यों न हो, परन्तु सुशिक्षित सेना रखी जाय और तोप बनाने का कारखाना खोला जाय। परन्तु इतने ही में ये पागल हो गये और सन् १८११ में मरे। यशवन्तराव होलकर के बाद इन्दौर में उत्पात होना शुरू हुआ और बहुत कुछ हानि हुई, सन् १८१७ में होलकर की फौज ने फिर अङ्गरेजों से युद्ध प्रारम्भ किया, परन्तु महीदपुर में उनकी हार हुई। तब महेश्वर में संधि की गई और उसके अनुसार होलकर का बहुत सा राज्य अङ्गरेज सरकार के अधिकार में चला गया। इस समय गद्दी पर केवल १६ वर्ष के बालक मल्हारराव थे। उन्‍हें अपनी रक्षा में लेकर इन्दौर के दीवान तात्या जोग के द्वारा अङ्गरेजों ने बहुत सी सेना कम की। सन् १८२१ और २२ में इन्दौर में जो झगड़े फिसाद हुए वे अङ्गरेजों की सहायता से नष्ट किये गये। मल्हारराव के शासन काल में अङ्गरेजों ने अपनी अफीम की आमदनी बढ़ाई। मल्हारराव की मृत्यु सन् १८३३ में हुई। इनके पश्चात् हरिराव होलकर गद्दी पर बैठे, परन्तु इनके समय में राज्य में अत्यन्त अव्यवस्था होने के कारण अङ्गरेज सरकार ने अन्तर्व्यवस्था में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया इनके बाद सन् १८४८ में खंडेराव और खंडेराव के तीन मास बाद ही तुकोजीराव (द्वितीय) गद्दी पर बैठे। इनके शासन में होलकर की सेना ने सन् १८५७ में विद्रोह किया, परन्तु तुकोजीराव से उसका कुछ सम्बंध नहीं था।

गायकवाड और अङ्गरेज

सब मराठे सरदारों की अपेक्षा गायकवाड़से अङ्गरेजों की मैत्री सबसे पहले हुई और मराठों से भी सबसे पहले इन्हीं का दावा शुरू हुआ। इसका कारण यह है कि अङ्गरेजों के थाने पहले से गुजरात की ही ओर थे और साथ ही इस प्रांत की ओर मराठों का लक्ष्य भी नहीं था।

मुगलों के पहले गुजरात में हिन्दुओं का राज्य था। फिर मुगलों ने गुजरात को जीतकर अहमदाबाद में सेना की छावनी बनाई। सन् १६६४, ६६ और ७० में शिवाजी ने गुजरात पर चढ़ाई की। तब से गुजरात में मराठों के पाँव पड़े। सन्

१७०५ म धनाजी जाधव की मराठी सेना ने गुजरात पर चढाई कर मुसलमान सूबेदार को मार भगाया। मुसलमानो का शासन गुजरात के लोगों को अप्रिय हो गया था, अतः गुजरात मे मराठो का प्रवेश होते ही गुजरात के त्रस्त लोग मराठो मे आ मिले। अठारवी शताब्दी के प्रारम्भ म मराठो का सेनापति खंडेराव दाभाडे गुजरात और काठियावाड प्रात म खडनी वसूल करता था। सन् १७१८ मे मुगल बादशाह ने शाहू को जो सनद दी थी उनमें गुजरात प्रान्त से चौथाई वसूल करने की सनद नही थी परन्तु सेनापति ने खडनी वसूल करने की पहली पद्धति प्रचलित की। दाभाडे, शाहू को वसूली बराबर नही देते थे अत उन्होने आनन्दराव पवार को इसके लिए स्थायी रूप से नियत किया। इसी समय के लगभग दाभाडे की सेना के एक दमा जी गायकवाड नामक सिपाही ने शाहू महाराज से शमशेर बहादुर की पदवी अपने पराक्रम के बल और उप सेनापति का पद प्राप्त किया। सन् १७२१ मे दमा जी की मृत्यु हुई और उसके भतीजे पिलाजी को गायकवाडी सरदारी मिली। धार के पवारो से अनबन होने के कारण पिलाजी ने सोनगढ किले को अपना थाना बनाया। सन् १७६६ तक गायकवाड की राजधानी यही रही। इसी समय के लगभग गुजरात से मुगलो का शासन उठ गया। गुजरात पर चढाई करने का काम उदाजी पवार, कँठा जी कदम और पिलाजी गायकवाड पर था। अत इन तीनो मे इस प्रयत्न को अधिकार मे रखने के लिये स्पर्धापूर्ण प्रयत्न होने लगा। सन् १७२३ म पिलाजी ने सूरत पर अधिकार किया और अहमदाबाद म भी अपना प्रतिनिधि नियत किया। कदम और गायकवाड म चौथाई वसूली के लिये झगडा हो जाने के कारण खम्भायत मे दोनों की लडाई हुई, जिसम पिलाजी को हारना पडा, परन्तु अन्त मे यह ठहरा कि उत्तर गुजरात की खण्डनी वसूल करें और दक्षिण की गायकवाड। कुछ दिनो बाद इनमे फिर झगडा हो गया परन्तु दाभाडे के प्रतिस्पर्धी बाजीराव से दोनों का वैमनस्य होने से दोनों फिर एक हो गये। फिर डभोई की लडाई में बाजीराव पेशवा ने दमा जी और पिलाजी का पराभव किया तब शाहू महाराज ने दाभाडे के पुत्र को उसके पिता का अधिकार दिया और पिलाजी को मुतालिक नियत कर "सेना-खासखेल" की पदवी दी। उस समय पिला जी ने भी यह स्वीकार किया कि गुजरात की चोथ की वसूली मे से आधा भाग पेशवा के द्वारा शाहू महाराज को तथा छोटे राज्यो से जो खण्डनी वसूल होगी उसमे भी यथोचित भाग देगा। सन् १७३१ में जब पिला जी का वध हुआ तो उसके पीछे दमा जी गायकवाड सरदारी करने लगा। सन् १७३४ में बडोदा, गायकवाड के अधिकार म आया तब से आज तक उन्ही के अधिकार म है। फिर होलकर की सहायता से वह गुजरात पर चढाई करने लगा। उस समय दमा जी का ध्यान राजपूताने की ओर विशेष लगा था।

सन् १७४२ म दमाजी ने मालवा म लूटपाट की। उस समय नानासाहब पेशवा

को यह सन्देह हुआ कि यह लूट राघोजी भोंसले की शरारत से की गई है। अत उनके और गायकवाड के बीच अनबन हो गई सन् १७४४ म गायकवाड घराने में भी गृह कलह शुरू हुई । सन् १७५० में दमा जी ताराबाई के पक्ष मे जा मिला। इस समय ताराबाई ने सतारा के महाराज एव सम्पूर्ण मराठी राज्य को पेशवा के अधिकार से निकालने का विचार किया था। दमा जी का भी यही मत था। जब ताराबाई ने रामराज को पकड़ कर सतारे के किले में बद किया तो दमा जी उसके सहायतार्थ गया, परन्तु पेशवा ने उसे पूना म कैद कर लिया। दमा जी का भाई खण्डेराव जब पेशवा के पक्ष मे आ मिला तो दमा जी ने कैद मे से ही कार्यवाही करके सन् १७३१ से चढी हुई वसूली को १५ लाख में तोड़ करके अपना छुटकारा कराया। इस समय यह निश्चय हुआ कि गायकवाड, दस हजार सवार रखकर आवश्यकता पडने पर पेशवा की सहायता करें, पाँच लाख पच्चीस हजार रुपये क दामाडे के कुटुम्ब पोषण के लिये कुछ वृत्ति नियत कर द और अब से गायकवाड जो देश विजय करें अथवा नवीन खण्डनी वसूल करें उसमें से आधा हिस्सा पेशवा को दें और पेशवा, गायकवाड को अहमदाबाद जीतने और गुजरात से मुगल शासन नष्ट करने मे सहायता दें। इस समय से प्रत्येक गायकवाड सरदार के गद्दी पर बैठते समय नजराना लेकर सनद देने की रीति पेशवा ने शुरू की। इस प्रकार गायकवाड अपराधी न हुआ, परन्तु उसके मन की मैल अभी गई नहीं थी। इसके बाद गायकवाड घराने म प्रगट रीति से फूट पडी और दमा जी तथा फतहसिंह गायकवाड रघुनाथराव पेशवा के द्वारा अङ्गरेजों से मिले। सन् १६५३ मे जब अहमदाबाद पर घेरा डाला गया तब दमाजी गायकवाड ने रघुनाथराव को सहायता दी।

-

दमाजी गायकवाड पानीपत के युद्ध मे सम्मिलित था और उसने अपना बहुत शौर्य भी दिखलाया था, परन्तु मराठी सेना की हार हो जाने पर वह लौट आया। बड़े माधव राव पेशवा से झगडा कर जब रघुनाथराव चला आया तब दमाजी ने उसकी सहायता की, और घोड नदी के पास पेशवा की फौज का पराजित किया। इस बीच म गुजरात का विभाग गायकवाड को बहुत लाभदायक हो गया था। अत पेशवा ने दो लाख ५४ हजार की आमदनी का प्रदेश गायकवाड की अधीनता से निकाल लिया। दमाजी ने सन १७६८ मे अपने पुत्र गोविन्दराव को रघुनायराव के सहायतार्थ भेजा, परन्तु अपनी हार होने के कारण रघुनायराव के साथ साथ उसे भी पूना मे कैद होना पडा। अन्त मे सधि हुई जिसके अनुसार गायकवाड ने २३ लाख रुपये दण्ड और १६ लाख रुपये चढ़ी हुई वसूली के पेशवा को दिये। तब पहले जो प्रदेश गायकवाड के अधिकार से निकाल लिया था वह गायकवाड को वापिस किया गया और यह ठहरा कि गायकवाड ७ लाख ७९ हजार रुपये वार्षिक खण्डनी दें और ४००० सेना के साथ पेशवा के पास प्रत्यक्ष नौकरी में रहे।

कुछ दिनों बाद ही कीमिया का प्रयोग करते-करते दमाजी अपघात से मरा। तब उसके छोटे लड़के फतहसिंह राव ने बड़ौदे पर अधिकार कर लिया। इधर बड़े लड़के गोविन्दराव ने पेशवा से उत्तराधिकार की सनद प्राप्त की और ५० लाख ५० हजार रुपये देना स्वीकार किया, परन्तु सन् १७६१ में फतहसिंह राव पूना गया और उसने भी इतनी ही रकम देना स्वीकार कर अपने बिचले भाई सदाजीराव के नाम पर 'सना खासखेल' की पदवी और सरदारी प्राप्त की तथा उसके रक्षक होने के अधिकार प्राप्त किये। सन् १७७५ में गुजरात को लौट जाने पर फतहसिंह राव ने अङ्गरेजों से सहायता लेने का प्रयत्न किया और उसके बदले में सूरत परगना अङ्गरेजों को देना स्वीकार किया। सन् १७७५ में पूना में झगड़ा होने से रघुनाथराव बड़ौदा आया और गोविन्दराव से मिला। तब फतहसिंह ने नाना फड़नवीस से सहायता माँगी। रघुनाथराव ने सूरत में अङ्गरेजों से सन्धि की इस सन्धि के अनुसार रघुनाथराव ने अङ्गरेजों को बसई, साष्टी और सूरत के आस-पास का प्रदेश देना स्वीकार किया। साथ ही साथ गायकवाड़ का भड़ोच का हिस्सा भी गोविन्दराव से दिला देने का रघुनाथराव ने प्रण किया। सूरत, भड़ोच और खम्बात—ये तीन बन्दर व्यापार के लिये बहुत उपयोगी होने से अङ्गरेजों की दृष्टि लगी हुई थी, अतः इन बन्दरों को तथा बसई और साष्टी स्थानों को अपने अधिकार में लेने की इच्छा से अङ्गरेज, पेशवा और गायकवाड़ के झगड़ों में पड़े। गोविन्दराव को अङ्गरेजों की सहायता मिलने के कारण फतहसिंहराव नाना फड़नवीस के पास गया। तब उसकी ओर सिंधिया होलकर आदि की सेना ने तथा हरिपन्त फड़के ने गोविन्दराव को बड़ौदा पर से घेरा उठाने के लिये बाध्य किया और रघुनाथराव को हराया। दूसरे वर्ष फतहसिंह ने फिर करवट बदली और रघुनाथराव की ३००० सेना से सहायता करना तथा अंगरेजों को भड़ोच चिखली आदि परगने देना स्वीकार कर अंगरेजों का मन, गोविन्दराव का पक्ष छोड़ने की ओर झुकाया। सन् १७७८ में पेशवा ने फतहसिंह को 'सना खासखेल' की पदवी दी, परन्तु उसे भड़ोच की वसूली का हिस्सा नहीं मिला। सन् १७८० में फतहसिंह ने अङ्गरेजों से फिर सन्धि की और अंगरेजों ने सहायता देकर उसको अहमदाबाद जिला दिया। इसी वर्ष अंगरेजों ने कप्तान अर्ल को बड़ौदा में अपना पहला रेजीडेंट नियुक्त किया। परन्तु सन् १७८२ में पेशवा से जो सालबाई की सन्धि हुई उसके अनुसार अङ्गरेजों को फतहसिंह का पक्ष छोड़ना पड़ा और उसके साथ की हुई सन्धि रद्द करने के साथ अहमदाबाद, फतहसिंह से लेकर पेशवा को देना पड़ा। पेशवा ने फतहसिंहराव पर चढ़ी हुई वसूली की बाकी माफ कर दी, परन्तु पेशवा के आश्रय में स्वयं उपस्थित होकर नौकरी करने को बाध्य किया।

सन् १७८८ में फतहसिंह की मृत्यु हुई। तब फतहसिंह के छोटे भाई मान जी का हक स्वीकार कर उसे सदा जी का कारभारी बनाया गया। इसके बाद में उसने

नवीन, पुरानी खण्डनी मिला कर साठ लाख रुपये, किस्तों में देना स्वीकार किया। सन् १७६३ ईसवी में मान जी की भी मृत्यु हुई। तब गोविन्दराव सरदारी प्राप्त करने को पेशवा के पीछे लगा, परन्तु पेशवा ने इसमें बहुत कठोर शर्तें रक्खी थी, अर्थात् ५६ लाख रुपये नजराना और सैनिक सेवा के बदले में ४३ लाख रुपये देने के साथ-साथ ताप्ती नदी के दक्षिण की ओर सूरत बन्दर पर की जकात का हिस्सा पेशवा को देना गोविन्दराव स्वीकार करें, परन्तु सालबाई की सन्धि का कारण उपस्थित कर पेशवा को ताप्ती के दक्षिण का भाग देने मे अंगरेजो ने बाधा उपस्थित की। इसके बाद गायकवाडी इतिहास बहुत अव्यवस्थित है। सन् १७६७ मे गोविन्दराव ने पेशवा को ७८ लाख रुपये देकर ६० लाख रुपये माफ करा लिए। तो भी पेशवा के ४० लाख रुपये देना बाकी रह ही गये। बाजीराव के समय में पेशवा के गुमाश्ते से गोविन्दराव की कुछ खटपट हो गई और लडाई शुरू हुई। सन् १८०० मे गोविन्दराव ने अङ्गरेजों से सहायता मांगी। इस समय गायकवाड प्रान्त के सब जिले साहूकारो के यहाँ ऋण के बदले में गिरवी रक्खे थे और परगने के मामलतदार वसूली करके बैठे-बैठे मौज कर रहे थे। मांडलिका न खण्डनी नही दी और सेना में अरब आदि लोगों का प्रभाव बढ गया था। इस भाडेती सेना का वार्षिक खर्च ३०, ३५ लाख रुपये था। इसमे से बहुत सा रुपया अरब बगदादी, अबीसीनियन आदि मुसलमानो के ही पल्ले पडता था। इन भाडेती लोगो मे फूट थी और किसी एक पक्ष के जामिन हुए बिना बडौदा सरकार अपना बचत नही पालती थी। बडौदा के लोगो का विश्वास भी ऐसा ही हो गया था। इस जामिन की पद्धति को ही 'बहानदरी, पद्धति कहते थे।

गायकवाड के दोनो पक्षो ने अङ्गरेजो को पञ्च बनाया। अङ्गरेजो को यह सेना के साथ पञ्चायत करनी पडी। सन् १८०२ मे मेजर वाकर ने बडौदा आकर गायकवाड के जागीरदार से युद्ध किया। फिर गायकवाड से सन्धि हुई जिसमे गायकवाड ने अङ्गरेजो को ८४ परगने, सूरत की चौथाई आमदनी और युद्ध खर्च देना स्वीकार किया तथा भाडेती सेना को निकाल कर अङ्गरेजो के २,००० सिपाही और तोपखाना रखने और उनके व्यय के लिये ६५,०४० रुपये मासिक आमदनी का प्रान्त अङ्गरेजों को देने की मञ्जूरी दी। फिर गायकवाड से ठहरी हुई रकम अङ्गरेजों को न दी जा सकी, तब सन् १ ०३ मे धाडेका, नडियाद, बीजापुर प्रभृति प्रान्त गायकवाड ने अङ्गरेजों को दिये। पहले जब गोविन्दराव से, पेशवा प्रदेश लेने वाले थे तब अङ्गरेजो ने इसके लिए आपत्ति की थी, परन्तु इस बार स्वयं अङ्गरेजो ने ही गायकवाड से प्रदेश लिया। दूसरे बाजीराव के समय मे पेशवा से और गायकवाड से जो विवाद और अङ्गरेजों से झगडा हुआ उसका यह भी एक कारण था। एक सन्धि से अङ्गरेजो ने यह समझ लिया था कि अब गायकवाड के राज्य के सचालन मे हाथ डालने का अधिकार हो गया है और इसी लिए वे राज्य की उचित व्यवस्था हो

जाने पर भी राज्य में उथल पुथल करने लग थे। तब बड़ौदा के राजा और अङ्गरेजों मे स्नेह भाव के बदले विरोध बढ़ने लगा। अङ्गरेजा ने गद्दी का उत्तराधिकार स्वीकार करने और पेशवा से बातचीत करने का उत्तरदायित्व अङ्गरेजा ने अपने ऊपर ले लिया और फिर आगे काठियावाड के इन राजाओं के साथ गायकवाड के जो हक थे उनमें भी ब्रिटिश रेजीडेंट हाथ डालने लगा। अन्त में, सन् १८०४ में सन्धि के अनुसार अङ्गरेजों की इस उथल पुथल को कायदे का रूप प्राप्त हुआ।

सन् १८१२ मे अङ्गरेजों ने गायकवाड को अपने और दूसरे के ऋण से मुक्त किया। इसी समय के लगभग बड़ौदा में फिर दो पक्ष हो गये जिनमें से एक पक्ष अङ्गरेजों के अनुकूल और दूसरा गद्दी के अधिकारी आनन्दराव के पक्ष में था। आनन्दराव और पेशवा में भी अन्तरङ्ग स्नेह था, परन्तु गंगाधर शास्त्री आदि प्रमुख पुरुष उनके पत्र व्यवहार में आड़े आते थे। पेशवा का गायकवाड पर जो अधिकार था उसे अंगरेजो ने छीन लिया था। पेशवा के मन में भी यही बात खटक रही थी। इसी समय अहमदाबाद के पट्टे की मुद्दत पूरी होने पर भी और वह फिर गायकवाड को देना या न देना पेशवा के अधिकार में था। पेशवा इस अहमदाबादवाले प्रकरण से बड़ौदा पर अपना प्रभाव जमाना चाहते थे। इस पट्टे को लेने के लिये सन् १८१४ में गंगाधर शास्त्री पूना गया। इसके सिवा पेशवा और गायकवाड का २ करोड ६१ लाख रुपयो के हिसाब का भी झगड़ा था। इस झगड़े के सम्बन्ध में पूना में शास्त्री से बहुत बात चीत होने पर झगड़ा तय हो जाने की आशा थी कि सन् १८१४ में शास्त्री का खून हुआ और यह बात जहाँ की तहाँ रह गई। परन्तु अंगरेजों ने इसका बदला बाजीराव से अच्छी तरह लिया और सन् १८१७ के मई मास में पूना पर घेरा डालने पर अंगरेज और पेशवा की जो सन्धि हुई उसमें अंगरेजों ने पेशवा से लिखवा लिया कि हमने गायकवाड पर के अपने सब दावे छोड़ दिये। इस तरह अंगरेजों को काठियावाड में खण्डनी वसूल करने के और पेशवा के सब अधिकार प्राप्त हुए। गायकवाड पेशवा की अधीनता से तो निकल गये, परन्तु अंगरेज उनके स्वामी हुए। गङ्गाधर शास्त्री ने अपने प्राण देकर गायकवाड और अंगरेजों का बहुत भारी लाभ करवा दिया। सन्धि के अनुसार सवा के लिये ४॥ लाख रुपये वार्षिक गायकवाड से पेशवा को मिलना चाहिये था और इसके बदले में अङ्गरेजों ने अहमदाबाद का पट्टा गायकवाड से ले लिया था, परन्तु सन् १८१७ में पेशवाई के नष्ट हो जाने से अङ्गरेजों के यह ४॥ लाख रुपये वार्षिक भी बच गये। फिर अंगरेज और गायकवाड ये दोनों ही रह गये और उनमें अंगरेजों का पक्ष किस प्रकार बढ़ता गया इसका वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है।

आंग्रे और अङ्गरेज

कुलाबा के आंग्रे पहले आग्रवाडी गाँव के रहने वाले थे। इनका मूल पुरुष तुकाजी सकपाल था। इसने मुगलों को शाहजी भोसले के विरुद्ध कोंकन प्रान्त मे

सहायता दी थी। शाहजी के बाद तुकोजी ने शिवाजी की नौकरी की तब शिवाजी ने उसे अपने जहाजी बेड़े मे एक बडे पद पर नियत किया। ऐसा पता लगता है कि तुकोजी के पुत्र कान्होजी को सन् १६९० मे राजाराम ने उपसेनापति नियत किया था। जब मुख्य सामुद्रिक सेनापति सिधोजी गूजर की मृत्यु हो गई तब सन् १६९८ मे कान्होजी को उसका स्थान दिया गया। कान्होजी के सम्बन्ध मे यह बात प्रसिद्ध है कि वह बहुत साहसी सामुद्रिक सैनिक था। उसने बम्बई से लेकर नीचे के अरब समुद्र के किनारे पर अपना भय उत्पन्न कर दिया था। वह झपाटे मे आ जाने पर किसी भी यूरोपियन राष्ट्र के जहाजो पर निर्भय होकर आक्रमण करता था। कुलाबा, सुवर्णदुर्ग विजयदुर्ग आदि स्थानो पर उसके मजबूत थाने थे। हिन्दुस्तानियो से यूरोपियनो के व्यवहार का मुख्य मार्ग समुद्र किनारा था, अत यदि सबसे पहले किसी मराठे से अंगरेजो की गाँठ पडी तो वह आंग्रे था। कोकनपट्टी पर अङ्गरेज और पोर्तुगीजों की बराबरी का कान्होजी का यदि कोई शत्रु था तो वह सिद्दी था। सन् १६९९ मे पोर्तुगीज और सिद्दी ने मिलकर आंग्रे से युद्ध प्रारम्भ किया, परन्तु आंग्रे ने उन्हे हरा दिया और सागर गढ ले लिया। फिर परस्पर मे संधि हुई जिसमे यह ठहरा कि कुलाबा, खांदेरी और सागरगढ थानो की वसूली का कुल हिस्सा और राजकोट व चौल की सब वसूली आंग्रे को मिले। सन् १७०५ तक कान्होजी की सत्ता इतनी बढी हुई थी कि उस समय के अंगरेजी कागजो मे गुण साद्दश्य के कारण कान्होजी को शिवाजी का नाम दिया हुआ दिखाई पडता है। जब शाहू और ताराबाई का झगडा शुरू हुआ तब कान्होजी ने ताराबाई का पक्ष लिया। इस कारण ताराबाई ने कान्होजी को बम्बई से सावंतवाडी तक के समुद्र किनारे का राज्य तथा मांची के किले का और कल्याण व भीमड परगने का अधिकार-पत्र दिया। तब शाहू महाराज ने बहिरो पन्त पिंगले पेशवा को आंग्रे पर चढ़ाई करने के लिए भेजा, परन्तु आंग्रे ने उसको हरा कर उसे कैद कर लिया और सतारे पर चढ़ाई की तैयारी की। तब शाहू ने फिर बालाजी विश्वनाथ को आंग्रे पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। आगे जाकर दोनो की संधि हुई और आंग्रे को शाहू महाराज ने खांदेरी से देवगढ तक का प्रदेश कोंकणप्रान्त के दस किले, जहाजी बेडे के मुख्य सेनापति का पद और सरखेल की पदवी दी। इनमे से कुछ किले सिद्दी के अधिकार मे थे। परन्तु सिद्दी से युद्ध कर वे किले आंग्रे ने छीन लिये। सन् १७२० के लगभग कोंकण मे मुगलो की सत्ता नष्टप्राय हो कर मराठी सत्ता बढ़ने लगा। उस समय कान्होजी के पास बहुत बड़ा जहाजी बेडा था और मराठा के सिवा डच, पोर्तुगीज, अरब, निग्रो तथा मुसलमान जातियो के भी बहुत से मनुष्य थे। कुछ दिनो तक आंग्रे को यूरोपियनो से लडना पडा। समुद्र किनारा खाली होने पर बन्दर मे जहाज लाने के लिए आज के समान उस समय भी परवाना लेना पडता था। जिस यूरोपियन जहाज के पास ऐसा परवाना न

हो, कायदे के अनुसार उस पर आक्रमण करने का अधिकार आंग्रे को था, क्योंकि एक तो वह जहाजी बेड़े का अधिकारी या सरदार था दूसरे बन्दर पर के किनारे का परवाना देने का ठेका भी उसने ले रक्खा था। इस ठेके के रूप में रुपये वह छत्रपति के खजाने में पहुँचा भरता था।

सन् १७१७ में अंगरेजों ने विजयदुर्ग का किला लेने का प्रयत्न किया, परन्तु वे उसमें सफल नहीं हुए, उल्टे उनका सक्सेस नामक जहाज कान्होजी ने पकड़ लिया। सन् १७१८ में अंगरेजों ने कान्होजी के खादेरी द्वीप पर आक्रमण किया, परन्तु कान्होजी ने उन्हें वहाँ से भी भगाया और उनको क्षति पहुँचाई। सन् १७२० में कान्होजी ने उनका एक और जहाज पकड़ा। तब अंगरेज और पोर्तुगीज मिलकर विजयदुर्ग की खाड़ी में घुसे और वहाँ उन्होंने आंग्रे के १६ जहाज जलाये। परन्तु वे किले को न ले सके। सन् १७२२ में कुलाबा के थानेदार ने अंगरेजों और पोर्तुगीजों को पराजित किया सन् १७२४ में डच लोगों ने ७ बड़े बड़े जहाजों के काफिले के साथ विजयदुर्ग पर आक्रमण किया, परन्तु वह भी आंग्रे ने विफल कर दिया। सन् १७२७-२८ में इन दोनों वर्षों में आंग्रे ने अंगरेजों के बहुत से जहाज पकड़े और उनके मैकनील नामक कप्तान को बहुत मार मारी और पैर में साँकल डालकर किले में रखा। सन् १७३० में अंगरेजों ने आंग्रे के विरुद्ध वाड़ीकर फोंडे सावंत से संधि कर सहायता ली। सन् १७३१ में कान्होजी की मृत्यु हुई। उसके चार लड़के थे। इनमें झगड़ा शुरू हो गया। उस समय सखोजी कुलाबा में था वह पेशवा से मिला हुआ था। उसने और पेशवा ने मिलकर मुगल सरदार शीदीसाँ को हरा कर चौल ले लिया। सखोजी ने अंजनवल की लड़ाई में भी पेशवा की सहायता की थी। सखोजी की मृत्यु के पश्चात् उसके भाई मानाजी और संभाजी में झगड़ा शुरू हुआ। तब मानाजी ने पोर्तुगीज की सहायता से कुलाबा ले लिया। इसके विरुद्ध शिद्दी और अंगरेजों ने एक होकर इसका सब देश छीन लेने का विचार किया, परन्तु उसका फल कुछ नहीं हुआ। फिर संभाजी बहुत प्रबल हुआ और उसने अली बाग पर चढ़ाई की। तब मानाजी को अंगरेज और पेशवा की सहायता लेनी पड़ी। संभाजी इतना प्रबल हो गया था कि उसने अंगरेजों से कहा था कि अंगरेज अपनी जहाजों के परवाने मुझसे लें और २० लाख रुपये वार्षिक खंडनी दें, परन्तु अंगरेजों ने यह स्वीकार नहीं किया।

सन् १७४५ में संभाजी को सीमा से बाहर बढ़ते देख मानाजी ने बालाजी को सहायता मांगी और वह उन्होंने दी थी, परन्तु जब उसे यह मालूम हुआ कि स्वयं पेशवा लेना चाहते हैं तो उसने किसी भी तरह सम्भाजी से संधि कर ली। सन् १७४८ में सम्भाजी भी मर गया। उसके बाद गद्दी पर बैठने वाला तुलाजी आंग्रे भी सम्भाजी के ही समान अंगरेजों का शत्रु था। तुलाजी के समय में कोकनपट्टी पर अपने जहाजों की रक्षा करने में अंगरेजों को पांच लाख रुपये वार्षिक व्यय करने पड़ते थे। तुलाजी ने

बड़े बड़े जहाज बनवाये थे और दक्षिण समुद्र का सब व्यापार अपने हस्तगत करना चाहता था। सन् १७५५ में अङ्गरेज और पेशवा ने मिलकर तुलाजी पर चढ़ाई करने का विचार किया। इस विचार के अनुसार मराठा ने स्थल भाग से और अङ्गरेजों ने जलभाग से विजयदुर्ग पर आक्रमण कर उस दुर्ग को ले लिया। इस चढ़ाई में एडमिरल वाटसन के साथ साथ कर्नल क्लाइव भी था। किले में आठ अङ्गरेज और तीन डच कैदी थे। वे छोड़ दिये गये और दोनों अङ्गरेज और पेशवा ने मिलकर साढ़े बारह लाख रुपया का माल लूटा तथा स्वतः तुलाजी आंग्रे को आजन्म कैदी होकर रहना पड़ा। पहले की शर्त के अनुसार विजयदुर्ग का किला पेशवा का और उसके बदले में बाणकोट और म्हसगाव अङ्गरेजों को मिले। विजयदुर्ग को पेशवा ने अपनी सामुद्रिक सेना का सूबा बनाया और आनन्दराव धुपल को सूबेदार नियत किया।

मानाजी आंग्रे थोड़ी पेशवा की सहायता कर रहा था। वह विजयदुर्ग के पतन होने पर लौट गया। सन् १७५६ में मानाजी की भी मृत्यु हुई तब उनके दासी पुत्र राघोजी को पेशवा की सहायता से पहले ही शिद्दियों से लड़ना पड़ा। उसने शिद्दी से उँदेरी लेकर पेशवा को दिया। राघोजी ने अलीबाग में रह कर अपने देश की उत्तम व्यवस्था की और चाल आदि स्थानों में नमक की क्यारियाँ बनवाकर अपनी आमदनी बढ़ाई। वह पेशवा का दो लाख रुपये वार्षिक खण्डनी देता था तथा अलीबाग की सरञ्जामी के बदले में अपने पास सेना रखकर पेशवा की नौकरी बजाता था। सन् १७९३ में राघोजी की मृत्यु हो गई। तब फिर आंग्रे घराने में कलह उत्पन्न हुआ। मानाजी का पक्ष पेशवा के लेने पर प्रतिपक्षी जयसिंह ने सिंधिया बातचीत करना प्रारम्भ किया। सिंधिया की ओर से बाबूराव सरदार अलीबाग आया और उसने दोनों ओर के पक्षपातियों को कैद कर स्वतः अलीबाग पर अधिकार कर लिया। इस प्रकरण में जयसिंह की स्त्री सोनकुँवर बाई ने अनेक वर्षों तक प्रत्यक्ष युद्ध और किले की लड़ाइयाँ लड़ कर अपना बहुत शौर्य प्रगट किया। सन् १८१३ में बाबूराव की मृत्यु के पश्चात् मानाजी द्वितीय को अपना सिर ऊंचा करने का मौका मिला और उसने पेशवा का दस हजार की आमदनी का प्रदेश तथा खांदेरी द्वीप देकर अलीबाग वापिस ले लिया। मानाजी सन् १८१७ में मरा। इन दो पीढ़ियों के परस्पर के झगड़ों के कारण आंग्रे का ३० ३५ लाख का राज्य नष्ट होते होते केवल तीन लाख का रह गया। मानाजी के पश्चात् उसका छोटा लड़का गद्दी पर बैठा। उस समय राज्य कार्य विवलकर दबते । पेशवाई सत्ता नष्ट हो जाने के बाद १८२२ में अङ्गरेजों की अधिराज सत्ता स्वीकार की। तब से गद्दी के उत्तराधिकारी ठहराने का हक अङ्गरेजों को प्राप्त हुआ। सन् १८३८ में रघुजी की मृत्यु हुई और दो वर्ष बाद उसका पुत्र भी चल बसा। इसके साथ ही आंग्रे घराने का और सम्पत्ति नष्ट हुई। तब रघुजी की स्त्री ने अङ्गरेजों से दत्तक लेने की आज्ञा मांगी। परन्तु उन्होंने दत्तक लेने की आज्ञा नहीं दी।

पटवर्धन और अङ्ग्रेज

पेशवाई मे जिन ब्राह्मण सरदारो ने प्रतिष्ठा प्राप्त की थी उनमे पटवर्धन मुख्य थे। इनका मूल पुरुष हरिभट्ट पटवधन उत्तम वैदिक ब्राह्मण था और वह इचल करञ्जी वाले घोरपडे के यहाँ उपाध्याय के पद पर नियत था। वह सन् १८१६ मे बालाजी विश्वनाथ पेशवा के आश्रय मे आकर पूना मे रहा। भटटजी के सात लडके थे, जिनमे से तीन तो अलग हो गये, चौथा लडका गोविन्द हरि बाजीराव पेशवा के शासन काल मे कदम की पायगा का फडनवीस बना और नाना साहब पेशवा के समय मे फडनवीसी का सरदार बन गया। इसका उदाहरण देखकर इसका छोटा भाई रामचन्द्र राव भी सैनिक नौकरी मे घुसा। सन् १७३६ मे सिंधिया और पोर्तुगीजो मे जो लडाई हुई उसमें रामचन्द्र राव ने बहुत कीर्ति प्राप्त की। सन् १७४५ मे जब दमाजी गायकवाड तारा बाई का पक्ष लेकर पेशवा के विरुद्ध खडा हुआ तब उसके विरुद्ध जो सेना भेजी गई थी उसमे गोविन्द राव हरि और उसके पुत्र गोपाल राव ने बडी भारी वीरता प्रदर्शित की और दमाजी गायकवाड को कैदकर पूना लाये। तब से पेशवा के सहायकों मे पटवर्धन सरदार प्रसिद्ध हुए। इसके बाद जितनी बडी-बडी लडाइयां हुई उनमे पटवर्धन घराने का कोई न कोई पुरुष उपस्थित ही रहा। सन् १७६० मे गोपालराव ने दौलताबाद का किला निजाम से लडकर ले लिया। बडे माधवराव पेशवा के समय (१७६४) मे गोविन्दराव, परशुराम रामचन्द्र और नीलकंठ त्र्यंबक तीनो को चौबीस लाख का सरञ्जाम और आठ हजार सवारो की सरदारी दी गई। पटवर्धन को जो जागीर दी गई थी वह प्राय कोल्हापुर की सीमा पर था अत पेशवा कोल्हापुर दरबार का बन्दोबस्त अच्छी तरह कर सके। जागीर का मुख्य स्थान मिरज बनाया गया। निजाम हैदर, टीपू, नागपुर के भोसले और अङ्ग्रेजो से पेशवा के जो युद्ध हुए उनमे पटवर्धन सरदारो ने बहुत पराक्रम दिखलाया और कीर्ति प्राप्त की। पटवर्धन घराने मे गोपाल राव, रामचन्द्रराव परशुराम भाऊ, काशीराव, चिन्तामणिराव आदि सरदार विशेष प्रसिद्ध थे।

जनरल गाडर्ड से जो युद्ध हुआ उसमे अङ्ग्रेजो और पटवर्धन सरदार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध हुआ। फिर टीपू पर की गई चढ़ाई मे जनरल वैलस्ली और परशुराम भाऊ का अत्यन्त आदर सम्मान हुआ। दूसरे बाजीराव ने पटवर्धनो का नाना फडनवीस के मित्र और रघुनाथ राव के शत्रु रहने के कारण उन सब पर हथियार उठाने और उनकी जागीर जप्त करने का षडयन्त्र रचा, परन्तु पटवर्धनो के प्रति अङ्ग्रेजो के मन मे जो आदर था उसके कारण एल्फिन्स्टन साहब ने बीच मे पडकर पटवर्धनो की जागीर बचाई। पटवर्धन सरदार और बाजीराव (दूसरे) पेशवा की अनबन आजन्म रही। सन् १८१७ मे जब बाजीराव ने अङ्ग्रेजो से युद्ध छेडा तब पटवर्धन सरदार नाममात्र के

बाजीराव की ओर थे, परन्तु जब बाजीराव भाग गया तब अङ्गरेजो के स्वय पेशवा पद धारण कर मराठी राज्य चलाने का बहाना करने के कारण तथा एल्फिन्स्टन साहब ने जो जागीर बचाइ थी, उस कृतज्ञता के कारण पटवधन सरदार अपनी सेना लकर तुरन्त लौट गय। बाजीराव के अन्त म केवल सागन चितामणि राव अप्पा साहब पटवधन ही बाजीराव के साथ उत्तर भारत तक गया था, परन्तु वह भी बाजीराव के अधीन होने क पहले ही लौट आया। चितामणिराव का प्रभाव अङ्गरेजो पर बहुत था, इस लिये वह अपने जीवन पर्यन्त स्वाभिमान पूर्ण सरदारी चला सका। बाजीराव के समय म पटवधन घराने के सब लोगो ने उसे आपस मे बाटकर बाजीराव और अंग्रेजो के मजूरी भी ले ली। इस कारण स जागीर के टुकडे टुकडे हो गये और सब सरदार भी शक्ति हीन हो गये। फिर पेशवाई नष्ट होने पर अङ्गरेजो ने प्रत्यक पटवधन घराने से भिन्न भिन्न सन्धिया की। साथ ही बहुत सा प्रदेश भी इनस ले लिया। पटवधनो का उत्कर्ष काल साठ वर्षों के लगभग रहा। इनकी ओर स मराठाशाही नष्ट होने म किसी प्रकार रुकावट नही डाली गई, क्योकि एक तो बाजीराव स इनका द्वेष था, दूसरे अंग्रेजो में और इनम मैत्री थी।

पेशवाई नष्ट होने के साथ ही पटवधनो का तेज भी नष्ट हो गया। तो भी इस घराने के सागली क बडे अप्पा साहब, मिरज के बडे बाला साहब और तात्या साहब तथा काडवाले अप्पा साहब आदि सस्थानिक पुरुषों ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। पटवधनो में जब तक जागीरो का बटवारा नही हुआ था तब तक उनको जागीरो के दीवानी और फौजदारी अधिकार प्राप्त थे, परन्तु बटवारा हो जाने क बाद बडे घराने वाले को ही ये अधिकार प्राप्त रहे। सरजामी प्राप्त अङ्गरेजो का द दन और नौकरी की माफी हो जाने से जिन पटवधन सरदारो क आश्रय मे पहले हजारो सैनिक थे वहा अब उनकी जगह प्राय खाली हो गई। जिस अवस्था म उन्होने प्रसिद्धि प्राप्त की थी उसी के चले जाने मे और इसी कारण वैभव नष्ट हो जाने स पटवधन सरदारो को अपने समय का उपयोग करना कठिन हो गया, अत वे अभिमानी और विलास प्रिय बन गय। सन् १८५७ के विद्रोह मे सम्मिलित होने के सदह पर जमखडी क अप्पा साहब को कुछ दिन प्रतिबन्ध मे रहना पडा था और मिरज के बडेवाला साहब पर भी अङ्गरेजो की कुछ कडी नजर हुई थी। पटवधन सरदारो के बहुत से वर्ष एसी उलझन में व्यतीत हुए कि वे न तो पेशवाई समय लौटा सके ओर न अङ्गरेजो की नौकरी ही दिल दिल से कर सके।

मराठे और अङ्गरेजों का समकालीन सम्मिलन

मराठे और अंगरेजों का पारस्परिक सम्बन्ध जितने समय तक रहा उसके निम्नलिखित कारण हैं —

(१) १६४८ से १७६१ तक—इस काल में मराठे और अंगरेजों का बहुत निकट सम्बन्ध रहा है और अंगरेज हमेशा उनसे नम्रतापूर्वक व्यवहार करते रहे और उनसे मैत्री बढ़ाने की भी इच्छा रखते थे।

(२) १७६१ से १७८६ तक—इस समय अंगरेजों ने भारत में अपनी स्थिति को काफी मजबूत कर लिया था और वे लोग अपनी शक्ति पर गर्व करने लगे थे तथा उन्हें इसका विश्वास हो गया था कि हमारी शक्ति काफी सशक्त है। इस कारण अपनी शक्ति का परीक्षण के लिए उन लोगों ने मराठों से छेड़छाड़ की, परन्तु वे असफल रहे।

(३) १७८३ से १८०० तक—इस काल में मराठे और अंगरेज एक दूसरे को समान शक्तिशाली समझते थे। इसलिए एक दूसरे के प्रति समानता का व्यवहार रखते थे।

(४) १८०० से १८१८ तक—इस काल में मराठों की शक्ति का ह्रास होने लगा था और अंगरेजों की ताकत काफी बढ़ गयी थी। जिसके फलस्वरूप मराठों का पतन हुआ और अंगरेजों का शासन सभी मराठों पर हो गया।

पहली कालावधि में अंगरेजों ने अपना व्यापारी पेशा को ही मुख्य उद्यम बनाया। उस समय वे छत्रपति महाराज और उनके पेशवा के पास अपने वकील को भेजते थे, नजराना देते, व्यापार की सुविधा प्राप्त करने की विनती करते और कोठी मंजूर करवाते, विविध प्रकार के माल सस्ते दामों बेचकर ग्राहक बढ़ाते और यही कहते थे कि निर्विघ्न रूप से हम व्यापार करने की आज्ञा प्रदान की जाये हम किसी के राज्य अथवा सरकार में कोई वास्ता नहीं है। सन् १७७० के लगभग इन लोगों ने बङ्गाल के काफी प्रान्त हस्तगत कर लिये थे और वे दिल्ली के बादशाह के दीवान बन गये। दक्षिण की ओर मुगलों का पतन होने के कारण उनका राज्य भी नष्ट हो गया था और निजाम से पहले ही मैत्री कर ली थी, अतः दक्षिण में केवल मराठे और हैदर अली ये दो ही स्वतन्त्र थे। इनमें से हैदरअली के विरुद्ध अंगरेज कभी भी कुछ करने में असमर्थ रहे और बाकी लोग तो मराठों का भी कुछ भी न कर सके। पर रघुनाथराव की द्वन्द्व कलह के कारण मराठाशाही के अंगरेजों की नीतियों का प्रवेश

करने का मौका मिल गया। जब अङ्गरेजों ने साष्टी पर अपना अधिकार कर लिया तो पेशवा उसे लेने मे असमर्थ थे। इस बात को देखकर और रघुनाथराव के पक्ष में अङ्गरेजो ने मराठो से युद्ध शुरू कर दिया, परन्तु इस चाल म वे सफल न हो सके और अन्त मे वे पराजित हुए। तब अङ्गरेजो ने मराठो से सधि कर ली, जिसमे रघुनाथराव को मराठो के सिपुर्द करना स्वीकार कर लिया और यह भी स्वीकार किया कि अभी हमारा पक्ष दुर्बल है। सन् १७८६ से १८०२ तक मराठो और अङ्गरेजो दोनों की शक्ति एक समान थी। उस समय दोनो की ताक्त चर्ती पर थी, अत दोनो म सहकारिता का सम्बन्ध होना स्वाभाविक था। इस समय दोनो ने मिल कर शक्तिशाली टीपू पर चढाई कर दी और उसे पराजित किया। सवाई माधवराव के समय मे मराठो की ही तूती बोलती थी। उन्होंने दक्षिण निजाम का उन्मूलन पूरी तरह से कर दिया। निजाम यद्यपि अङ्गरेजो का मित्र था, पर अगरेजो ने पेशवा के कारण निजाम को सहायता न दी। टीपू का राज्य नष्ट हो जाने के कारण अगरेजो को तुङ्गभद्रा से लेकर समस्त दक्षिण प्रदेश म निष्कटक राज्य करने का सुअवसर मिल गया। उत्तर भारत में मराठों और अगरजो के अधिकार म बराबर बराबर प्रदेश थे। नर्मदा से यमुना तक का प्रान्त सिधिया ने अधिकृत कर रखा था और यमुना स ऊपर के प्रान्त अगरेजो के हाथ म थे। एक दिल्ली ही ऐसी थी जो झगडे का मूल कारण बनी। दिल्ली की राज सत्ता सिंधिया के अधीन थी, लेकिन सम्पत्ति अगरेजो ने हस्तगत कर रखी थी। अर्थात् बादशाही राज्य की वसूली अगरेज करते थे। सारांश यह कि नाना फडनवीस और महादजी सिंधिया क बीच के पच्चीस वर्षों म अगरेज और मराठे एक समान होने के कारण ऊपरी तौर पर एक दूसरे क सच्चे सहायक थे, परन्तु आतरिक तौर से वे एक दूसरे को नष्ट करने की प्रबल इच्छा रखते थे। राज नीतिज्ञ नाना फडनवीस और तलवार का धनी महादजी सिंधिया की असामयिक मृत्यु से मराठो का पलडा हल्का हो गया, क्योकि बाजीराव तो शक्ति-हीन और मूर्ख होने के साथ ही साथ अगरेजो क उपकार भार से अनुगृहीत था।

अगरेजो के शक्तिशाली प्रतिस्पर्धी केवल सिंधिया और होलकर ही थे, परन्तु इन दोनो क बीच म कलह शुरू हो गया और उनका शौर्य उन्ही के अत कलहाग्नि में दग्ध हो गया। इन कारण इन दोनो से अलग अलग युद्ध करके १७०३ से १७०४ तक म इन दोनो को विजित कर लिया। उन लोगो ने ही अङ्गरेजो को भारत की छाती पर चढकर और ताल ठोककर यह सिंहनाद करने का अवसर दिया कि इस पृथ्वी तल पर अब कोई योद्धा नही बचा।

मराठो और अङ्गरेजो का उत्कर्ष बहुत समय तक भारतवर्ष में एक सा परन्तु विभिन्न रूपो म होता रहा, परन्तु जिस समय मराठो की सत्ता बनी और बिगडी, उस समय अंग्रेजो की सत्ता एक गति से गतिमान थी। उनकी सत्ता का उत्कर्ष बढता ही

गया, कभी पीछे की ओर रख नहीं हुआ अंग्रेजो की असफलता कई युद्धो में हुई। जैसी हार उनको पहले मराठा युद्ध मे हुई वैसी ही हार अन्य अनेक स्थलो पर भी हुई थी, जिस पर अगरेजो की सत्ता और ऐश्वर्य उन्नतिशील थी। मराठो और अगरेजो की सत्ता के अभ्युदय की तुलना करने के लिये सन् १६०० से १८१८ तक का रेखा चित्र खीचना होगा। जो बात केवल तारीख से ध्यान मे नही आती वह मराठे और अगरेजो ऐसी भाषा को सुनते ही ध्यान म आ जाती है।

जिस समय हिन्दुस्तान की सम्पत्ति के विषय मे इगलैंड मे आश्चर्यजनक चर्चा चल रही थी और व्यापार करने के लिये कम्पनी के रूप मे निकलने का विचार अंग्रेज कर रहे थे उस समय भारतवर्ष के दक्षिणी हिस्से को छोड़कर बाकी हिस्सा मे मुगलो का ही आधिपत्य था। दक्षिण में भी यद्यपि मुगलो की राज्य सत्ता न थी, फिर भी दूसरे मुसलमानो की सत्ता अवश्य थी। तालीकोट की लड़ाई से हिन्दुओं के साम्राज्य का अवशेष नाममात्र को रह गया था और अहमदनगर की निजामशाही बीजापुर की आदिलशाही और गोलकुण्डा की कुतुबशाही—ये तीन बहमनी राज्य से निकले मुसलमानी राज्य स्थिर रहे और उन्होने उस समय महाराष्ट्र पर आक्रमण करके मुगलो की सत्ता-प्रसार की इच्छा को रोका। इस समय मराठो की स्थिति काफी दयनीय थी। उन्होने इन तीनो मुसलमानी दरबारो म सरदारी और मनसबदारी कर इसके साथ ही साथ उनकी परतत्रता भी स्वीकार कर ली थी। इतना ही नहीं मराठी घरानो में उत्पन्न बैर भाव को वे दृष्टि मे रखते थे और उनकी अत कलह को काफी प्रोत्साहन देते थे जिस समय लन्दन में ईस्ट इण्डिया कम्पनी नामक एक अगरेजी कम्पनी की स्थापना हुई थी, उसके एक मास पूर्व मालोजी के पुत्र शाहजी भोसले का विवाह यादवराव की कन्या जीजीबाई के साथ हुआ था। इस समय शाहजी की अवस्था केवल पाँच वर्ष की थी। १६१२ मे जब अगरेजो ने अपना व्यापार सूरत में स्थापित किया तब शाहजी की आयु १७ वर्ष की थी। शिवाजी के जन्म के पहले अगरेजो ने जहागीर और शाहजहाँ से अनुमति प्राप्त करके बगाल मे व्यापार के क्षेत्र को विस्तृत करना प्रारम्भ कर दिया था। जब उन लोगो ने मछलीपट्टम में मुख्य क्षेत्र बनाकर मद्रास प्रात में पैर रखा तब शिवाजी ४ वर्ष का था और जब शिवाजी की आयु १२ वर्ष की थी तब अगरेजों ने १६३९ मे फोर्ट सेंट जार्ज नामक किला बनवाने का प्रबन्ध किया था। शिवाजी ने महाराष्ट्र के प्रमुख किले हस्तगत करके अफजल खाँ का वध किया और बीजापुर की ओर कल्याण से लेकर गोआ तक और भीमा से वारणा नदी तक का देश अपने आधिपत्य में कर रखा था। इसी समय अगरेजों को बम्बई मिल गया और उनका स्वतत्र प्रवेश कोकण-पट्टी में हुआ। डच लोग तो हत प्राय थे ही, केवल पुर्तगाली ही शक्तिवान थे। शाहजी का स्वर्गवास हो चुका था और शिवाजी बीजापुर से स्वतत्र हो गया था। उसी वर्ष अगरेजो की पहली भेंट शिवाजी से हुई

और शिवाजी ने अंगरेजों के व्यवसाय पर एक आना प्रतिशत कर लेना मञ्जूर किया। शिवाजी के राज्यारोहण के समय अंगरेजों का बम्बई में प्रभाव नहीं के बराबर था, परन्तु बंगाल और मद्रास में उनकी प्रगति काफी उन्नतिशील थी। राज्यारोहण के दूसरे वर्ष अंगरेजों ने चन्द्रनगर में व्यापार शुरू कर दिया था। उनका और फ्रांसीसियों का युद्ध अभी नहीं हुआ था, पर होने वाला था।

शिवाजी की मृत्यु के पाँच वर्ष बाद (१६८५) बम्बई में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुई और उधर बङ्गाल में भी अगले वर्ष उन्होंने कलकत्ते में अपने कदम रखे। दक्षिण में जब औरङ्गजेब मराठों से युद्ध में व्यस्त था, अङ्गरेज लोग अपने व्यापार को धीरे धीरे बढ़ाते जा रहे थे और जिस वर्ष (१६६८) जुल्फिकारखाँ ने जिंजी का किला हस्तगत करके राजाराम महाराज और उनके साथ मराठाशाही के प्राण को सङ्कट भंवर में टाल दिया था, उस वर्ष अङ्गरेजों ने फोर्ट विलियम नामक किला बनवाया था। सन् १६६७ में अङ्गरेजों की शक्ति औरङ्गजेब के टक्कर की नहीं थी। वे इस युद्ध में मुकाबला करने में असमर्थ थे और इस बिना विचार किए हुए काम के कारण अङ्गरेजों को काफी सङ्कट उठाना पड़ता, परन्तु दक्षिण में इसी अवसर पर सम्भाजी ने औरङ्गजेब से विरोध करके अङ्गरेजों को सहायता दी। औरङ्गजेब ने अब यही उचित समझा कि अङ्गरेजों के बजाय पहले सम्भाजी को नष्ट कर दिया जाय। अन्त में सन् १६८६ में सम्भाजी को पकड़ कर उसका वध कर दिया गया। इस दमन के बावजूद भी दक्षिण में युद्ध चलता रहा। अङ्गरेजों का मुख्य बन्दरगाह किनारे पर था। औरङ्गजेब की सारी दृष्टि समुद्री किनारे के प्रदेश की ओर रहने के कारण अङ्गरेज उसके चंगुल में नहीं आ पाते थे, इसके सिवा उसने देखा होगा कि अङ्गरेज तो निर्बल हैं ही, पहले मराठों को अपने अधिकार में कर लेना चाहिए। अतः सम्भाजी के वध के दूसरे वर्ष (१६६०) से अङ्गरेजों की व्यापार-नीति नष्ट होकर उसके बदले में इस देश के लगान के रूप में रुपया पैदा करने की नीति स्थिर की गई। इसी समय उन्होंने विलायत में एक सेना की व्यवस्था की और आवश्यकता पड़ने पर भारत देश के रजवाड़ों से युद्ध की आज्ञा ले ली। राजाराम महाराज की मृत्यु के दो वर्ष बाद इस देश के अङ्गरेजों की अनेक छोटी-छोटी कम्पनियाँ जो व्यापार करती थीं, एक होकर एक बड़ी कम्पनी, ईस्ट इण्डिया कम्पनी, के रूप में सुसङ्गठित हुईं अर्थात् कम्पनी के व्यापार और एकीकरण से उसकी शक्ति में वृद्धि होने लगी। दूसरे ही वर्ष (१७०८) में शाहू का राज्याभिषेक हुआ और आगे १० वर्षों के भीतर बालाजी विश्वनाथ ने दिल्ली से चौथ और सरदेश मुखी की सनदें प्राप्त करके बादशाही राज्य में मराठों का हाथ पहले पहले लगाया। इसी समय १७१० में अङ्गरेजों ने भी दिल्ली के बादशाह से बङ्गाल प्रान्त के ३६ नगर और व्यापार पर लगने वाले कर को माफ करा लिया। इस प्रकार एक तरफ मराठे और दूसरी ओर अङ्गरेजों का प्रभाव दिल्ली दरबार में शुरू हुआ। बाजीराव

प्रथम ने १७३६ में भोपाल पर चढ़ाई करके निज़ाम को पराजित किया और उससे दिल्लीश्वर की तरफ से मालवे की सनद प्राप्त की। चिमाजी अप्पा ने १७३८ में बसई लेकर अङ्गरेज़ों के प्रतिद्वन्द्वी पुर्तगालियों को निर्बल किया। सन् १७४१ में नाना साहब पेशवा ने मालवा की सनद प्राप्त कर ली। रघोजी भोंसले ने बङ्गाल पर हमला किया और सावनूर के नवाब की तरफ से २५ लाख रुपये में चौथ का प्रबन्ध किया। इस कालावधि में अङ्गरेज़ों और फ्रांसीसियों का युद्ध चल ही रहा था। जिस समय रघुनाथराव ने उत्तर भारत पर चढ़ाई की उस समय फ्रांसीसी पराजित हुए और अङ्गरेज़ों को विजय भी मिली। रघुनाथराव पेशवा और क्लाइव अपने पराक्रम और शक्ति से दक्षिण और उत्तर भारत में सफल रहे। सन् १७५७ ई० में दक्षिण में मराठों ने श्रीरङ्गपट्टन घेर लिया और ३२ लाख रुपया हर्जाने के रूप में लिया। उधर बङ्गाल में लार्ड क्लाइव ने प्लासी की लड़ाई जीतकर उस प्रान्त में अङ्गरेज़ी राज्य की जड़ को मज़बूत किया। सन् १७५८ में जिस वर्ष अटक पर झण्डा लगा उसी वर्ष फ्रांसीसियों को उत्तर राज्य का प्रान्त खो देना पड़ा और अङ्गरेज़ों की जीत हुई। सन् १७६० ई० में उदगीर की लड़ाई में मराठों ने निज़ाम को हराकर ६० लाख मूल्य का प्रान्त हस्तगत किया। उसी वर्ष अङ्गरेज़ों ने समूचे बङ्गाल को अपना ग्रास बनाया था। इस तरह कई वर्षों तक मराठों और अङ्गरेज़ों का यश बराबर बढ़ता गया। सन् १७६१ में पानीपत की लड़ाई में मराठों की हार हुई और इसी वर्ष इधर मद्रास की तरफ फ्रांसीसी सरदार लाली की हार से अङ्गरेज़ों ने पाण्डुचेरी नगर पर कब्ज़ा कर लिया।

फिर कुछ समय तक अङ्गरेज़ों और पेशवा के यश के समाचार बराबर रूप से मिलते रहे। सन् १७६३ में मराठों ने राक्षस भुवन का युद्ध जीतकर निज़ाम को बिलकुल पंगु बना डाला। इधर अङ्गरेज़ों ने फ्रांसीसियों का पूरे रूप से उन्मूलन कर दिया था। सन् १७६४ में माधवराव पेशवा ने हैदरअली पर विजय प्राप्त की, उधर बङ्गाल में लार्ड क्लाइव को बक्सर के युद्ध में सफलता मिली। सन् १७६५ के लगभग पेशवा ने उत्तरी भारत पर आक्रमण करके १८ लाख की जायदाद प्राप्त की, उधर लार्ड क्लाइव ने दिल्ली के बादशाह से बङ्गाल प्रान्त की दीवानी और उत्तर सरकार प्रान्त की सनद हस्तगत कर ली। सन् १७७१ में मराठों ने बादशाह शाहआलम को गद्दी पर बैठाकर दिल्ली में अपना पूरा अधिकार कर लिया। एक दृष्टि से तो सन् १७७३ का वर्ष तो बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसी वर्ष नारायणराव का वध हुआ और मराठों के राज्य में फूट का बीज उत्पन्न हो गया था। उसी वर्ष विलायत की पार्लियामेण्ट ने 'रेग्यूलेशन एक्ट' पास करके सारे हिन्दुस्तान की अलग अलग बटी सत्ता को एक ही गवर्नर जनरल के हाथ में कर दिया। बस इसी समय से मराठों की कमज़ोरी और अङ्गरेज़ों की शक्ति बढ़ने लगी। इसलिये मराठों के काम में अङ्गरेज़ लोग हस्तक्षेप करने लगे। दो ही वर्षों के बीच यह अन्तर स्पष्ट दीखने लगा, क्योंकि पुरन्दर की सन्धि के

अनुसार अङ्गरेजों ने राघोवा (रघुनाथराव) का पक्ष छोड़ दिया लेकिन उन लोगों ने साष्टी और वसई स्थान पर कब्जा कर लिया। सन् १७७६ में मराठों ने वडगाँव में अङ्गरेजों को पराजित किया और अङ्गरेजों को संधि में साष्टी लौटा देने का वचन दिया। अङ्गरेजों का पूर्ण अधःपतन करने की आवश्यकता को देखकर मराठे, निजाम और मैसूर—इन तीनों ने मिल कर यह काम करना आवश्यक समझा। परन्तु १७८१ में अङ्गरेजों ने उधर हैदरअली को पराजित कर और इधर मराठों से संधि करके अपने को सुरक्षित कर लिया। सन् १७८२ में हैदरअली की मृत्यु के कारण अङ्गरेजों की स्वच्छन्दता अधिक बढ़ गई। इस कारण सालबाई की संधि होने पर मराठों को साष्टी और वसई—इन दोनों को अङ्गरेजों को सदा के लिये देना पड़ा। इस पर भी उन लोगों ने अङ्गरेजों से क्या पाया? मराठों के शत्रुओं को सहायता न देने का वचन। अङ्गरेज इतने शक्तिशाली हो गये थे। सन् १७८४ से १७९९ तक टीपू दोनों का मुख्य दुश्मन होने के कारण अङ्गरेजों और मराठों में सहकारिता रही। बीच में महादजी सिंधिया ने सन् १७८६ में दिल्ली लेकर वहाँ के सब सूत्र अपने हाथ में सम्हाले और १७९१ में अङ्गरेजों ने मराठों के साथ टीपू का आधा राज्य छीन लिया। उसी वर्ष महादजी सिंधिया ने पेशवा को वकील मुतलकी के वस्त्र अर्पण करके दिल्ली में प्रस्थापित किये हुए वर्चस्व का अनुभव पूना में फड़नवीस को बतलाया। आगे चार वर्षों में खर्डा की लड़ाई से पेशवा का यश सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा, पर दूसरे ही वर्ष सवाई माधवराव की मृत्यु हो जाने के कारण मराठों के यश का अधःपतन होना शुरू हो गया। इधर लार्ड वानवालिस गवर्नर जनरल ने आकर अङ्गरेजी राज्य का प्रबंध सुचारु रूप से चलाना शुरू किया, पर सिंधिया और सवाई माधवराव की मृत्यु के कारण यहाँ नाना फड़नवीस निर्बल पड़ गये। बाजीराव को गद्दी पर बैठाने के सम्बन्ध में जो झगड़े शुरू हुए उनके कारण सिंधिया और होलकर से भयभीत होकर बाजीराव तथा फड़नवीस दोनों को अलग अलग अङ्गरेजों से मदद लेनी पड़ी। सन् १८०२ में जो वसई की सन्धि हुई, उसकी शर्तों के कारण बाजीराव अङ्गरेजों के हाथ का कठपुतला बन गये। इसके बाद अङ्गरेजों को मराठों के सिवा और कोई शत्रु न दिखा और उन्होंने सन् १८०१-३ में सिंधिया को, १८०४ में होलकर को और सन् १८१७-१८ में पेशवा को विजित कर पेशवाई का अन्त कर दिया।

———

सातवाँ अध्याय

मराठाशाही का अन्त कैसे हुआ ?

ब्राह्मणों का उत्तरदायित्व

मराठाशाही को खत्म करने का दोष दूसरे बाजीराव पर लगाया जा सकता है और इसमें सन्देह नहीं कि वे इस दोष के भागी पूर्ण रूप से थे, पर नाना और बाजीराव को छोड़कर ऐसा अन्य कोई पुरुष हुआ है या नहीं यह बात ध्यान में रखने योग्य है। सवाई माधवराव छोटी ही अवस्था में स्वर्गवासी हुए और यद्यपि राज्य का काम काज उन्हीं के नाम से चलता था पर उसे सञ्चालित करने थे नाना फड़नवीस ही, अतएव राज्य रक्षा की दृष्टि से सवाई माधवराव के प्रबन्ध में कोई दोष लगाने के कारण नहीं दीखते। रघुनाथराव था तो स्त्रैण, पर तलवार का धनी था और इस दृष्टि से वह राज्य-रक्षा के कार्य में ठीक ही था। इस पर से इतना तो कह ही सकते हैं कि सन् १७१४ से १७९६ तक मराठा राज्य उन्नति पर था और खर्डा की लड़ाई तक मराठा राज्यश्री की जो स्थिति थी वह यदि वैसा ही बनी रहती तो मराठा राज्य डूबने का कोई कारण न था। मराठा के राज्य में ब्राह्मण पेशवा जैसे हुए और जैसे मराठो ने उनको आगे बढ़ाया वैसे ही ब्राह्मण पेशवो के शासन काल मे उन ब्राह्मण पेशवा ने सिंधिया, होलकर, गायकवाड़ जैसे मराठे सरदारों को प्रभावशाली बना दिया। लेकिन ऐसा भी नहीं कह सकते कि मराठा राज्य के स्थिर रखने का उत्तरदायित्व केवल ब्राह्मण पेशवो पर ही था। वह जितने अंश तक पेशवे, रास्ते, पटवर्धन ब्राह्मण सरदारो पर था उतना ही सतारा के महाराज सिंधिया गायकवाड़ होलकर आदि मराठे सरदारो पर भी था। सतारा के दरबार में पेशवा का जो बड़ा मान था, वह माधवराव पेशवा के समय तक उनके कार्य-कौशल के कारण उचित ही था। अब इस बात का निश्चय कर लेना है कि सतारा की गद्दी का अभिमान सिंधिया, होलकर, गायकवाड़ आदि ब्राह्मण सरदारो को था या नहीं। इन दो बातो में से किसी एक के विषय में निश्चय होना ही चाहिये। यदि कहा जाय कि नहीं था तो पेशवा के ऊपर दोषारोपण नहीं हो सकता, और यदि था तो किसकी आज्ञा से वे पेशवा को एक तरफ करके सतारा के महाराज को आगे न करें ?

मराठों का उत्तरदायित्व

सतारा की गद्दी के प्रति सिंधिया होलकर गायकवाड़ में जो अभिमान था इसका प्रमाण अप्राप्य है। सिंधिया और होलकर ने जो देश अधिकृत किया वह उत्तर

में किया। वे स्वतन्त्र रहकर राज्य स्थापना के प्रयत्न में रहें। सिंधिया ने तो सालबाई की संधि के समय अपने को पूर्णतया स्वतन्त्र प्रकट कर पेशवा या सतारा के महाराज का भी ख्याल नहीं किया। इस बात पर कोई यह भरता है कि सिंधिया, होलकर और गायकवाड़ के घराने के मूल पुरुष पेशवा के ही आश्रय में उन्नतिशील हुए, अतः वे पेशवा को ही अपना स्वामी समझते थे। दूसरी दृष्टि से यह कहना भी ठीक है, क्योंकि सिंधिया घराने के मूल पुरुष राणोजी सिन्धिया ने बाजीराव के जूते हृदय पर रखकर अपने विश्वास की परीक्षा दी और सरदारी प्राप्त की इसी तरह से इनके पुत्र महादजी यद्यपि उत्तर भारत में देश विजय कर कीर्ति प्राप्त की थी, तो भी वह पेशवा की चरण पादुकाओं को नहीं भूला और जिन हाथों से सुवाई माधवराव के समय में दिल्ली के बादशाह से वकील की पदवी और वस्त्र लाकर पेशवाओं को अर्पण किये और पेशवा के ऐश्वर्य में वृद्धि की, उन्हीं हाथों से उन्होंने माधवराव के उपानह उठाये। ग्रांटडफ कहते हैं कि—"सिंधिया राज्य के भूषणों में पेशवा के उपानह रक्खे गये थे, परन्तु जिस ईमानदारी से महादजी सिंधिया ने व्यवहार किया उतनी ईमानदारी दौलतराव सिंधिया ने कितने दिन व्यवहार किया ?" यदि सिंधिया और होलकर को यह अधिकार प्राप्त था कि वे अपने स्वामी दूसरे बाजीराव पेशवा को केवल नादान होने के कारण प्रतिबन्ध में रक्खें तो फिर इसी कारण से पेशवा अपने स्वामी को क्यों नहीं प्रतिबन्ध में रख सकते थे ? सतारा महाराज छत्रपति शिवाजी के वंशज थे। इस कारण से ही विचार किया जाय तो सिंधिया ने कोल्हापुर के विरुद्ध चढ़ाई क्या की ? वे भी तो शिवाजी के ही वंशज थे। सारांश यह कि किसी भी दृष्टि से देखा जाय तो मराठे और पेशवा दोनों ही, समान दोषी या निर्दोषी दिखलाई पड़ते हैं। अन्त में सिंधिया और होलकर ने जो संधि अंगरेजों से की थी उसमें भी तो यह कहीं नहीं दिखलाई पड़ता कि उन्होंने सतारा की गद्दी की अथवा शिवाजी के वंश ही की याद रखी हो। अधिक क्या पेशवाई नष्ट होने पर अङ्गरेजों ने छोटा ही क्यों न हो पर जो स्वतन्त्र राज्य दिया था वह भी तो वे न टिका सके ? पेशवाई नष्ट होने के केवल १० ही वर्ष बाद यह राज्य नष्ट हुआ या नहीं ? यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि अङ्गरेज तो सभी कुछ डुबाना चाहते थे, तो फिर यह पूछा जा सकता है कि कोल्हापुर, ग्वालियर और होलकर के राज्य क्यों रह गये ? इसलिए इन सब बातों पर विचार करने के बाद यही निष्कर्ष निकलता है कि मराठाशाही डूबने में एक अमुक व्यक्ति ही कारणीभूत था अथवा अमुक एक पुरुष या एक जाति कारणीभूत था यह नहीं कहा जा सकता। इसलिए यही कहा जा सकता है कि उस समय अङ्गरेजी सत्ता का जो दौर दौरा आया उसमें मराठी राज्य बह गया और उसमें जिस तरह सब वृक्ष उखड़कर बह नहीं जाते कुछ बने भी रहते हैं उसी प्रकार ऊपर बतलाये अनुसार कुछ मराठी राज्य अभी तक बने रह गये हैं।

जिस तरह मराठाशाही नष्ट करने का आरोप ब्राह्मणों पर करने वाले कुछ व्यक्ति मिलते हैं उसी प्रकार पेशवाई के अंत में अङ्गरेजों से मिलकर अपना छुटकारा कराने वाले सतारा के महाराज पर पेशवाई डुबाने का दोषारोपण करने वाले भी कुछ व्यक्ति हैं। सतारा के महाराज स्वामी थे और पेशवा उनका सेवक था, यह जानकर सतारा नरेश को पेशवा का कैद करना तो अनुचित कहा जा सकता है, परन्तु अपने नौकर के विरुद्ध और यह भी स्वयं के छुटकारे के लिए अङ्गरेजों से सहायता माँगने में सतारा महाराज पर बेईमानी का लाञ्छन किस प्रकार लगाया जा सकता है यह समझ में नहीं आता।

क्या व्यापारिक नीति में भूल की गई ?

अंगरेज लोग यहाँ व्यापारी बनकर आये और उन्होंने धीरे धीरे यहाँ राज्य स्थापित किया। इस बात को ध्यान में रखकर कोई यह प्रश्न कर सकता है कि—"क्या मराठों से यह भूल नहीं हुई कि उन्होंने अंगरेजों को व्यापार करने की आज्ञा दी।" परन्तु हमारी समझ में यह प्रश्न ही उचित नहीं है। प्रायः आज के विचार को गत काल पर लगाने की भूल मनुष्य सदा करते हैं। यही बात इस प्रश्न के सम्बन्ध में भी है। आज यह भले ही दिखाई दे कि यह भूल की गई है, परन्तु उस समय जब कि अंगरेज पहले पहल भारत में व्यापार करने को आये थे, यह मालूम होने का कोई कारण नहीं था कि ये लोग हमारे देश में न आवें तो अच्छा हो। उस समय मराठों को यह दुःस्वप्न नहीं हुआ था कि ये लोग हमारा राज्य लेकर हमारा सर्वनाश करेंगे, क्योंकि उस समय उनके पहले के इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं था कि किसी ने तराजू हाथ में लेकर फिर तख्त लिया हो। वैश्य वृत्ति और क्षात्रवृत्ति भी भिन्न भिन्न बातें हैं। एक वृत्ति को छोड़कर दूसरी वृत्ति ग्रहण करना वृत्ति सङ्करता है और यह वर्णसङ्करता के समान ही पाप का कारण है। चातुर्वर्ण्य पर विश्वास रखने वाले हिन्दुओं को उस समय यदि यह विश्वास हुआ होता कि यह पाप कोई भी चाहे वह विदेशी क्यों न हो, नहीं कर सकता तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। महाराष्ट्र ही में मारवाड़ी आदि व्यापारी वृत्ति के अनेक लोग देशान्तर से आये थे। परन्तु उनमें से किसी ने भी राज्य आकांक्षा की हो, इस बात का अनुभव मराठों को नहीं था। यद्यपि मुगल प्रभृति मुसलमानों ने आकर भारत में राज्य स्थापन किया था तथापि वे विजयी होने के नाते से आये थे व्यापारी बनकर नहीं। इसलिये मालूम होता है कि उस समय के मराठों का यही विश्वास था कि राज करने और व्यापार करने वालों की जाति भिन्न भिन्न है और उनका परिवर्तन नहीं हो सकता। इस कारण से यह नहीं कहा जा सकता कि मराठों ने भूल की।

जब कि स्वयं अंगरेजों को ही यह नहीं मालूम हो सका कि उनमें हाथ से तराजू कब और क्यों छूटा और उसका स्थान तलवार ने कब लिया तो ये सब

बातें स्वप्न की तरह सोत सोत हो गई। फिर टोपी वालो को पहले पहल देखते ही मराठा को यह कैसे मालूम हो सकता था कि ये भविष्य मे हमारा राज्य लेंगे, अत उन्हे राज्य म नहीं आने देना चाहिए प्रत्युत उनका आना उस समय लाभदायक नहीं प्रतीत हुआ होगा। स्वदेशी का मन्त्र आपत्ति विपत्ति के समय मे ही ध्यान म आता है। अच्छी हालत म उसका स्मरण नही होता, जब मूर्तिमान भूत आखा के सामने उपस्थित होता है, तभी भगवान याद आता है। भारतवासियो को बग विच्छेद के समय स्वदेशी का स्मरण हुआ और अगरेजो को वर्तमान महायुद्ध के कारण उसकी याद आई। अगरेज जब भारत म आए तब भारतवासी अच्छी दशा म थे। अत आज की स्वदेशी की आवश्यकता उन्हे उस समय कैसे मालूम हो सकती थी? मनुष्य प्राणी स्वाभावत विलासप्रिय होता है। यदि साम्पत्तिक स्थिति ठीक हो तो विलास बुद्धि आप ही आप उत्पन्न हो जाता है। इसके सिवा ऐसा कोई देश नही है जिस सर्व प्रकार की कला कुशलता और कारीगरी का ठेका परमेश्वर ने न दे रखा हो। इसलिए मनुष्य अपना विलासिता के पदार्थ जहा से मिलते हैं वहा स खरीदता है। उनके बिना विलासेच्छा पूरी नही होती। भारत मे पहल पहल अगरेज व्यापारी ही नही आए थे। उनके पहले मुसलमान, डच, पोर्तुगीज आदि विदेशी लोग भी व्यापार के लिए यहा आ चुके थे। विदेशी वस्तुए खरीदने की परिपाटी यह अच्छी तरह प्रचलित थी तथा मराठे अकेले ही उस समय सर्वसत्ताधारी नही थे। उनका राज्य पहले ही से थोडा था। उनके अधिकार म समुद्र किनारे की केवल एक ही पट्टी थी और उस पट्टी म अगरेजो का व्यापार भी थोडा था। उनका व्यापार प्राय उसी प्रदेश म बहुत था जिसम मराठो का अधिकार नही था और वहा वे इतने बलवान बन गए थे कि यदि मराठे उन्हें अपने राज्य म नही भी आने देते तो भी वे अपना बोरिया बधना बाधकर भारत से चले नही जाते। साराश यह कि उस समय अगरेजो के व्यापार म रुकावट डालकर उनका अपने राज्य मे प्रारम्भ से ही बहिष्कार करना स्वाभाविक रीति स असभव था।

किन्तु यही कहना उचित है कि उस समय मराठों को यही स्वाभाविक दिखा होगा कि अगरेजो के व्यापार म रुकावट डालने की अपेक्षा उन्हे उत्तेजना और सुभीते देकर राज्य म बुलाया जाय और स्वाभाविक बुद्धि का अर्थ शास्त्र यही शिक्षा देता है कि व्यापारी को अपने आश्रय में रखा जाय और उसके लाभ से अपना लाभ उठाया जाय। किसी भी राष्ट्र के इतिहास म यह उदाहरण नही मिलता कि उसने अपने आप आए हुए व्यापारी को आश्रय न दिया हो। अपने कारीगरो को आश्रय देना और विदेशी व्यापारियो का बहिष्कार करना भिन्न भिन्न बातें हैं। इसलिये, स्वदेशी कारीगरो की चीजो का फैलाव करने के लिए विदेशी व्यापारियो की सहायता आवश्यक हुआ करती है। अपनी कारीगरी के माल का मूल्य विदेशो से ही अधिक

आ सकता है, क्योंकि उनकी अयूषता नहीं प्रकट होती है। उसी तरह आयात माल से चुंगी की आमदनी भी बहुत होती है। सुलमय अवस्था में उस आमदनी का कौन छोड़ना चाहता है? इसी नियम के अनुसार उस समय भारत में विदेशी व्यापारियों की चाह थी, क्योंकि उनके द्वारा करोड़ों रुपया का माल विदेशों में जाता था और उसके बदले में मूल्यवान सोना चाँदी यहाँ आती थी। इसके सिवा विलासिता की भी अनेक वस्तुएं जो यहाँ नहीं होती थी उनके द्वारा विदेशों से यहाँ आती थी। इस प्रकार दुहरा लाभ होता था। भला इस लाभ को कौन छोड़ेगा? हमारे पूर्वजों को यदि कोई हस्त रेखा के समान यह भविष्य चित्र बतला देता कि ये व्यापारी भविष्य में अपनी स्वतन्त्रता और राज्य छीन लेंगे स्वयं सत्ताधीश बन बैठेंगे तो शायद वे ऐसा भी करते, परन्तु जब उन्हें यह भविष्य चित्र नहीं दिखा तब उन पर यह दोषारोपण भी नहीं किया जा सकता कि उन्होंने विदेशी व्यापारियों को देश में क्यों घुसने दिया। "यह विचार कर मकान न बनवाना कि उसमें आगे कभी चूहे बिल कर लेंगे" के समान ही यह दोषारोपण है और चूहे का घर में बिल करना तो बहुत स्वाभाविक है, परन्तु अंगरेजों के राज्य ले लेने की उस समय कल्पना होना इतनी स्वाभाविक नहीं हो सकती थी। यह तो केवल दैवगति का विचित्र परिवर्तन है, मराठों की व्यावहारिक नीति की भूल नहीं।

अङ्गरेजों की सहायता

जिस प्रकार कई लोगों का यह ख्याल है कि मराठों ने अंगरेजों को व्यापार करने की आज्ञा देकर बहुत बड़ी भूल की, उसी प्रकार कुछ लोगों का यह भी ख्याल है कि मराठों ने अंगरेजों की सहायता लेकर अपने राज काज में जो उन्हें हाथ डालने दिया, यह उन्होंने बहुत बड़ी भूल की। पहली भूल भूल नहीं थी यह हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं। पर दूसरी भूल के लिए यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसे भूल समझने में सत्य का बहुत अंश है। तो भी यह एक प्रश्न ही है कि उस स्थिति में अंगरेजों की सहायता के बिना मराठों का काम चल सकता था या नहीं। अपने झगड़े में दूसरों को न घुसने देने की भावना स्वाभिमान बुद्धि की है और अंत में इससे हित ही होता है। स्वावलम्बन सदा सुख का साधन हुआ करता है, परन्तु बदला लेने के लिए शत्रु का प्रतिकार करने की तथा स्वहितार्थ स्वार्थपूर्ण बुद्धि उत्पन्न होने पर सम्पन्न मनुष्य भी जो साधन हाथ में आवे उसका उपयोग करने से नहीं चूकता, तो जो मनुष्य संकट में फंसा हो और आत्म रक्षा करना चाहता हो, वह यदि उन साधनों का उपयोग करे तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? अंगरेज लोग अपने इस बाने को कि गोरे लोगों के परस्पर के युद्ध में काले लोगों की सहायता नहीं लेना, बोअर युद्ध तक निभा सके, परन्तु पिछले यूरोप के महायुद्ध में प्राण संकट उपस्थित होने पर उन्हें

अपने इस बाने को खूंटी पर टाग देना पडा। अब तो वे निग्रो से भी दस गुने अधिक काले को, यदि वह कधे पर बन्दूक रख सकता है, तो अपना सहायक बनाने को तैयार है। यह प्रसिद्ध है कि इस युद्ध म फ्राम वालो ने मारोक्न लोगो की और अगरेजों ने भारतवासियो की सहायता यूरोपियनो के विरुद्ध ली। उनका वह बाना सकट के कारण नष्ट हो गया।

परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि मराठो ने जो अङ्गरेजो की सहायता ली वह सकट के कारण नही, किन्तु द्वेष बुद्धि अथवा स्वार्थ बुद्धि के कारण ली थी। अङ्गरेजो का हाथ मराठो राज्य काय म प्रवेश कर देने का दोष प्राय रघुनाथराव पर रखा जाता है, किन्तु यह भूल है। हमारी समझ से यह दोष नाना साहब पेशवा को देना उचित है। रघुनाथराव ने राज्य के लिए यह किया, पर नाना साहब पेशवा ने तो अपने एक विरोधी सरदार का पतन करने के लिए अङ्गरेजो की सहायता ली। नाना साहब यह अच्छी तरह जानते थ कि अगरेज हमार भावी प्रतिस्पर्धी हैं और यह भी जानते थे कि आग्रे के पतन से कोकन किनारे पर अगरेजो का एक शत्रु कम हो जायगा, तो भी वे आग्रे का पतन करने की अपनी इच्छा को न दबा सके और उसके लिए उन्होंने अगरेजो से सहायता ली। रघुनाथ राव ने तो सन् १७७४ म सूरत की सधि स अगरेजो को अपने घर म घुसने दिया परन्तु नाना साहब पेशवा न यही काम उसके बीस वर्ष पहले ही अर्थात् १७५५ म बम्बई की सधि कर के किया है। सभव है कि सामान्य पाठको को इस सधि का स्मरण न हो। इस सधि मे यह शर्त हुई थी कि आग्रे का पतन करने म अगरेज पेशवा को सहायता दें और इसक पुरस्कार मे अगरेजो को सम्पूर्ण किनारे का अधिकार, बाणकोट और हिम्मतगढ तथा इनके समीप के पाच गाँव मिले। इस सधि के अनुसार अगरेजो ने विजय दुर्ग का किला लिया और आग्रे का जहाजी बेडा जला दिया। इसके सिवा व किले के भीतर स दस लाख रुपयो का माल लूटकर स्वय ही हजम कर गये। सधि के विरुद्ध पहले-पहल उस किले को अङ्गरेजो ने अपने ही अधिकार म रखा। आग्रे का पतन होने के पहले अङ्गरेजो का बम्बई के दक्षिण की ओर प्रवेश नही था, परन्तु आग्रे का भय दूर हो जाने स अङ्गरेज स्वच्छन्द होकर सञ्चार करने लगे। कहिये इसम नाना साहब ने कौन सा स्वाभिमान और कितनी दूरदर्शिता तथा स्वावलम्बन दिखलाया? भले हो तुलाजी आग्रे तारा बाई के पक्ष का रहा हो, परन्तु अङ्गरेजो की अपेक्षा तो वह नजदीक का ही था। आग्रे, शिवा जी के समय स मराठी फौजी जहाजी बेड़े का अधिपति था और लगभग १०० वर्षो तक, आग्रे घराने ने, मराठी फौजी जहाजी बेडे का नाम ऊंचा बना रखा था। ताराबाई का पक्ष ग्रहण करने के कारण, सम्भव है कि वह पेशवा के मन मे कांटा सा चुभता रहा हो, परन्तु उसने अपने पक्ष के लिए अङ्गरेजो से सहायता नही ली, प्रत्युत वह भी पेशवा के समान अङ्गरेजो स लड़ता ही रहा। इसके सिवा, इस

घटना के भी पहले पेशवा ने हबशिया के विरुद्ध भी अङ्गरेजों की सहायता मांगी थी, परन्तु उन्होंने नहीं दी। यद्यपि हबशी मराठा नहीं थे तो भी अङ्गरेजों की अपेक्षा वे भारतीयों से अधिक निकट सम्बन्धी थे। आज हम लोग चाहते हैं कि हमारी उक्त भावना उस समय होनी चाहिये थी, परन्तु मालूम होता है कि उस समय अपने पराये को पहिचानने की बुद्धि आज के समान नहीं थी।

स्वकीयों के विरुद्ध अङ्गरेजों की सहायता लेना यदि अपराध माना जाय, तो यह अपराध करने में त्रुटि किसी ने भी नहीं की है, क्योंकि जब से यह मालूम हुआ कि अङ्गरेज सहायता देने में समर्थ हैं तब से स्वकीयों के विरुद्ध सहायता लेने की रीति का पालन प्रायः सबों ने किया है। अनाबाग के आङ्ग्रे भले ही बदनाम हो गये हों, पर वे व मराठा ही, फिर, उनके विरुद्ध नाना साहब पेशवा ने अङ्गरेजों की सहायता क्यों ली? यदि अङ्गरेजों से सहायता लेने के कारण रघुनाथराव का नाम रखा जाय तो फिर टीपू और सिंधिया के विरुद्ध नाना फड़नवीस ने अङ्गरेजों से जो सहायता ली उसके लिये नाना का नाम क्यों न रखा जाना चाहिए? जिस अर्थ में अङ्गरेज परकीय कहे जा सकते हैं उस अर्थ में टीपू भी परकीय हो सकता है, परन्तु क्या वह स्वदेशी नहीं था? भारतवर्ष में स्वकीयों के विरुद्ध यदि किसी ने सहायता नहीं ली है तो वे केवल अङ्गरेज ही हैं। भारत की सब जाति के अर्थात् ब्राह्मण, मराठे राजपूत, राजा रजवाड़े आदि सब लोगों ने एक दूसरे के विरुद्ध लड़ने में, गृह कलह मिटाने में, अङ्गरेजों की सहायता और मध्यस्थता के लिये याचना की, परन्तु अङ्गरेजों ने यह बात दिखला दी कि भारत में सब अङ्गरेज एक हैं, उनमें न तो पक्ष भेद है और न तो हित विरोध है। हिन्दुस्तान के तीनों सूबों में बसने वाले अङ्गरेज एक ही आशा के बड़े पाबन्द हैं। उक्त तीनों के सब प्रयत्न, एक ही व्यक्ति के विचारे हुए प्रयत्न के समान एक ही पद्धति से होते हैं। वे अपने अधिकारी की आज्ञा कभी अमान्य नहीं करते। उनमें यदि स्पर्धा भी हो, तो वह भी कम्पनी का अधिकाधिक हित जिस बात से हो उसी की ओर दृष्टि रख कर होता है।

अङ्गरेजों की स्थिति भी उस समय इस प्रकार की थी कि यहां के राजा महाराजा उनसे ही सहायता लें, किसी एतद्देशीय राजा की सहायता अपने आपसी झगड़े में न लें। अङ्गरेजों की सहायता लेने के दो कारण थे, एक तो मराठों के परस्पर के झगड़े, दूसरे अङ्गरेजों की कवायदी फौज और युद्ध सामग्री। अङ्गरेजों की ओर देखा जाय तो पहले तो उनमें परस्पर कोई झगड़े ही नहीं हुए और हुए भी हैं तो यह निर्विवाद है कि उन झगड़ों को मिटाने के लिए उन्होंने कभी भारतवासियों की सहायता नहीं ली। दिल्ली के बादशाह के सूबेदार जिस प्रकार स्वतन्त्र रूप से राजा और नवाब बन गये उसी प्रकार हेस्टिंग्ज भी बन सकता था। दिल्ली से २०० मील की दूरी के लोगों ने जब स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी तो कम्पनी का मुख्य काम काज ठहरा छः हजार मील

की दूरी पर । भला, उसका महत्वाकांक्षी नौकर यदि चाहता तो भारत में क्यों न स्वयं ही राज्य प्राप्त कर लेता ? छः हजार मील की दूरी पर से उसका पराजय होना कितना कठिन था यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है । वहाँ से कितनी गोरी फौज आ सकती थी ? और किस प्रकार यहाँ के सैन्य समुदाय की टक्कर झेल सकती थी ? अङ्गरेजों का यहाँ मुख्य आधार यहाँ की ही सेना पर था । विलायत से तो बहुत थोड़ी सेना आती था । यदि कोई गोरा विद्रोही यहाँ के राजे रजवाड़ों से सहायता माँगता तो उसे वह सहायता अवश्य मिल गई होती । परन्तु कोई गोरा विद्रोह करने को तैयार नहीं । यद्यपि बुद्धि और तलवार के बल कितने ही अङ्गरेज और फ्रेन्च लोगों ने व्यक्तिश लाखों रुपयों की सम्पत्ति प्राप्त की, कितनों ही ने निज की जागीरें हस्तगत की और कितने ही हिन्दू अथवा मुसलमान राजाओं के आश्रय में सेनापति अथवा दीवान बनकर रहे, परन्तु यूरोप की कम्पनियों के विरुद्ध किसी यूरोपियन ने न तो विद्रोह किया, न कोई फूटकर शत्रु से ही मिला और न किसी ने और जाति भाइयों के विरुद्ध किसी भारतीय की सहायता ही ली । यह बात नहीं है कि यहाँ के प्रवासी अङ्गरेजों में परस्पर बैर नहीं था । वारन हेस्टिंग्ज का समय अपनी कौंसिल के सभासदों से झगड़ा करने में ही व्यतीत हुआ, परन्तु उसने अपने प्रतिस्पर्धियों को गिराने के लिये भारतीय सेना की सहायता कभी नहीं ली । यही ढङ्ग फ्रेन्चों का भी था । डूप्ले प्रभृति अनेक फ्रेन्च नीतिज्ञों का परस्पर झगड़ा होता था परन्तु ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जिसमें उन्होंने उसके मिटाने में भारतीयों की सहायता ली हो । अङ्गरेज और फ्रेंचों ने युद्ध करते समय भारतवासियों की सहायता ली थी, परन्तु अङ्गरेजों ने अङ्गरेजों के विरुद्ध या फ्रेन्चों के विरुद्ध कभी भारतीयों की सहायता नहीं ली । इतना ही नहीं भारतीय राजा-महाराजाओं की नौकरी करने के पहले यूरोपियनों की यह शर्त हुआ करती थी कि अपने भाइयों से हम नहीं लड़ेंगे । कहा जाता है कि जब होलकर के आश्रित यूरोपियन, अपने भाइयों से नहीं लड़े तब उन्हें तोप से उड़वा दिया था । बाजीराव पेशवा द्वितीय के आश्रय में कप्तान फोर्ड नामक अङ्गरेज था । परन्तु १८१७ के युद्ध में उसने अपने भाइयों से लड़ना अस्वीकार कर दिया था । अब इसका विचार पाठक ही करें कि हम इन गोरों को नमकहराम कहें या स्वदेशाभिमानी । हमारी समझ से वे सर्वथा नमकहराम नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे नौकरी करते थे । यद्यपि उनके भाइयों के विरुद्ध लड़ने के काम में उनका उपयोग नहीं हो सकता था तो भी कवायदी फौज तैयार करने के काम में उनका उपयोग पूरा हो सकता था, और इतना ही बस समझा जाता था । अङ्गरेज और फ्रेन्च परस्पर में लड़े, परन्तु स्वदेशियों के विरुद्ध कभी नहीं लड़े । इससे यही सार निकलता है कि वे धर्मनिष्ठ होने की अपेक्षा स्वदेश भक्त अधिक थे । वे इसाई धर्म के अभिमानी होने की अपेक्षा देशाभिमानी अधिक थे और वे स्वदेश परदेश पर से

ही स्वकीय और परकीय अपने और पराये की कल्पना करते थे। मालूम होता है कि आपस में झगड़ा कर तीसरे का फायदा न करने की उनकी यह बुद्धि विदेश में ही अधिक जागृत हुई होगी।

यदि भारतवासी भी इसी तरह विदेशों में गये होते तो उनमें भी कदाचित यही बुद्धि उत्पन्न हुई होती, परन्तु उनके निज के देश में तो यह बुद्धि जागृत न हो सकी। सभी उनकी स्वतन्त्रता का नाश आपस के झगड़े और उसमें विदेशियों से सहायता लेने से हुआ है। इस सम्बन्ध में तो उस समय के एक भी भारतीय राजनीतिज्ञ में दूरदर्शिता का सद्भाव नहीं दिखलाई देता। बड़े बाजीराव और नाना साहब पेशवा ने आंग्रे के विरुद्ध अङ्गरेजों की सहायता ली। रघुनाथराव ने नाना फड़नवीस के विरुद्ध ली। नाना फड़नवीस ने हुलकर के विरुद्ध ली। बाजीराव (दूसरे) ने सिंधिया के विरुद्ध ली और (नागपुर के) भोंसले ने पेशवा के विरुद्ध ली। इस प्रकार सबों ने अपने अपने भाइयों के विरुद्ध सहायता ली। दिल्ली, बंगाल, अवध, हैदराबाद और कर्नाटक में जो राजनीतिक उथल पुथल हुई हैं, वे सब अंगरेज अथवा फ्रेंचों की सहायता ही से हुई हैं। यदि युद्धों में किसी ने अंगरेजों की सहायता नहीं ली तो वे सिंधिया, होलकर और विशेषतया हैदरअली तथा टीपू थे। परन्तु टीपू ने अंगरेजों की सहायता नहीं ली तो फ्रेंचों की ली, ली अवश्य चाहे किसी की भी ली हो। अब इन सब बातों पर से इतने राजनीतिज्ञों को अदूरदर्शी कहने की अपेक्षा यही क्यों न कहा जाय कि उस समय की परिस्थिति ही ऐसी थी कि बिना सहायता लिये काम ही नहीं चल सकता था। राज काज में सबों को सहायता लेनी ही पड़ती है। स्वयं अंगरेजों ने टीपू के विरुद्ध मराठे और निजाम की सहायता ली थी। परन्तु मराठों का अपराध इतना ही है कि वे सहायता की आवश्यकता नष्ट हो जाने पर विदेशियों को अलग नहीं कर सके। यदि स्वतः के पैरों में शक्ति हो तो दूसरे की सहायता अधिक बाधक नहीं होती, परन्तु जिनका सब आधार दूसरों पर होता है उन्हें वे दूसरे यदि सर्वथा पढ़ेन जाय तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? इसके लिये मराठों का आंग्रे के विरुद्ध अंगरेजों की सहायता लेने और अंगरेजों का टीपू के विरुद्ध मराठों की सहायता लेने का उदाहरण दिया जा सकता है। दोनों के पैरों में ताकत थी, अतः काम होते ही दोनों अलग हो गये और किसी ने किसी की स्वतन्त्रता नष्ट नहीं की। अप्रत्यक्ष में परिणाम कुछ भी हुआ हो, परन्तु प्रत्यक्ष में किसी की कुछ हानि नहीं हुई। ठीक इसके विरुद्ध रघुनाथराव, बाजीराव (दूसरा) निजाम और कर्नाटक के नवाब का उदाहरण उपस्थित किया जा सकता है। इन सबों ने सहायता लेने के लिए यवन आदि को इतना जकड़ लिया कि कार्य समाप्त हो जाने पर वे सहायक को फटकार कर दूर न कर सके। घोड़े ने अपने शत्रु के नाश के लिए मनुष्य को पीठ पर बैठा लिया, परन्तु शत्रु का नाश हो जाने पर वह मनुष्य को पीठ पर से न हटा सका। यह

एक ईसप नीति की कथा का रहस्य है और यह हिन्दुस्तान के हिन्दू या मुसलमान राजा महाराजा और अगरेजो के पारस्परिक सम्बन्ध के पद पद पर घटित होता है।

नाश के वास्तविक कारण

यह नही कहा जा सकता कि अगरेजो को अपने राज्य मे व्यापार करने की आज्ञा देने से और अवसर पड़ने पर उनकी सहायता लेने से मराठा का राज्य नष्ट हुआ। क्योकि इन दो बातो के करने पर भी राज्य की रक्षा हो सकती थी। हमारी समझ से तो राज्य नष्ट होने के वास्तविक कारण दो हैं। पहला कारण है मराठो मे दूसरे लोगो से प्रेम, परन्तु आपस म विरोध भाव तथा राष्ट्राभिमान का अभाव। दूसरा कारण है शिक्षित सेना और सुधारी हुई युद्ध सामग्री का न होना। पहले कारण के सम्बन्ध म तो इतना कह देना काफी है कि रघुनाथराव और गायकवाड के घरलू झगड़ो म अगरेजो का प्रवेश होने पर भी मराठे यदि कुछ समझते और एकता रखते तो भी अगरेजो का कुछ भी जोर न चलता, परन्तु यह कहना अनुचित नही होगा कि मराठों को मिलकर और एक दिल स काम करने का अभ्यास ही नही था। एक भी मराठा सरदार एसा नही है जो अगरेजो से न लड़ा हो, परन्तु सब मिलकर नही लडे, यहां तक कि दो-दो तीन-तीन सरदार भी मिलकर नही लडे। इसी बात स अगरेजो का सबसे अधिक लाभ हुआ। जब रघुनाथराव के कलह काल मे पेशवा, सिंधिया और होलकर ने मिलकर युद्ध किया तब उनके सामने अगरेजो का कुछ बस न चला और बड़गाँव म मराठो की शरण आकर उन्हे अपमान-पूर्ण संधि करने के लिए बाध्य होना पड़ा। फिर जब इस सन्धि को अपमान-पूर्ण कहकर उन्होने तोड़ा और युद्ध छेड़ा तब फिर भी उन्हे मराठो के आगे हारना पडा, क्योकि उस समय भी मराठे सरदारो ने मिलकर युद्ध किया था तथा अगरेजो को अपनी यह बात कि 'अगरेजो की शरण आने वाले व्यक्तियो को अगरेज अभय देते है' छोडनी पडी और रघुनाथराव को नाना फड़नवीस के सुपुर्द करना पडा। इसी प्रकार जिस निजाम की मराठो स रक्षा करने का बीड़ा अगरेजो ने उठाया था और जिसकी सहायता से अगरेज लोग टीपू को पराजित कर सके उसी निजाम पर मराठो ने जब सन् १७९६ म चढ़ाई की तब अगरेजो को तटस्थ रहना पडा। क्योकि उस समय भी सब मराठे सरदार एक थ। उनम फूट नही हुई थी। फिर जब बाजीराव को गद्दी देने का प्रश्न खड़ा हुआ तब सिंधिया और होलकर यदि एकता रखते तो बाजीराव, अगरेजो के पास जाने का साहस नहीं करता। ये दोनो जिसके लिए कहते उस ही गद्दी दी जाती, क्योकि इनके पास सैनिक शक्ति थी और नाना फड़नवीस के पास केवल चातुर्य था। यदि पदच्युत करने पर बाजीराव अगरेजो के पास गया होता तो बसइ की संधि भी ही। रघुनाथराव का पक्ष करने का परिणाम अगरेज भूले नही थ। इसलिए पहले तो व बाजीराव का पक्ष ही न लेते और

लेते भी तो सिंधिया और होलकर के आगे उनकी एक न चलती, परन्तु यह नही हुआ और बाजीराव अगरेजो की शरण म गया तथा उसने बसई म सधि की । इस सधि की शर्तो पर, सिंधिया और होलकर दोनो अप्रसन्न थे । उनके हाथ के पेशवा को अगरेजो की शरण म जाते देख उन्हें बहुत क्रोध आया था और वे बसई की सधि को तोड़कर पेशवा को फिर मराठो के आश्रय म रखना चाहते थे । उनके दूसरे झगडे अगरेजो से चाहे कुछ भी हो, परन्तु यह निश्चित है कि इस विषय म दोनो एक थे । पर दोनो ही अगरेजो से मिलकर लड़े नही । जब सिंधिया का पतन हो गया तब होलकर की युद्ध करने की इच्छा हुई । इस प्रकार एक एक से लडने म अगरेजो को सुभीता ही रहा । यदि दोनो एक साथ लड़ते तो अगरेजो को बसई की सधि का सशोधन अवश्य करना पडता, परन्तु होलकर, सिंधिया की पराजय को दूर से ही बैठकर देखने लगे, जब पराजय हो गई तब आप उठे । यह भी नही हुआ कि सिंधिया के पराजय की घटना से शिक्षा लेकर चुपचाप बैठे रहते और इस प्रकार बाद मे होलकर ने युद्ध छेड कर बिना प्रयोजन अपना नाश कर लिया । सन् १८१७ १८ म भी यही बात हुई । बाजीराव को चाहिए था कि जब अगरेजो ने उस पर इतने उपकार किये थे और पेशवा के पद छोड देने पर भी उसका पक्ष लेकर उसे गद्दी पर बैठाया था और इस प्रकार उसके पिता का दिया हुआ वचन किसी भी तरह क्यों न हो पूरा कर दिखाया था तो अगरेजों से युद्ध न करता, परन्तु बसई की सधि की लज्जा और अगरेजो के त्रास के कारण वह अगरेजो से युद्ध करने को तैयार हुआ । उस समय भी सिंधिया और होलकर की दृष्टि से वही सन् १८२१ की स्थिति प्राप्त हुई । उस समय तो उन्हें फिर जोरों से आकर बाजीराव की सहायता करनी चाहिए थी परन्तु ऐसा नहीं हुआ । इसलिए बाजीराव के शरण आने पर अकेले होलकर ने अपने हाथ पांव हिलाकर और अधिक मजबूत बंधवा लिए । यद्यपि सिंधिया होलकर, भोसले आदि की यह इच्छा अन्त करण म थी कि मराठी राज्य म अगरेजो का प्रभाव न बढे परन्तु वह शुद्ध नही थी । इसमें स्वार्थ का मिश्रण था । प्रत्येक सरदार के मन म यह शुभ भावना थी कि अपने सिवा अगरेज और इतर सरदारों का प्रभाव कम हो तो अच्छा अथवा दूसरे सरदारों का प्रभाव अगरेजो के द्वारा कम हो और अगरेज प्रबल हो जाये तो कोई हानि नहीं, प्रत्युत अच्छा ही है । परिणाम यह हुआ कि किसी का कुछ भी काम नहीं हुआ और दूसरे सरदारों के नाश के साथ साथ उनका भी नाश हुआ ।

यह बात नहीं है कि दूरदर्शी मराठे नीतिज्ञों को अगरेजों की पद्धति नहीं दीखती थी अथवा वे अगरेजों के पेंच को नहीं समझते थे, परन्तु यह बात ठीक है कि वे अगरेजों से टक्कर न ले सके । जब औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल बादशाहत का पतन हुआ तब साम्राज्य सत्ता के बुद्धि बल शतरंज का खेल भारत के विशाल पट पर एक ओर से अगरेज और दूसरी ओर से मराठे खेलने लगे । उस समय दोनो

के मुहरे और मुहरों के घर समान थे। दोनों ही को अपने अपने द्वारा सम्पूर्ण पट पर आक्रमण करना था और अपने अपने प्रतिपक्षी के मोहरे जितने हो सके निकम्मे कर पट पर से उठा देना था। यद्यपि शतरंज के दोनों खिलाड़ियों को परस्पर में एक दूसरे के मुहरों की चाल के हेतु की कुछ न कुछ कल्पना आवश्य होनी है, परन्तु वास्तविक बुद्धि बल इसी में है कि मुहरों की चाल ऐसी चली जाय कि सामने वाला खिलाड़ी अथवा अन्य निरीक्षक समझ न सके और यदि समझ भी ले तो प्रतिकार न कर सके। जिसमें बुद्धि बल अधिक होता है वही ज्यादा मात भी कर सकता है। यह बात नहीं है कि मराठों को साम्राज्य पट पर शतरंज खेलना ही न रहा हो, क्योंकि अंगरेज दक्षिण में जितने घुसे थे मराठे उत्तर में उनसे कहीं अधिक घुस गये, परन्तु नाके के स्थान लेने में अंगरेजों ने अपना अधिकार चातुर्य दिखलाया, इसलिए जब मुहरों की मारामारी का समय आया तब मराठों के बड़े-बड़े मुहरे कमजोर होने के कारण मारे गये।

मराठों को सन् १७६५ के लगभग ही यह बात मालूम हो गई थी कि अंगरेजों ने व्यापार दृष्टि को छोड़ कर राज्य दृष्टि ग्रहण की है। इसी प्रकार उन्हें तुरन्त ही यह भी विदित हो गया था कि भारत के राजा रजवाड़ों की गृह कलह में पड़कर अंगरेज लाभ उठाना चाहते हैं। परन्तु, जिस प्रकार उतार की जगह पर भागती हुई गाड़ी का धक्का रोका नहीं जा सकता उसी प्रकार मराठों को अंगरेजों का रोकना उस समय कठिन हो गया था। अंगरेजों को इस समय भी कोई ईमानदार नहीं मानता था, सब बेईमान कहते थे। अंगरेजों की पद्धति के सम्बन्ध में पूना दरबार का मत था कि हैदर खाँ, श्रीमन्त (पेशवा) और नवाब का राज्य लेने की अंगरेजों की इच्छा है और इसके लिए वे एक से झगड़ा और दूसरों से मैत्री रखने की पद्धति को काम में लाकर अन्त में सबों के राज्य को हड़प करना चाहते हैं। यह जानते हुए भी टीपू को पराजित करने के लिए मराठों ने अंगरेजों की सहायता दी।

'जिसकी लाठी उसकी भैंस।' की कहावत के अनुसार मराठाशाही का अन्त अङ्गरेजों के हाथों से हुआ। इसके लिए अंगरेजों को दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वे भारत में मोक्ष की साधना करने को नहीं आये थे, वे व्यापार कर सम्पत्ति प्राप्त करना चाहते थे। व्यापार करते-करते यदि उन्हें राज्य भी मिलता तो भला वे उसे लेने से क्योंकि चूक सकते थे। राज्य सत्ता के बल पर तो व्यापार की खूब वृद्धि की जा सकती है यह एक साधारण बात है और राज्य से कर आदि की आमदनी होती है सो अलग। इसलिए जिन्होंने अपने हाथ पाँव चलाकर नया राज्य प्राप्त किया, उन्हें दोष देने की अपेक्षा जिन्होंने अपने हाथ के राज्य गवाया उन्हें ही दोष देना उचित है। जहाँ कोई एक बार राज्य लेने के पीछे पड़ा कि वह फिर न्याय, अन्याय या सूक्ष्म

विचार करने के लिए अभी प्रस्तुत। यह आवश्यक प्रश्न ही रहता है। मराठों के सामने ही तो देखिए कि मुग़ल साम्राज्य में उखड़ रहे थे — क्या अधिक न था? उनका दृष्टिकोण ही मुग़लों के स्थान पर स्वयं [illegible] की बात करते न थे। [illegible] है परन्तु साम्राज्य [illegible] करने के लिए उपयुक्त अवसर था, वह वे [illegible] दूर रखने में सब प्रकार कहाँ रहा? यदि कोई यह कहे कि मुग़लों से स्वयं छीनकर उन समय के बल पर यदि मराठों को स्वतंत्र राज्य स्थापित करना था तो मुग़लों के दीवान बनकर राजी ख़ुशी से इसलिए कि मराठों को और कम मुग़लों का बना हुआ काम पूरा करने का [illegible] अंग्रेज़ों का भी हो सकता है। फिर इस [illegible] का उत्तर देना कठिन होगा। इसलिए सामर्थ्य और समय की दृष्टि से देश जानते मराठों का राज्य देने के कारण अंग्रेज़ों पर दोष न कर अपने हाथ का राज्य नहीं देने की जो गलती मराठों ने की उसी पर वास्तविक दोष करना चाहिए।

यह बात प्रत्येक मनुष्य स्वीकार करेगा कि मराठों को अपना राज्य प्राप्त करने में अंग्रेज़ों की अपेक्षा अड़चनें थीं। अंग्रेज़ हज़ार कोस की दूरी से चलकर भारत में आये थे और मराठे थे अपने ही देश में। देश में कहीं पर भी थे। अंग्रेज़ों के लिए सारा देश पराया था। उन्हें प्रत्यक्ष प्रवास के द्वारा देश की लम्बाई चौड़ाई का ज्ञान प्राप्त कर उस पर से नक्शा बनाये बिना देश का परिचय होना कठिन था। मराठों का तो सब देश देखा और जाना हुआ था।

जो कठिन मार्ग, गुफाएँ, दरारें और खोहें मराठों के पावों तले रहा करती थीं अंग्रेज़ों को उनका पता तक लगाना कठिन था। यदि मराठों ने यह विचार किया होता कि महाराष्ट्र में अंग्रेज़ों का पाँव न जमने पावे, तो अंग्रेज़ों की सत्ता का बीजारोपण ही न हुआ होता। उसका ऐसा विशाल वृक्ष होना तो दूर की बात है। यदि यही विचार कर लिया होता कि अपने को विलायती माल नहीं चाहिए तो फिर अंग्रेज यहाँ व्यापार काहे को करते? और नहीं, विलायती माल पर यदि कर ही बैठा दिया जाता तो व्यापार लाभदायक न होने के कारण अंग्रेज़ों को तुरन्त ही अपना बसता बोरिया बाँधना पड़ता। दूसरे, अंग्रेज व्यापारी अपने पास फौज आदि रखने लगे तब मराठों की आँखें क्यों नहीं खुलीं? अंग्रेज़ों की सत्ता रूपिणी ऊँटनी का बच्चा भी उनकी आँखों के आगे बढ़ रहा था उन्होंने क्यों नहीं दिया और मराठों ने उसका प्रबन्ध क्यों नहीं किया? अंग्रेज़ों के पास बन्दूक आदि फौजी सामान एकत्रित होता हुआ देखकर भी मराठों ने उनके सामान फौजी सामान बनने के लिए कारखाने क्यों नहीं खोले? उस समय शास्त्र आईन तो था ही नहीं। सब यूरोपियन राष्ट्र भारतवासियों के हाथों हथियार बेचने को तैयार थे और अंग्रेज़ों के सिवा अन्य यूरोपियन मराठों के यहाँ नौकर रहकर उनकी फौज को सुशिक्षित बनाने और तोप बन्दूक आदि का कारखाना खोलने को भी तैयार थे। फिर मराठा

ने इससे लाभ क्यो नहीं उठाया ? जिस प्रकार छः हजार मील की दूरी से अगरेज भारत मे आये उसी प्रकार साहस कर मराठा को दूसरे देशो मे जाने और वहाँ से विद्या प्राप्त करने, मैत्री करने की किसने मनाही की थी ? अगरेजो के मन म कितना ही राज्य का लोभ होता, पर यदि उनकी सेना म भारतवासी सम्मिलित हो न होते तो वे क्या कर सकते थे ? अगरेज, जब अगरेजो के विरुद्ध लडने को तैयार नहीं होते थे तो मराठों के विरुद्ध लडने के लिए अगरेजो से क्यो कहा जाता था ?

अगरेजो की फौज मे प्रतिशत बीस स अधिक अगरेजी सिपाही कभी नहीं थे। प्रतिशत अस्सी हिन्दुस्तानी ही थे। जब अगरेज मे अपने अगरेजपन का भाव था तब हिन्दुस्तानी हिन्दुस्तानी म इतना भी नहीं तो हिन्दू हिन्दू ही म, कम से कम, मराठे मराठो मे, यह भाव क्यो नही हुआ ? सब से महत्व की बात तो यह है कि यदि अगरेजो को मराठो ने अपने आपसी झगडो म न डाला होता तो उन्हें बिना कारण के झगडे खडे कर मराठो के राज्य पर चढाई करना कठिन हो जाता और उन्हें मराठो को जीतने के लिए तीन चार सौ वर्ष भी पूरे न होते। यदि यह मान भी लें कि मुगलो ने उत्तर हिन्दुस्तान, अपनी मूर्खता से अगरेजो को दे दिया, तो भी अठारहवी शताब्दी के अन्त तक यमुना नदी के दक्षिण की ओर अगरेजो की बीता भर भी जमीन नहीं थी। ले देकर पश्चिम किनारे पर बम्बई सूरत प्रभृति थाने और पूर्व किनारे पर कुछ थोडा सा राज्य ही उनके अधिकार मे था। ऐसी दशा मे टीपू के विरुद्ध सहायता देकर सैकडों मील का राज्य अगरेजो को किसने दिलाया ? मराठों ही ने अगरेजो को घर मे घुसा लेने की निजाम और मद्रास के मुसलमानो की बात को यदि छोड दिया जाय तो भी उत्तर मे यमुना नदी की ईशान म कटक, सम्बलपुर, पूर्व मे समुद्र, आग्नेय मे कावेरी, दक्षिण म मैसूर नैरित्य मे मलाबार, पश्चिम म पश्चिमी समुद्र, और वायव्य म राजपूताना, इतने बडे विशाल क्षेत्र मे अठारहवी शताब्दी के अन्त तक अगरेजो को पैर रखने तक की जगह कहाँ थी ? फिर उन्हे मराठो ने अपने आपसी झगडो में न्यायाधीश या सहायक क्यो बनाया।

यह कहने मे कुछ हानि नहीं है कि उस समय इस देश मे सब जगह मराठो का राज्य था और एक ही छत्रपति का अधिकार था। पेशवा, सिंधिया, होलकर गायकवाड भोसले और पटवर्धन आदि मराठे और ब्राह्मण सरदार, औपचारिक रीति से ही क्यो न हो, एक ही राजा का शासन मानते थे। ये सब सरदार एक ही राज्य के आधार स्तंभ थे। इन्हें यह भय होना भी स्वाभाविक था कि यदि उस मुख्य राज्य का पतन हो जायगा तो वह हमारे ही ऊपर आकर पडेगा और उसका सभालना कठिन होगा, वे यह भी जानते थे कि यदि राज्य बना रहेगा तो उससे हम सबो का कल्याण ही है। फिर भी मराठो ने अपने अपने राज्यों म अगरेजो का प्रवेश क्यो होने दिया। यदि कोई एक सरदार अगरेजो से मिल गया होता और शेष सरदार परस्पर

मिल जुलकर रहते तो भी सब प्रबंध हो सकता था। अंगरेजों को बम्बई, कलकत्ता और मद्रास से जो एक दूसरे से बहुत दूर हैं, षडयन्त्र करने पड़ते थे। परन्तु मराठे सरदार तो इनकी अपेक्षा एक दूसरे से बहुत ही नजदीक थे। यदि मराठे मिलकर चलते तो अंगरेजों की डाक नहीं आ जा सकती थी और न उन्हें सैन्य ही मिलती। यदि वे दूसरे लोगों को सेना में भरती करते तो उस सेना का मराठी राज्य में प्रवेश होना कठिन था। यदि प्रवेश होता तो रसद मिलना कठिन हो जाता और छापे मारकर मराठों ने उस सेना को काट डाली होती। अंगरेजों की कलकत्ता या मद्रास से बम्बई के लिए सेना कभी समुद्र मार्ग से नहीं आई, क्योंकि उनके पास जहाजी बेड़ा इतना बड़ा नहीं था। उनकी सेना का आना जाना मराठी राज्यों में से ही प्रायः हुआ करता था और मराठे उसे आने देते थे परन्तु यदि सब मराठों में एका होता तो अङ्गरेजों की सेना तो क्या कागज का एक टुकड़ा भी मराठी राज्यों में से होकर नहीं जा सकता था। ऐसी दशा में अंगरेज मराठों का राज्य लेने के झगड़े में नहीं पड़ते तथा ईस्ट इंडिया कम्पनी के डाइरेक्टरों में से राज्य लेने के झगड़े में पड़ने की सलाह देने वाला जो पक्ष था उसी की विजय हुई होती। इन सब कारणों से कहना चाहिए कि अंगरेजों ने मराठों को मराठों की सहायता से जीता। उन्होंने थोड़ा सा विलायती माल और बहुत बड़ी बुद्धिमता की पूंजी पर भारत का व्यापार और राज्य प्राप्त किया। उन्होंने मुगलों के जीर्ण क्षीण राज्य पर ही छापा नहीं मारा, वरन् जोशीले, तेज तर्रार, उत्साही, नई उमंगवाले महत्वाकांक्षी स्वयं उद्योगयुक्त मराठों के राज्य को भी जीत लिया। उनको यह जीत केवल दो बातों के बल पर हुई। एक तो उनकी बुद्धि और हिम्मत, दूसरी मराठों की अदूरदर्शिता और परस्पर की फूट।

मध्यवर्ती सत्ता का अभाव

शिवाजी के स्वराज्य-स्थापना के समय राजा और अष्ट प्रधान, ये ही दो राज्य के अंग थे। राज्य एक सत्तात्मक था और अष्ट प्रधान सलाह देने वाले ही उत्तरदायी कर्मचारी थे। शाहू के शासन काल में पहले पहल सरंजामी सरदार उत्पन्न हुए। इन सरदारों को अपने अपने प्रान्तों में दीवानी, फौजदारी मुल्की फौजी व्यवस्था करने का अधिकार था। इस व्यवस्था करने के खर्च से बची हुई परन्तु पहले से जमाबन्दी के द्वारा निश्चित, रकम उन्हें छत्रपति को देनी पड़ती थी। कई इतिहासिकों का कहना है कि सरंजामी सरदारों की नियुक्ति और महाराष्ट्र के बाहर मराठों की सत्ता का विस्तार एक ही समय में हुआ, परन्तु पहले सरदार बनाये गये फिर राज्य विस्तार हुआ, यह कहने की अपेक्षा राज्य विस्तार होने के कारण ही सरंजामी सरदारों का प्रारम्भ हुआ यह कहना अधिक उचित होगा, शाहू की सनद की प्रतीक्षा न कर दाभाड़े, बांडे, भोंसले और आंग्रे प्रभृति सरदारों ने मुगल राज्य के टुकड़े टुकड़े

करना प्रारम्भ कर दिया था और वे जीते हुए राज्य में स्वतन्त्र कारबार भी करते थे। ऐसे सरदारों को आश्रय में रखने में छत्रपति को लाभ ही था और इधर भी शक्ति कम होने के कारण छत्रपति की सत्ता की रक्षण अपने ऊपर चाहिये था। इस प्रकार दोनों ओर की आवश्यकताओं से सरजामी सरदारों का मंडल तैयार हुआ। इस समय यदि स्वयं शिवाजी महाराज होते तो वे सरजामी सरदार नियुक्त करने की पद्धति स्वीकार करते या नहीं इसमें सन्देह ही है। यूरोप में फ्यूडल पद्धति का प्रारम्भ भी इसी प्रकार हुआ था। मराठों में दो आनुवंशिक मुख्य गुण, चाहे इन्हें दोष कहिये थे। एक तो स्वातन्त्र्य प्रियता दूसरा स्वदेश प्रेम। यूरोप में भी फ्यूडल पद्धति प्रारम्भ होने में ये दो मनो धर्म कारणीभूत हुए। यूरोप की इस पद्धति के नाश होने में कितनी शताब्दियाँ लगी। यदि महाराष्ट्र में भी दूसरे किसी का सम्बन्ध न हुआ होता और मराठों की राज्य घटना को स्वतन्त्र रीति से विकसित होने के लिये शताब्दियों का अवसर मिला होता तो यहाँ भी जागीरदारी सरदारों की पद्धति नष्ट होकर एकतन्त्री राज्य सत्ता स्थापित हुई होती, परन्तु उत्क्रान्ति का यह प्रयोग सिद्ध न हो सका। अष्ट प्रधानों पर पेशवा की नियुक्ति करना, यह उत्क्रान्ति की ही एक सीढ़ी थी। और यदि छत्रपति और पेशवा दोनों की एक सी प्रबल जोड़ी मिली होती तो इस जागीरदारी पद्धति का शायद शीघ्र ही पतन हो गया होता। पेशवा ने राज्य विस्तार का उद्योग प्रारम्भ किया था, उसे यदि छत्रपति के बल की सहायता मिल जाती तो नये और पुराने सरदार अपने पेशे की नौकरी नहीं भूलते। ही थी इस शक्ति जाने दी, यही बहुत किया। स्वाभिमानी और चपल होता तो उसे जागीरदार सरदारों की सत्ता और अधिकारातिक्रमण को रोकना बहुत सरल हो गया होता। इसलिये स्वयं पेशवा भी इतने स्वतन्त्र न हो गये होते और जब मुख्य प्रधान को ही स्वतन्त्रता नहीं होती, तो सरदारों को तो होती ही कहाँ से ?-

ऐतिहासिकों का कहना है कि—"शाहू महाराज और बालाजी विश्वनाथ के शासन काल में महाराष्ट्र की राज्य पद्धति को इंगलैण्ड की वर्तमान संयुक्त साम्राज्य पद्धति का स्वरूप प्राप्त हो गया था, परन्तु अन्तर केवल यही था कि इंगलैण्ड में वंश परम्परा से चली हुई राज्य सत्ता को लोक निर्वाचित प्रतिनिधियों और प्रतिनिधियों में से नियुक्त अनेक मन्त्रिमंडलों की सत्ता का बन्धन है और पेशवाई के समय में सम्पूर्ण सत्ता एक मुख्य प्रधान ही में संचित थी।' परन्तु हमारा समझ से केवल यही अन्तर इतना बड़ा है कि इसके कारण पेशवाई को साम्राज्य सत्ता का नाम ही नहीं दिया जा सकता और यदि नाम भी दिया जाय तो भी दोनों साम्राज्य का साम्य सिद्ध नहीं हो सकता। संसार में या तो शुद्ध एकतन्त्री राज्य पद्धति चल सकती है या शुद्ध प्रतिनिधि सत्तात्मक राज्य पद्धति, परन्तु केवल एकतन्त्री प्रधान सत्ता कभी नहीं चल,

सकती। जो आदर साधारण जन समाज में सम्मानशाली राजवंशीय व्यक्ति के प्रति हो सकता है वह प्रधान के प्रति चाहे वह कितना ही गुणवान और बलवान् क्यों न हो नहीं हो सकता। दूसरी प्रतिनिधि सत्तात्मक पद्धति को प्रजा का बल होता है परन्तु प्रधान होने के कारण पेशवा के प्रति सर्व साधारण का आदर नहीं था और एकतन्त्री प्रधान सत्ता होने से प्रजा का बल भी नहीं था। इस प्रकार छत्रपति और प्रजा के बीच में बिना पेशवा की सत्ता की इमारत बिना नींव के खड़ी की गई थी। इसलिये पेशवा को अपने आधार के लिए जागीरदारी पद्धति का मण्डल रचना पड़ा और अन्त में यही मण्डल पेशवाई के लिए सिर का बोझ ही गया। इन जागीरदारों को पेशवा यह नहीं लिख सकते थे कि तुम्हें अमुक कार्य करने की आज्ञा दी जाती है। यदि पेशवा कोई भी बात जागीरदारों को सूचित करते तो उसे मानना न मानना उन सरदारों पर निर्भर था क्योंकि पेशवा को उन पर आज्ञा करने का अधिकार नहीं था और जब आज्ञा करने का अधिकार नहीं था तो आज्ञा भङ्ग करने पर दण्ड देने का अधिकार हो ही कैसे सकता है? पेशवा की आज्ञा मान्य न करने के उदाहरण तो मिलते हैं पर जागीरदार सरदारों को पदच्युत करने का उदाहरण कहीं नहीं मिलता। जब तक पेशवा स्वयं सेनापति रहे और चढ़ाई पर जाते, तब तक तो उनका कुछ अधिकार चलता भी था परन्तु बड़े माधवराव पेशवा के पश्चात् यह बात भी बन्द हो गई और सत्ता के सूत्र फडनवीस के हाथों में आये। फिर से मध्यवर्ती सत्ता की अवनति हुई और वह एक सीढ़ी और नीचे उतरी। जो स्वामि भक्ति की भावना शाहू महाराज के सम्बन्ध में थी वह माधवराव के प्रति नहीं थी और जो माधवराव के प्रति थी वह नाना फडनवीस के सम्बन्ध में नहीं थी। ऐसी दशा में कोकणस्थ फडनवीस की जगह देशस्थ फडनवीस यदि कारभारी भी होता तो भी वही बात होती क्योंकि घड़ी का मुख्य पुर्जा ही शिथिल और निर्जीव हो गया था अर्थात् छत्रपति महाराज की सत्ता भिन्न भागों से जागीरदारी सरदारों तक वह चुकी थी अतः मराठाशाही संयुक्त साम्राज्य स्वरूप न होकर एक काम चलाऊ नाम मात्र के संघ के रूप में थी। संयुक्त स्वराज्य अर्थात् फेडेरेशन और संघ अर्थात् कान्फिडरेसी में ये अनेक अवयव अंग विशेष के एक बिन्दु से परस्पर में मिले हुए होते हैं। सारांश यह है कि फेडरेसन रचना बलिष्ठ और मजबूत होती है और कान्फिडरेसी कमजोर। अतएव फेडरेशन की अपेक्षा कान्फिडरेसी धक्का लगने मात्र से टूट सकती है। एक तन्त्री राज्य पद्धति में जो काम राजनिष्ठा की भावना से होता है संयुक्त स्वराज्य पद्धति में वही काम सामुदायिक प्रेम की भावना से होता है, क्योंकि उसमें संयुक्त स्वराज्य में अनेक कार्य मिलकर एक हो जाते हैं। संघ अथवा कान्फिडरेसी में नैष्ठिक प्रेम नहीं होता। उसमें संयोगीकरण केवल काम चलाऊ स्वार्थ ही होता है, और यह स्वार्थ सात्विक अथवा उदार न होने के कारण चाहे जहाँ नाम मात्र के कारण से अपना स्वरूप बदल सकता है। मराठाशाही के सरजामी सरदार

मण्डल के प्रत्येक सरदार का ज्यो-ज्यो समय व्यतीत होता जाता था, त्यो त्यो अधिकाधिक भारी होता जाता था पेशवा के फडनवीस की बुद्धि अथवा उसके माने हुए अधिकारी के समान कमजोर और नाजुक मध्यवर्ती आधार पर लटकने वाला सरंजामी जागीरदारी सरदार मण्डल का बोझा अधिक दिनो तक टिक भी कैसे सकता था ? कई लोगो की समझ है कि शिवाजी के समय के स्वराज्य की सीमा से यदि मराठो का राज्य बाहर न गया होता तो यह गडबडी न हो पाती परतु इस पर हमारा कहना इतना ही है कि भारत म ऐसे अगुन्यिा पर गिनने लायक बहुत स राज्य थे, पर अन्त मे वे भी कहाँ टिके ? वास्तविक बात तो यह है कि मराठो राज्य के विस्तार मे कोई भूल नहीं हुई कि तु विस्तार के साथ साथ जिस अत्यत सुदृढता की आवश्यकता थी वह उसे प्राप्त न हो सकी । यह सुदृढता या तो मध्यवर्ती प्रबल राज्य सत्ता द्वारा प्राप्त होती है या सर्वव्यापी प्रबल लोक सत्ता द्वारा । इन दो के सिवा तीसरा माग नहीं है । और इन दोनो सत्ताओं म से मराठाशाही के अन्तिम दिनो मे एक भी प्रबल नहीं थी । इस सम्बन्ध में जितना दोष ब्राह्मण पेशवा का दिया जा सकता है उतना हो मराठे सरदारो को भी दिया जा सकता है । यदि पेशवा कोई भूल कर रह थे तो उसे सुधारने में मराठा सरदारो की क्या हानि थी ? किसी भी तरह उन्हें मराठाशाही को बचाना चाहिए था । इसके लिए यदि वे चाहते तो राज्य क्रान्ति कर पेशवा की गद्दी उलट देते और मराठा मंत्रि मण्डल स्थापित कर मराठाशाही बचाते, परन्तु उन्होंने यह भी कहाँ किया ?

अङ्गरेजों ने राज्य कैसे पाया

यह प्रश्न बहुधा उठा करता है कि अगरेजो ने राज्य कैसे पाया । तलवार के बल पर या अन्य साधना से । जो यह कहते हैं कि अगरेजो को चाहिये कि वे भारत वासियो को स्वराज्य दे और स्वतन्त्रता देने की अपनी बिरद के अनुसार भारत मे भी काम करे, यहाँ तलवार के बल पर शासन न करे, वे उक्त प्रश्न का उत्तर यह देते हैं कि अगरेजो ने भारत को तलवार के जोर स नहीं पाया और उनके इस उत्तर का समर्थन प्रोफेसर सीली आदि इतिहासकार भी करते हैं, परन्तु हम यह उत्तर प्राय मान्य नहीं है क्योकि अगरेजो के राज्य विस्तार का इतिहास देखने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राय आधा राज्य तो उन्होने प्रत्यक्ष युद्ध करने के पश्चात् जो सन्धियाँ हुई उनके अनुसार पाया है और शेष आधा राज्य प्राप्त करने म यद्यपि उन्हे प्रत्यक्ष रीति स तलवार का प्रयोग नहीं करना पडा तो भी उनकी तलवार के भय का प्रयोग अवश्य हुआ है । अगरेजो ने मुगलो से जो दीवानगीरी की सनद प्राप्त की थी उस सनद के अनुसार अगरेजो को पूर्व म कुछ प्रदेश कारबार करने को मिला और फिर आगे उस

पर उन्ही का स्वामित्व हो गया, यह बात ठीक है, परन्तु यह बात भी ठीक है कि अग रेजो को मुगलों से नही तो मुगलो के तिरिक्त नवाबो से लड़ना पड़ा था। यदि बक्सर और पलासी के युद्ध उन्होने जीत न होते तो बगाल प्रान्त का राज्य उन्हे मिला न होता। निजाम से अगरेजो को जो राज्य मिला वह बिना युद्ध किये ही मिला यह भी ठीक है, परन्तु उसके लिए भी अगरेजों को अपनी इतनी शक्ति दिखलानी पड़ी कि वे निजाम की रक्षा करने योग्य बल रखते हैं और यह दिखलाने पर ही उन्हें निजाम से राज्य प्राप्त हुआ। निजाम ने उन्हें स्नेही समझ कर पारितोषिक में नहीं दिया था और न ईश्वरीय लीला दिखाने वाले फकीर समझ धर्म में ही दिया था। लार्ड डलहौजी के शासन काल मे वारिस न रहने के कारण बहुत से राज्य अगरेजो ने खालसा कर लिए थे, परन्तु अपने आप को अधिराजा अथवा साम्राज्य के स्वामी होने का अधिकारी बत लाये बिना अगरेज इन राज्यो का खालसा कैसे कर सके होंगे। अगरेज कुछ मराठो की सन्तान तो थे नही जो मराठी राज्य के उत्तराधिकारी हो सकें, फिर इस अधिकार को साम्राज्य सत्ता मे स्वामित्व की तलवार के बल का प्रयोग करने के सिवा किस प्रकार प्राप्त कर सकते थे। यह स्वीकार कर लेने पर कि मैसूर, महाराष्ट्र, उत्तर भारत, बगाल और पञ्जाब प्रात अगरेजो को तलवार ही के बल पर जीतने पडे तो फिर बचे हुए शेष प्रदेश, शान्ति के साधनो से फिर चाहे उन्हें सन्धि, करार, बदला, जागीर कोपाधिकार, उत्तराधिकार अथवा ही क्या न कहो, पर उन्होने प्राप्त किये अवश्य। हाँ, यह स्पष्ट दीखता है कि ऐसे प्रदेश बहुत थोडे थे। सारांश यह कि यही उपपत्ति अधिक ठीक प्रतीत होती है कि अगरेजो ने तलवार के बल पर राज्य प्राप्त किया। प्रोफेसर सीली प्रभृति के कथन का तात्पर्य न समझ कर अथवा उस पर पूरा विचार न कर हम प्राय उसका कुछ का कुछ अर्थ लगाया करते हैं। यह हमारी बडी भारी भूल है। प्रोफेसर सीली के कथन का यह तात्पर्य है कि—"दूसरे देशा मे विजय की इच्छा रखने वाले राजा को जितने झगडे आदि करने पडते हैं, अगरेजो को भारत मे उतने नही करने पडे। उनका कार्य बहुत थोडे प्रयास से सिद्ध हो गया और उसमे भी भारत वासियो का ही विशेष उपयोग हुआ। फिर चाहे इसे भारतवासियो का अगरेजो के प्रति प्रेम कहिये या उनकी मूर्खता। भारत मे भारतीयो को अगरेजी सेना की अपेक्षा अगरेजों ने अपने देश का धन भी लाकर यहाँ खर्च नही किया था, क्योंकि कम्पनी सरकार की पद्धति पहले से ही राज्य लेने की ओर नही थी। ऐसी दशा मे भी अगरेजो ने राज्य प्राप्त किया।" प्रोफेसर सीली ने इसी बात को बहुत महत्व देकर जगत के दूसरे स्थानो पर होने वाले राज्य सम्पादन और भारत के अन्तर का विवेचन बहुत सूक्ष्म दृष्टि से किया है।

अगरेज यदि विलायत से फौज कम लाये थे तो इसका अर्थ यह है कि उन्होने देशी फौज भी नहीं रखी थी? वो विलायत से पैसा नही लाये तो यहाँ से पैदा किया

हुआ पैसा भी उन्होंने राज्य प्राप्त करने में खर्च नहीं किया। उन्होंने विलायती फौज और पैसा की सहायता नहीं ली तो क्या यहीं से ही पैसा पैदा कर उसी की सहायता और अधिकांश में यहीं की सेना के बल पर उन्होंने राज्य प्राप्त नहीं किया। ईस्ट इन्डिया कम्पनी की राज्य प्राप्त न करने की इच्छा की बात चाहे कुछ भी हो पर उसकी अंतिम कृति क्या थी ? उसने राज्य प्राप्त होने पर उसका शासन किया या राज्य नहीं लिया, जिसका जिसका वापिस कर दिया—यही देखना चाहिए।

प्रोफेसर सीली प्रभृति कुछ भी कहें, परन्तु हम यदि विचार करें तो क्या यह ? यही देखना उचित है। यदि कहा जाय कि "अंगरेजों ने मराठों का राज्य नहीं जीता तो फिर इस प्रश्न का उत्तर क्या होगा कि उन्हें वह राज्य मिला कैसे। मराठों ने उनके यहाँ गिरवी तो रखा ही न था। अंगरेजों का मराठों ने दान में और न इनाम में ही दिया था, फिर उन्हें मिला, तो मिला कैसे ? राज्य कुछ ऐसी चीज तो है ही नहीं कि उसके स्वामी की नींद लग जाने पर उसकी चोरी की जा सके और फिर जान पर भी सौ, सौ वर्षों तक चोरी का माल वापिस लेने का उसका स्वामी प्रयत्न ही न करे। सिंधिया, होलकर, पेशवा, सतारा और नागपुर के भासले आदि में से किसी का आधा, किसी का पूरा, किसी का पौन हिस्सा राज्य अंगरेजों ने लिया था इन लोगों ने कुछ प्रसन्न होकर अपनी खुशी से दे दिया ही नहीं था और न यही कहा जा सकता है कि राज्य जाने पर ये लोग वैराग्य वृत्ति से, सौ वर्षों से, सन्तोष पूर्वक व्यापार करते आ रहे हैं। लिए हुए राज्यों में से अंगरेजों ने केवल मैसूर और तंजोर को ही राज्य वापिस दिया और जिसे दिया गया उसने लिया भी, पर जिन्हें नहीं मिला वे मन ही मन में कुढ़ते रहे। यदि तलवार चलाकर किसी का राज्य प्राप्त करने की आशा होती तो वह प्रयत्न किये बिना कभी न चूकता परन्तु यह देखकर कि पूरा लेने के प्रयत्न में कहीं जो कुछ बच रहा है वही न चला जाय उन्होंने कुछ न किया, अथवा यह हुआ हो कि अंगरेजों की श्रेष्ठ सत्ता देखकर वे जहाँ के तहाँ चुपचाप बैठे रहे। सार यह है कि किसी भी तरह से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि अंगरेजों ने सैनिक सत्ता के बल पर राज्य प्राप्त नहीं किया और न उसी बल पर उसे अब तक बनाये रहे, यद्यपि यह किसी अंश में ठीक है कि महाराष्ट्र के लोगों के मन में पेशवा और मराठा की राज्य कार्य प्रणाली के प्रति तिरस्कार उत्पन्न हो गया था और अंगरेजों की व्यवस्था तथा चातुर्य के कारण उनसे प्रेम करने लगे थे, तो भी अंगरेजों ने यदि बाजीराव से राज्य नहीं लिया होता तो प्रजा अपने आप अंगरेजों को प्रार्थना पत्र देकर राज्य नहीं देती। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि अंगरेजों ने तलवार के बल राज्य प्राप्त नहीं किया। हाँ, यह कहा जाना उचित है कि अंगरेजों की तलवार को हमारी निज की सहायता बहुत मिली।

दुःख है कि जिस तरह यह नहीं कहा जा सकता कि अंगरेजों ने तलवार के

प्रत्यक्ष उपयोग से या उसका भय दिखाकर राज्य प्राप्त नहीं किया उसी तरह यह भी नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने दूसरे साधनों से कोई भी राज्य नहीं लिया। सिंधिया, होलकर, पेशवा और भोसले से अंगरेजों ने युद्ध किया था। अतः इनसे जो राज्य प्राप्त किया वह राजनीति के सर्वानुमोदित और प्रगट आधार के अनुसार था। परन्तु जिन राज्यों को दत्तक लेने की आज्ञा न दे लावारिस कहकर अंगरेजों ने खालसा कर लिया उनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि अंगरेजों ने सर्वांश में न्याय ही किया। किन्तु जिन राज्यों से स्नेह और बराबरी के नाते की सन्धि हो चुकी थी उन्हें लावारिस ठहराकर खालसा कर लेना एक बड़ा भारी अन्याय था और इसमें किसी प्रकार का सन्देह ही नहीं है। अंगरेजों के इस अन्याय के सम्बन्ध में एक ही उदाहरण देना बस काफी होगा। वह उदाहरण है सतारा राज्य का सुदैव के इस राज्य के खालसा करने की चर्चा पार्लियामेंट तक पहुँची थी और इसके सम्बन्ध में अंगरेजों अंगरेजों में जो विवाद हुआ उसे सुनने का जगत् को अवसर मिला, परन्तु ऐसे कितने ही राज्य खालसा किये गये जिनके सम्बन्ध में जगत को कुछ भी मालूम न हो सका। अस्तु सतारा का राज्य मराठाशाही में अग्रणी था, अतः उसके सम्बन्ध में यहाँ विस्तार पूर्वक वर्णन करना अप्रासांगिक न होगा।

यह प्रसिद्ध है कि सतारा के महाराज का प्रभुत्व शासन शाहू महाराज के समय से दिन पर दिन कम होता जा रहा था। दूसरे बाजीराव के समय में तो नाम मात्र के महाराज रह गये थे। और इस स्थिति से उद्धार करने के लिए उनके कर्मचारी आदि प्रयत्न कर रहे थे। खड़की की लड़ाई के चार पाँच वर्ष पहले इस प्रयत्न को अंगरेजों की ओर उत्तेजना मिलना प्रारम्भ हुआ और अन्त में आष्टी के युद्ध में अंगरेजों ने पेशवा का पराभव कर महाराज को पेशवा के पंजे से छुड़ाया और सतारा लाकर फिर उन्हें उनकी गद्दी पर बैठाया। बाजीराव के भागने पर अंगरेजों ने जो घोषणा पत्र प्रगट किया था उसमें बाजीराव पर यह दोषारोपण किया गया था कि 'सतारा के महाराज को कैद कर उसने महाराज की बहुत बड़ी अवज्ञा की और उनकी सर्वसत्ता छीन ली' तथा सब सरदारों और जागीरदारों को यह आश्वासन दिया गया था कि यद्यपि बाजीराव से हमने युद्ध प्रारम्भ किया है तो भी मराठाशाही नष्ट करने की हमारी इच्छा नहीं है, मराठों का राज्य बराबर कायम रहेगा।' इन आश्वासन से बहुत मराठे सरदारों और जागीरदारों को समाधान हुआ और वे लड़ाई से हाथ खींचकर अपने अपने स्थान को चले गये। फिर तारीख २५ सितम्बर, १८१९ को अंगरेज और सतारा के महाराज की सन्धि हुई। उस सन्धि के ये शब्द हैं। 'सतारा के छत्रपति का खान्दान बहुत दिनों से है, अतः उनके और उनके कुटुम्बियों की शान कायम रखने के लिए कुछ राज्य देना उचित है। तदनुसार यह राज्य छत्रपति महाराज को दिया जाता है। इस राज्य का शासन महाराज छत्रपति, उनके पुत्र अथवा

धारिस और रेजीडेंट सदा करते रहें।" इस पर महाराज ने यह स्वीकार किया था कि "मैं यह राज्य लेकर सरकार अंगरेज बहादुर के आश्रय में सदा रह कर सरकार अंगरेज बहादुर की सलाह से सब काम करता रहूँगा।" इसके सिवा सन्धि में परराज्य से सम्बन्ध न रखने, युद्ध प्रसंग पर सहायता देने आदि सामान्य करार भी महाराज ने किये थे। इस सन्धि के अनुसार दक्षिण में कृष्णा और वारणा, उत्तर में नीरा और भीमा, पश्चिम में सह्याद्रि और पूर्व में पंढरपूर तथा बीजापुर इस प्रकार की सीमा से घिरे लगभग १५ लाख वार्षिक की आमदनी का राज्य महाराज का स्वतन्त्र वंश परम्परा का राज्य कह कर, दिया। बीस वर्ष के बाद प्रतापसिंह महाराज पर कुछ दोषारोपण कर उन्हें बनारस में रखा और उनके भाई शाहू जी महाराज उर्फ भाऊ-साहब से नवीन सन्धि कर उन्हें गद्दी पर बैठाया। सन् १८४८ में शाहू जी महाराज ने मरने के पहले व्यंकोजी महाराज को गोद लिया, उस समय प्रसिद्ध नीतिज्ञ और भावी गवर्नर सर बार्टल फीअर सतारा के रेजीडेन्ट थे। उन्होंने सन्धि के आधार पर राज मंडल को बुलाकर और दरबार भरकर व्यंकोजी को गद्दी पर बैठाया, परन्तु कम्पनी सरकार के डायरेक्टरों ने यह कहकर कि सरकार की आज्ञा के बिना दत्तक लिया गया है, दत्तक नामंजूर किया और राज्य खालसा कर दिया। यह सरासर अन्याय किया गया, क्योंकि यह राज्य स्वतन्त्र था इसे दत्तक के लिए आज्ञा लेने का नियम लागू नहीं हो सकता था, परन्तु राज्य की आमदनी उस समय तीस पैंतिस लाख तक बढ़ गई थी, अतः कम्पनी उसे लेने के लाभ को न रोक सकी। बाजीराव ने युद्ध किया, इसलिए उसे पदच्युत कर उसका राज्य ले लेना उचित कहा जा सकता है, परन्तु सतारा के महाराज का निष्पुत्र मरना कुछ अपराध नहीं था। फिर इस निमित्त के आधार पर राज ले लेना उचित नहीं कहा जा सकता और बहुत से अंगरेजों ने भी यही कहा है। सतारा के पहले और उस समय के रेजीडेन्ट सर बार्टल फीअर, जनरल ब्रिग्स और मौ० स्टु० एल्फिन्स्टन प्रभृति इसे बहुत बड़ा अन्याय समझते थे और इसके लिए उन्होंने बहुत झगड़ा भी किया था। इस बात का प्रमाण भी कागज पत्रों से मिलता है कि द्वितीय बाजीराव का कारबार जिस प्रकार खराब था उस प्रकार सतारा महाराज का नहीं था, अतः राज्य खालसा होने में इस ओर से भी कोई कारण नहीं था। जब कि अंगरेजों के मत से सतारा महाराज को कैद में रखना, बाजीराव का अपराध था तब मराठाशाही बनाये रखने का वचन दे देने पर और पेशवा को निकाल कर अपना लड़ाई का खर्च ले, चार करोड़ की आमदनी का सारा राज सतारा के महाराज को देने में कौन सी अनुचित बात थी।

यद्यपि यह बात सबको मान्य है कि सतारा के महाराज राज का काम-काज न कर सतारा में निश्चेष्ट पड़े रहते थे, तथापि यह कहना कि उन्हें पेशवा एक प्रकार से कैद सा कर रखता था सबको मान्य नहीं है। यहाँ तक कि दूसरे बाजीराव के समय

मे भी ऐसी स्थिति नहा मानी जा सकती । सतारा के रेजीडेंट जनरल ब्रिग्ज ने सब कागज पत्रो को देखकर अपनी यही सम्मति दी है। सन् १८२७ म जनरल ब्रिग्ज ने बम्बई सरकार को जो रिपोर्ट भेजी था ऐसी सभी बातें उसम लिखा था।

युद्ध अथवा सधि करना, राज के अष्ट प्रधान से लेकर अन्य सब कर्मचारियो की नियुक्ति कर उन्ह वस्त्र तथा अधिकार पत्र देना सरदार लोगो को चढाई करने और राज जीतने को भेजना वा वापिस बुलाना इनाम, सम्मान, सरञ्जाम, नियुक्ति और धर्मक्रियाँ देना, वश परम्परा के लिए काम देना या वेतन बनाना या घटाना आदि हर एक बातो को सनद या कागज पत्र आदि देने का अधिकार सतारा के महाराज को था। यद्यपि इन सब बातो म पेशवा अपनी सम्मति देते तथा सिफारिश करते थे, परन्तु महाराज की इच्छा और स्वीकृति के बिना कोई काम नही किया जा सकता था और जो सिक्के आदि चलाये जाते थ वे उनकी आज्ञा और अधिकार से चलाये जाते थे। पेशवा की ओर से महाराज क पास सब कामो की सुनाई कराने के लिये कोई कारभारी या मन्त्री रहा करते थे जो पेशवा की ओर स लिखकर आये हुए काम को महाराज क सम्मुख उपस्थित करते और समझाते थे। उन पर महाराज जो आज्ञा दिया करते थ वही किया जाता था। यद्यपि पेशवा की ओर से जो सम्मति दी जाती थी महाराज उसी क अनुसार आज्ञा देते थे तो भी ऐसा कोई उदाहरण नहा मिलता कि महाराज क किसी बात को अस्वीकार करने पर पेशवा ने बलात् उस काम का राजकीय मुहर लगा कर दिया हो। पेशवा को यदि ऐसी बलजोरी करनी होती तो वे सिक्के आदि सतारा ही म क्या रखते, पूना न ले आये होते अथवा जो बातें वे अपने आप कर सकते थ स्वय कर लेते जैसे कि सधि अपने नाम से करना अपना मुहर से सनद आदि देना, पर उन्हाने ऐसा कभी नहा किया। स्वत बाजीराव द्वितीय के वस्त्र सतारा से ही आये थे और इतना ही नही किन्तु १८१० म जब सतारा के महाराज पूना आये तब बाजी राव ने उनका स्वागत अपने स्वामी के समान ही किया और वैसा ही सम्मान अगरेजो से करवाया। बहुत सी छोटी छोटी बातो म भी सतारा के महाराज की आज्ञा आवश्यक होती थी और वह या तो पीछे अथवा समय पर ही महाराज को ओर स दी जाती थी। इसके सिवा फौजी और मुल्की अधिकारियो और सेना सम्बन्धी समाचार युद्ध प्रसग, सन्धि तथा राज काज की अनेक छोटी-छोटी बातो तक का विवरण सतारा के महाराज को बाजीराव द्वितीय के समय तक बताया जाता था। इसका प्रमाण देने म विस्तार होने का भय है अत जिन्हे इस सम्बन्ध म प्रमाण देखने की आवश्यकता हो उनसे हमारा निवेदन है कि वे सतारा के महाराज शाहजी राजा उर्फ अप्पा साहब का वह प्रार्थना पत्र जो इन्होने महारानी विक्टोरिया को अपना राज वापिस देने के लिये विलायत भेजा था, देखें। ऐसा कोई प्रमाण नहा मिलता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि पेशवा ने कभी अपने को मराठा राज का स्वामी माना था। यद्यपि विला-

पत की सिविल लिस्ट के अनुसार राज की आय म से महाराज के निजी खच के लिए कुछ रकम नियत कर दी जाती थी तो भी और आवश्यकता पडने पर उन्हें निजी खच के लिए और भी रकम दी जाती थी और महाराज उसे राज में देने की आज्ञा दिया करते थे। पूना म पेशवा के कार्यालय म सम्पूर्ण राज काय होने का प्रारम्भ शाहू महाराज के समय से हुआ और उन्हीं के समय विशेष कर उनके पश्चात् सतारे के महाराज आलस्य अथवा व्यसनों म अपना समय व्यतीत करने लगे। वे राज काय की कुछ सभाल नहीं सकते थे, इसलिये पूना के कार्यालय म राज काय जोर पकडते गये परन्तु ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि अपने मन्त्री के सिरमौर हो जाने पर सतारा के किसी भी महाराज ने स्वाभिमान पूर्वक सिर उठाया हो। यदि महाराजा चाहते तो सिंधिया, होलकर और नागपुर के भोसले से गुप्त पत्र व्यवहार कर पेशवा के पंजे से अपने को छुड़ा सकते थे और यदि पेशवा ने सतारा के महाराज को वास्तव म कैद सा कर रखा होता तो मराठा सरदारों ने अपनी मूल राजगद्दी तथा जातीयता के अभिमान के कारण महाराज को मुक्त अवश्य कराया होता परन्तु जब यह कुछ नहीं किया गया तब इसका अर्थ यही होता है कि महाराजाओं या व्यक्तिगत नाकारापना और पेशवा के द्वारा पचहत्तर वर्षों में बढ़ा हुआ राज भवन तथा पूना म राज काय की सुव्यवस्था देख-कर इस दशा को मराठा सरदारों ने असन्तोषजनक नहीं समझा होगा और न उसे पलटने के लिए सन्दूनि शस्त्र उठाने की जरूरत समझी होगी। अंगरेजों को तो सतारा के महाराज का ही स्वामित्व मान्य था। पेशवा को तो वे सदा नौकर माना करते थे और पेशवा के व्यवहारों को, अधिकार अतिक्रमण का नाम दिया करते थे, परन्तु जब सतारा के महाराज बाजीराव के हाथ से छूट कर अगरेजों के दल म उपहृत स्नेही के नाते से आ मिले तब फिर उन्हें एक स्वतन्त्र नरेश मानने मे अगरेजों को क्या हानि थी। हानि यह थी कि यदि उन्हें स्वतन्त्र मान लिया जाता तो फिर दत्तक न लेने देने का कारण उपस्थित कर राज खालसा करने का सुअवसर नहीं मिल सकता था। एल-फिन्स्टन ने १८१७ म जो प्रसिद्ध पत्र प्रगट किया था उसम इन बातों को लिखा था।

इन बातों से यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि सम्पूर्ण मराठी राज्य महाराज को न मिलकर उसम से कुछ खालसा होगा, परन्तु जो कुछ मिलेगा वह स्वतन्त्र राज्य होगा। इन शब्दों को सत्य करने के लिए महाराज से आगे जाकर जो सन्धि हुई उसम ऐसी शर्तें करना, अगरेजों को उचित नहीं था जिनसे महाराज की स्वतन्त्रता में किसी प्रकार की भी बाधा उपस्थित होती। अततोगत्वा यह उचित भी मान लिया जाय कि पर राज्यों से पत्र व्यवहार अगरेजों के द्वारा करने तथा अपने सरदारों और जागीरदारों की व्यवस्था अगरेजों के द्वारा कराने की शर्त करना गत अनुभव पर से आवश्यक था, तो भी दत्तक की आज्ञा लेने का पचडा महाराज के पीछे सदा के लिये लगा देना

कभी उचित नहीं कहा जा सकता और न इसका कोई कारण ही था। पहले ही तो चार करोड़ की आमदनी के राज्य में से महाराज को केवल पन्द्रह लाख की आमदनी का ही राज्य दिया गया और साथ ही किसी प्रकार का झगड़ा फसाद न करने के लिये खूब अच्छी तरह से संधि की शर्तों में बांध लिया। फिर भी उनके पीछे दत्तक का झगड़ा लगाना कैसे न्याय कहा जा सकता है नाममात्र का पन्द्रह लाख की आमदनी का राज्य मिला तो क्या और दत्तक को मिला तो क्या? उससे अंगरेजों को विषाद क्यों होना चाहिए था? संधि के समय महाराज अधीन राजा के समान अप्रधान श्रेणी के राजा माने गये, पर दत्तक का प्रश्न उठने पर वह बात भी गई और महाराजा से आश्रित राजा के समान व्यवहार किया गया। सबसे अधिक दिल्लगी यह कि राज्य खालसा करने के समय महाराज को स्वतन्त्र न मानने में यह युक्ति उपस्थित की गई कि जब तुम पेशवा के समय में ही स्वतन्त्र राजा नहीं थे तो हमारे शासन में तुम स्वतन्त्र कैसे माने जा सकते हो? हम पूछते हैं कि अंगरेजों से स्नेह सम्बन्ध होने पर भी पेशवा के समय की परतन्त्रता ही यदि महाराज से चिपटी हुई थी तो फिर अंगरेजों ने उन पर उपकार ही क्या किया? १८१६ अथवा १८३६ की संधियों में एक भी शब्द नहीं है जिससे महाराज अंगरेजों के आश्रित के मनसबदार माने जा सकें। सत्ता की अपेक्षा अंगरेज उस समय कितने ही श्रेष्ठ रहे हों, पर वे राजाधिराज नहीं बन पाये थे, किन्तु उस समय उनकी सत्ता मुगलों के दीवान, कारभारी अथवा सेनापति के नाते की ही थी। १८३६ तक तो अंगरेज सरकार अपने को व्यापारी कम्पनी ही कहती थी। सतारा के महाराज से जो १८१६, ३६ में संधियाँ हुईं उन दोनों की अंगरेजी मुहरों में यही शब्द थे कि व्यापारी कम्पनी और दिल्ली के बादशाह के नौकर। इधर शिवाजी महाराज ने मुगलों की जीत कर अपना राज्याभिषेक कराया था और उनके स्वतन्त्र राज्य के उत्तराधिकारी महाराज प्रतापसिंह १८३६ में थे। १८३६ तक उसी प्रकार माना गया था। यदि कानूनी भाषा में कहा जाय तो कहना होगा कि दिल्ली के बादशाह के सम्बन्ध में महाराज का पद श्रेष्ठ और अंगरेजों का कनिष्ठ था। यदि बादशाह की ओर से मराठों को जो चौथ सरदेशमुखी की सनद मिली थी, उस दृष्टि से देखा जाय तो दिल्ली वालों से देना बादशाह के सनदी नौकर होने में दोनों का दर्जा समान ही ठहरता है।

अंगरेजों का यह कहना कि दिल्ली के किसी राजा के अधिकार समाप्त कर सकना है। १८१८ में सतारा के महाराज को जो अधिकार थे उनसे अधिक अधिकार इन्दौर में भी सब राजे राजवाड़े अधिराज्य राजा के नाम से करता है। बाजीराव अथवा उनके पहले के पेशवाओं की फिर किसी सत्ता मानकर करने का प्रश्न यदि उस समय के महाराजाओं में नहीं था तो इसका कोई कारण होना चाहिए। क्या इन्दौर के

राजा भी सहसा मन्त्रिमण्डल की सिफारिश नामन्जूर करने की कभी साहस करते। साराश यह कि पेशवा के मनमाने काम करने में महाराज की पदभ्रष्टता मानी नही जा सकता। इसी प्रकार अंगरेजों को सूचना दिये बिना पर राज्यों से सम्बन्ध न करने की शर्त मान लेने से भी महाराज का स्वातन्त्र्य नष्ट हुआ नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक राजा की विजय दूसरे राजा पर होने से विजित राजा को विजयी की कुछ शर्तें माननी ही पड़ती है, पर इसका यह अर्थ नही है कि उनके मान लेने से राजा की स्वतन्त्रता सर्वथा नष्ट हो जाय। इटली ने कार्थेज को जीता और उससे अन्य तथा अत्याचार पूर्ण शर्तें स्वीकार कराई, पर ऐसा कही सुनने मे नहीं आया कि उससे उनकी राजकीय स्वतन्त्रता नष्ट हो गई हो।

अंगरेज और सतारा के महाराज में जो सन्धि हुई थी वह युद्ध में जय, पराजय होकर नही हुई थी किन्तु दोनों ओर से स्नेह की ही सन्धि थी। और श्रेष्ठ तथा कनिष्ठ राज्यों में अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए अमुक अमुक कार्य करने तथा न करने की शर्तों की ऐसी सन्धि हो भी सकती है। १८०६ में काबुल के अमीर ने जो अंगरेजों से सन्धि की थी उसमें अमीर ने यह स्वीकार किया था कि मैं अपने राज्य में किसी भी फ्रेंच को न रहने दूंगा। तथा १८१५ में नैपाल के राजा ने अंगरेजो से सन्धि कर यह बात की थी कि सिक्किम के राजा से भगड़ा उपस्थित होने पर अंगरेजों की मध्यस्थता मे उसका निर्णय और अंगरेज उस सम्बन्ध में जो करेंगे वह मान्य करूंगा, परन्तु इन सन्धियो से अमीर की अथवा नैपाल की स्वतन्त्रता नष्ट होती हुई नही सुनी गई और न इन दोनो राजाओं को दत्तक लेने के लिए अंगरेजों से आज्ञा लेने की कोई आवश्यकता ही हुई यही बात सतारा के महाराज के सम्बन्ध में भी थी। सतारा के महाराज भले ही निर्बल हो गये हों और अंगरेज, प्रबल हों, पर सन् १८१७ के घोषणा पत्र में उन्हें स्वतन्त्र राजा ही माना था। जागीरदार नही, और बात कभी उलट नही सकती। एक राजा का राज्य या सैनिक शक्ति दूसरे से कम होने के कारण दूसरे की सहायता पर यदि उसे अवलम्बित होना पड़े तो इससे उस राज्य का स्वातन्त्र्य नष्ट नहीं हो जाता।

आज यह सिद्ध हो गया है कि यूरोप में निर्बल राजा भी स्वतन्त्र राजा हो सकते हैं। इंगलैंड स्वयं अपने मुँह से यह स्वीकार करता है कि निर्बल और आत्म रक्षा करने में असमर्थ राजाओं का स्वातन्त्र्य नियमानुसार सिद्ध करने ही के लिये हम इस महायुद्ध में सम्मिलित हुए हैं। सन् १८१९ की सन्धि में दोनों ओर के अंगरेज मराठा के सुभीते पर प्रायः अधिक ध्यान दिया गया था। सतारा के महाराज को अपनी आत्म रक्षा करना था और अंगरेजों को मराठों को सन्तुष्ट कर भावी युद्ध टालने के साथ साथ अपना खर्च और राज्य बचाना था। इसलिये दोनों ने परस्पर मिलकर यह

सन्धि की थी। दत्तक की आज्ञा लेने का वचन यदि अगरेजो को लगाना था तो उसी समय अन्य शर्तों के समान इसे स्पष्ट रीति से क्यो नही कह दिया। उस समय यदि सतारा के महाराज को स्वतन्त्र राज्य अगरेजो ने नही दिया होता तो कौन उनका हाथ पकडता था परन्तु, जब उन्होंने एक बार चाहे वह उदार मत से क्यो न हो राज्य दे दिया था फिर अगरजो को उसे वापिस लेने का अधिकार नहीं था। सारांश यह कि कानून, न्याय नीति आदि किसी भी दृष्टि से महाराज का राज्य खालसा करना अन्याय ही सिद्ध होता है। सतारा राज्य के सम्बन्ध मे इतने विस्तार पूर्वक चर्चा करने से हमारा यही प्रयोजन है कि जिस प्रकार यह बात ठीक है कि अगरेजो ने भारत मे बहुत सा राज्य तलवार के बल से प्राप्त किया उसी प्रकार उन्होंने कुछ राज्य, न्याय की ओर देखते हुए, राज्य लेने की तृष्णा से भी प्राप्त किया यह भी असत्य नही है। लार्ड डल हौजी के शासन काल मे अगरेजो को जो राज्य मिले उनके लिये प्राय वही बात कही जा सकती है जो कि सतारा नरेश को राज्य लेने के सम्बन्ध मे कही गई है। परन्तु अब इस विषय पर अधिक विस्तार पूर्वक चर्चा करने की हमारी इच्छा नही है।

मराठाशाही के नाश होने के वास्तविक और अवास्तविक कारणो का विवेचन और भी अनेक दृष्टियो से किया जा सकता है परन्तु विस्तार भय से यहां पर केवल एक और कारण पर विचार कर इस अध्याय को हम समाप्त करेंगे।

जाति भेद और राज्य नाश

कुछ लोगो का यह भी कहना है कि मराठाशाही की अवनति का एक कारण जाति भेद भी था, परन्तु हम इस बात के कहने में बहुत सन्देह है। यद्यपि यह ठीक है कि महाराष्ट्र मे जाति भेद था, परन्तु उसकी उत्पत्ति बालाजी विश्वनाथ पेशवा के समय से ही नहीं हुई थी ? वह सनातन काल से चला आता था और न केवल महाराष्ट्र ही मे था, वरन् भारतवर्ष के दूसरे भागो मे भी महाराष्ट्र ही के समान हजारो वर्षों से प्रचलित था। ऐसी दशा मे उसका दुष्परिणाम अठारहवी शताब्दी के अन्त मे ही हुआ यह नही कहा जा सकता। पहले जब मुसलमानो ने महाराष्ट्र का बहुत सा भाग जीत लिया, उस समय भी जाति भेद था। मुगलो की चढाई के समय मे भी था और फिर जब मराठो ने मुगलो से राज्य छुडाया और शिवाजी महाराज ने नवीन स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की उस समय भी वह था शिवाजी के पश्चात् मुगलो ने जब फिर महाराष्ट्र पर अधिकार किया इस समय भी वह था, राजाराम महाराज के समय मे बीस वर्षों तक बराबर झगड कर मराठो ने स्वतन्त्रता की रक्षा की तब भी वह था। इसके पश्चात् जब सवाई माधवराव के समय मे दिल्ली तक मराठी सत्ता हो गई उस समय भी वह मौजूद ही था और अन्त मे बाजीराव के समय मे जब मराठाशाही का नाश

हुआ तब भी वह विद्यमान था। सारांश यह कि शिवाजी महाराज के दो सौ वर्ष पहले से दो सौ वर्ष पीछे तक जाति भेद एक ही स्वरूप में महाराष्ट्र में विराजमान था। मुगलों के समय में तो जाति भेद का प्रभाव नहीं पड़ा, परन्तु अंगरेजों के समय में उसका प्रभाव पड़ा, इसका प्रमाण क्या ?

मुगलों के समय में जो मराठे और ब्राह्मण कंधे से कंधा मिलाकर उनसे लड़ते थे क्या वे अपने मन और काय के कारण आज की दृष्टि से समाज सुधारक कहे जा सकते हैं ? नहीं जिस समय महाराज शिवाजी ने महाराष्ट्र मण्डल को मिलाकर मुसलमानों से देश की रक्षा करने की योजना बनाई थी, उस समय उन्होंने जाति भेद के विरुद्ध कोई व्याख्यान नहीं दिया था। उन्होंने अपने राज्य में केवल गुण की ओर कर्त्तव्य परायण पुरुषों को अपने पास खींच लिया तथा अकर्मण्यों को दूर कर दिया। उनके सम्बन्ध की यह बात प्रसिद्ध ही है। उन्होंने कभी यह भेद नहीं किया कि अमुक ब्राह्मण है और अमुक मराठा है और ऐसी स्थिति में भी जब कि महाराज शिवाजी सनातन पद्धति के अनुसार जाति भेद के कट्टर मानने वाले थे, उन्होंने लोगों का चुनाव सद्गुणों के कारण किया, न कि जाति भेद अथवा समाज सुधार के द्वेष से। इसी प्रकार पेशवा के समय में भी जाति भेद मान्य था। फिर भी प्रत्यक्ष राज्य व्यवहार में स्वजातीय लोगों की नियुक्ति आदि का व्यवहार कभी नहीं दिखलाया गया, किन्तु राज्य कल्याण की दृष्टि से ही व्यक्ति का चुनाव आदि होता था। बालाजी विश्वनाथ के समय में जिन लोगों की वृद्धि हुई उनमें प्रतिशत पाँच भी ब्राह्मण लोग ही थे। उस समय की सूची देखने से विदित होता है कि उस समय बड़े बड़े पद पर प्रायः ब्राह्मण सरदार ही थे। पेशवा पर एक यह भी दोष लगाया जाता है कि उन्होंने कोकणस्थ ब्राह्मणों का बहुत उपकार किया, परन्तु इस दोषारोपण के लिये कुछ भी विशेष आधार नहीं है। बहुरे, फड़के, रास्ते, पटवर्धन, मेहेन्दले तथा एकाध और दूसरे को छोड़ जिसे हम नहीं जानते होंगे और कौन कोकणस्थ सरदार था। पेशवा के सिवा शेष सब मन्त्रिगण तथा विंचूरकर पानसे, पुरन्दरे, मजूमदार हिंगडे आदि सब सरदार मराठी देशस्थ थी। इसके सिवा गोविन्द पन्त बुन्देला के समान कहाडे सरदार भी अनेक थे। ले देकर निम्न कर्मचारी ही कोकणस्थ ब्राह्मण थे। ऐसी दशा में यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि पेशवा जाति पक्ष करते थे अथवा उन्होंने ब्राह्मणों का बहुत कल्याण किया था।

यह बात ठीक है कि उच्च पद पर जिस जाति का व्यक्ति होता है उस जाति के लोग धीरे धीरे उसके कार्य विभाग में थोड़े बहुत भर ही जाते हैं परन्तु यह नियम केवल कोकणस्थों के लिए ही लागू नहीं है बल्कि हिन्दुओं की सब जातियों और यहाँ तक कि मुसलमान पारसी, अंगरेज आदि के लिये भी मनुष्य स्वभाव रूप जान के कारण लागू हो सकता है। अंगरेजी राज्य में भी इसके उदाहरण जितने चाहो उतने मिलेंगे।

यदि किसी एकाध कलेक्टर का सेक्रेटरी या रिश्तेदार, एक प्रभू अथवा सारस्वत जाति का होता है तो थोडे ही दिनो में कई महत्व के स्थान उसके जाति वालो से भरे हुए पाये जाते हैं। यदि कोई गत कुछ वर्षों के भीतर बम्बई प्रांत मे मुन्सिफी का पद किन-किन जाति वालो को दिये गये इसकी सूची प्रकाशित करे तो हमारे उक्त विधान का समर्थन उससे अच्छी तरह हो सकेगा। बम्बई के कर्मचारी मण्डल में इस बात की शिकायत बड़े जोर शोर से रही है कि बम्बई की म्युनिसिपैलिटी तथा ओरियंटल इन्श्युरेन्स कम्पनी के कार्यालय मे पारसी लोग बहुत भर गये हैं। जो बात पारसियो के संबध मे कही जा सकती है वही क्रिश्चियनो के सम्बन्ध मे भी लागू है। हेलिबरी कालेज से भारत मे जो सिविलियन आते थे उनके सम्बन्ध में विलायत मे भी शिकायत थी कि प्राय ठहरे हुए कुछ घरानो के लोग भेजे जाते हैं। भारतीय ब्रिटिश शासन के पहले सौ वर्षों का इतिहास यदि देखा जाय तो उसमे प्राय एक ही उपनाम के एक पर एक आये हुए अधिकारी देखने को मिलेंगे। स्वय विलायत अथवा अमेरिका में भी यदि जाति भेद नही है तो भी पक्ष भेद बहुत ज्यादा है और विलायत मे कल तक बहुत से घरानो मे एक ही राजकीय पक्ष बड़ी निष्ठा और अभिमानपूर्ण व्यवहार करता हुआ दिखलाई पड़ता था। साराश यह है कि चिरपरिचित, आखों के आगे के अपने साथ के और हित सम्बन्धी तथा काम कर सकने वाले अपने मनुष्यो को छोड कर दूसरे दूर के मनुष्यो को ढूढ कर उन्हे नियत करने की लोकोत्तर निस्वार्थ भावना, पक्षपात शून्यता परोपकार बुद्धि आज तक किसी भी राष्ट्र मे और कभी भी विशाल रूप मे नही देखी गई है। पेशवा कोकणस्थ ब्राह्मण थे घराने उन्नत दशा मे लाये उनमे भी यदि अधिक लाये होते तो भी उनका ऐसा करना ऊपर दिखलाये हुए मनुष्य स्वभाव के अनुसार ही होता, परन्तु ऊपर बतला चुके हैं कि पेशवा के हाथ से ऐसा कोई काम नही हुआ।

यदि पेशवा पर कोई यह आरोप करे कि उन्होंने अपनी निजी सत्ता की अभिलाषा की तो इस विषय मे हम उनका विशेष रीति से समर्थन नही करना चाहते, क्योकि जो बात पेशवा के लिए कही जा सकती है वही ब्राह्मण सरदारो की भी थी। शिवाजी के समय मे अष्ट प्रधान और सरदारो की नौकरी वंश परम्परा से नही दी गई थी। इसका कारण यह था कि उस समय राज्य का प्रारम्भ काल ही था, तो भी उनके समय मे भी परम्परागत नौकरी की जड जम गई थी और आगे जाकर वही पद्धति सरदारो में भी लागू हो गई थी। इग्लैंड मे आज भी यह पद्धति देखने को मिलती है। वहाँ कायदा कानून बनाने का अधिकार जिन दो सभाओं को है उनमे से हाउस आफ लार्ड्स में सैकडा ऐसे लार्डों ने स्थान रोक रखा है जो न तो प्रजा के द्वारा ही चुने जाते हैं और न जिन्हे राजा ही नियुक्त करते हैं। केवल जन्म सिद्ध अधिकार के बल सैकड़ो वहाँ से उक्त लार्ड्स सभा मे स्थान पाने और कायदे कानून बनाने के हक — —भोग करते आ रहे हैं।

यह भी कहा जाता है कि जाति भेद के कारण ही महाराष्ट्र में फूट हुई और अवनति का प्रारम्भ हुआ, परन्तु इस कथन के लिये प्रमाण बहुत कम है क्योंकि इसके सम्बध मे कई उल्टी सीधी बातें सिद्ध की जा सकती हैं। जाति भेद के प्रबल होने पर भी जब मराठा शिवाजी महाराज ने चन्द्रराव मोरे सरीखे मराठा सरदार को जान से मरा, अहैक प्रभू घराना को ऊचा उठाया और इतने भारी पराक्रम से प्राप्त किया हुआ राज्य ब्राह्मण रामदास के चरणो मे अपण करने की तत्परता दिखलाई तो फिर जाति भेद किस तरह दोषी सिद्ध किया जा सकता है। सिंधिया और होलकर के ब्राह्मण होने पर भी दोनो मे तीन पीढ़ियो तक द्वेष क्यो रहा ? यदि यह कहा जाय कि पेशवा के समय मे देशस्थ और कोकणस्थ का भेद अधिक हो गया था तो पशवा पशवा म जो झगडा हुआ वह तो कोकणस्थो की ही परम्परा का झगडा था सो क्या हुआ ? हरिपत फडके और परशुराम भाऊ ने जो नाना फडनवीस का पक्ष लिया था वह कोकणस्थ के नाते म नही लिया था। एक ओर रघुनाथराव और मोरोबादादा दूसरी ओर माधवराव नाना फडनवीस प्रभृति म इस प्रकार म जो गाठ पड गई थी वह जाति द्वेष के कारण नही पडी थी, इसी प्रकार के झगडे आगे पीछे सिंधिया, होलकर, अगरेज, भोसले, गायकवाड आदि के घरानो मे भी हुए पर इनका कारण जाति भेद नही कहा जा सकता। यद्यपि हम यह जानते हैं कि मूल झगडो को जाति भेद के कारण कुछ बल मिला जैसा कि ब्राह्मण और कायस्थो के झगडे के कारण उस समय मराठाशाही मे असन्तोष फैल गया था परन्तु वे झगडे सदा रुपय पैसे तक ही होते थे अर्थात् झगडा और फूट का कारण शुद्ध जाति भेद न होकर अन्य कोई हुआ करता था।

न्यायमूर्ति रानाडे ने भी जाति भेद का उदाहरण देते हुए बतलाया है कि देशस्थ ब्राह्मणो ने रघुनाथराव का और कोकणस्थ ब्राह्मणो ने नाना फडनवीस का पक्ष लिया था, परन्तु देशस्थो ने जिस रघुनाथराव का पक्ष लिया था वह रघुनाथराव स्वय कोकणस्थ ब्राह्मण था। ऐसी दशा मे यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि यह पक्ष जाति भेद के कारण लिया गया था। हाँ, यदि यह सिद्ध किया जा सके कि देशस्थो ने एका कर किसी देशस्थ को या मराठा ने मराठे को पशवा बनाना चाहा था तो बात दूसरी है। साराश यह कि जिस प्रकार मराठा की आपसी कलह के प्रमाण बहुत है, उसी प्रकार वह कलह जाति भेद के कारण हुई, इसके लिये अधिक प्रमाण नही मिलते हैं। इसलिये ऐसे ही प्रमाण अधिक प्राप्त हैं जिनसे यह सिद्ध किया जा सकता है कि व्यक्ति गत स्वार्थ के सम्बध म लोग जाति पाति के भावो को खूटी पर टाग देते थे और अपने स्वार्थ के लिए दूसरी जाति के लोगो को अपना लेते थे। इस समय के जाति भेद के सम्बन्ध मे न्यायमूर्ति रानाडे ने जो विधान किया है उसकी अपेक्षा उनका यह दूसरा विधान हमे अधिक ग्राह्य है, जो उन्होने मराठी सत्ता का उत्कर्ष नामक पुस्तक के "बीज कैसे बोया गया ?" नामक प्रकरण मे किया है, वह विधान इस प्रकार है—"हिन्दुओ

की फूट के कारण ही भारत में विदेशी लोग घुस सके हैं'। हिन्दुओं को व्यवस्थित काम करने का न तो ज्ञान है और न मिलकर काम करने का उन्हें अभ्यास ही है। उन्हें नियमानुसार शांति के साथ काम करने से प्राय: घृणा है और सभ्यता तथा छोटे बाप के बेटे बनकर चलने का उपदेश उन्हें रुचता ही नहीं है। ऐसी दशा में व्यवस्थित रीति से सङ्गठित सेना के आगे हिन्दुओं की सत्ता यदि नहीं टिक सकी तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। शिवाजी महाराज इस बात का सतत प्रयत्न करते रहे कि हिन्दुओं के ये दोष नष्ट हो जायँ और इस छोटी सी बात से बड़े से बड़े राजकामों तक में समाज के हित, समाज के उत्कर्ष को अपना उत्कर्ष और समाज के अपमान को अपना अपमान समझने लगें।" श्रीयुत रानाडे का यह विधान वास्तव में ठीक है, परन्तु शिवाजी महाराज ने जिन मार्गों से प्रयत्न किया उस पर यदि विचार किया जाय तो विदित होगा कि जिस दृष्टि से आज जाति भेद को समझ कर मराठाशाही की अवनति का कारण माना जाता है उस दृष्टि से जाति भेद करने का प्रयत्न शिवाजी महाराज ने कभी नहीं किया।

शिवाजी महाराज पूर्ण हिन्दू धर्माभिमानी थे। इसी धर्माभिमान के जोर पर महाराज ने राष्ट्र को जागृत किया था। महाराज को जिस धर्म का अभिमान था वह सनातन धर्म ही था और उस सनातन धर्म का मुख्य आधार भूत चातुर्वर्ण नहीं था या आचार का मुख्य अङ्ग जाति भेद भी नहीं था ऐसा कोई भी प्रमाणिक पूर्वक कह नहीं सकता। शिवाजी के जाति भेद नष्ट करने के प्रयत्न करने की बात तो दूर रही, किन्तु उनकी इस प्रकार की भावना के सम्बन्ध में भी कोई प्रमाण नहीं मिलता कि जाति भेद की संस्था अथवा व्यवस्था राष्ट्र हित की दृष्टि से बहुत घातक है और इससे राजकीय प्रगति में बाधा उपस्थित होती है। महाराज शिवाजी की "गो ब्राह्मण प्रतिपालक" यह विरुद थी और यह विरुद उन्होंने राजपत्रों में लिख रखी थी परन्तु इसे उन्होंने उस समय के ब्राह्मणों से डर कर या किसी को फँसाने के लिए नहीं लिखा था। इससे यही सिद्ध होता है कि उनकी जाति भेद पर श्रद्धा ही थी। ऐसी दशा में भी जब उन्होंने चातुर्वर्ण्य विशिष्ट हिन्दू धर्म का अभिमान प्रदीप्त कर ब्राह्मण और मराठों को कन्धे से कन्धा भिड़ा कर प्राण हथेली में ले मरने को तैयार किया तो इससे यही प्रयोजन निकलता है कि उन सब को धर्म का ही महत्व अधिक मालूम होता था और उनके हृदय पर धर्म का जो असर बैठा था उसके उत्कर्ष काल में जाति भेद अथवा जाति द्वेष आड़े नहीं आता था। इस पर भी यदि अधिक विवेक पूर्वक कहा जाय तो कहना होगा कि शिवाजी महाराज ने अपने [illegible] के लोगों को [illegible] मुग्ध कर समाज [illegible] किये वा तैयार किए [illegible] होने के कारण तैयार नहीं [illegible] और न महाराज [illegible] सनातन धर्म [illegible] होने के ही कारण हुए, किन्तु [illegible] तथा शूर [illegible] और बुद्धिमान [illegible] परिवर्तन हो गया। अतएव

उन्नति अवनति का आधार जाति भेद पर रखा जाना उचित नही है । जिस प्रकार शिवाजी महाराज के पहले अवनति का कारण जाति भेद था ऐसा नही कहा जा सकता उसी प्रकार उनके समय की जाति भेद शून्य बुद्धि को उस काल की उन्नति का कारण नही कहा जा सकता है ।

शाहजी, शिवाजी और संभाजी इन तीन पीढ़ियों के लगातार मे कारण देखे जाँय तो इनमे धार्मिक विचार अथवा आचार म विशेष अंतर न मिल व्यक्तिगत स्वार्थ मूल जन की पात्रता है, परन्तु महाराष्ट्र म पात्रता का उद्दीपन राष्ट्रीय प्रेम बुद्धि पर अवलंबित न होकर विभूति पूजन की वृद्धि पर अवलंबित है और आज भी यही हाल है । यहाँ यह कह देना भी उचित प्रतीत होता है कि राष्ट्राभिमान के लिए जाति भेद के नाश की आवश्यकता नही है । सामुदायिक हित के लिए व्यवस्थित रहना, नियमो के उल्लंघन नही करना और राष्ट्रीय हित के शत्रुओं के विरुद्ध सदा आपस के लोगो का अभिमान रखना, जाति भेद के रहते हुए भी हो सकता है । जाति भेद के रहते हुए राष्ट्र हित बुद्धि उत्पन्न हो सकती है या नही इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' मे ही दिया जा सकता है क्योंकि जाति भेद और धर्म भेद के कट्टर अनुयायियों से भी राष्ट्र हित की बुद्धि उत्पन्न हो सकती है, जाति भेद के रहते हुए उनकी उत्पत्ति होने मे क्या बाधा हो सकेगी । यूरोप में अनेक धर्म पंथ के लोग एक ही राष्ट्र के अभिमानी देखे जाते हैं । स्पेन का रोमन कथालिक राजा जब प्रचंड जहाजी बेड़े को लेकर इंग्लैंड पर चढ़ाई करने आया तब इंगलैण्ड के प्रोटेस्टेंटों के साथ रोमन कैथोलिक लोगों ने भी उसकी तैयारी की थी । आज भी यूरोप में जो महायुद्ध हो रहा है उसमे प्रोटेस्टेंट इंग्लैण्ड कथोलिक फ्रांस और रोमन कैथोलिक इटली एक दूसरे का पक्ष लिये हैं, उधर प्रोटेस्टेंट जर्मनी और कैथोलिक आस्ट्रिया से लड रहे हैं । मुसलमान धर्मावलम्बी अरब लोग इंगलैण्ड की ओर से लड़ते हैं और तुर्क जर्मनी की ओर से ।

जाति भेद रहना उचित है या नहीं इसका तात्विक उत्तर कुछ भी हो और स्वयं लेखक भी उसका न होना ही उचित है ऐसा समझने वालो मे से एक है, तो भी उसका विचार तात्विक न्याय बुद्धि और व्यवहार इन दो दृष्टियो से करना पड़ता है । न्याय बुद्धि से देखने पर ईश्वर का किसी एक जाति को सदा के लिये जन्म श्रेष्ठ अधिकार देना और दूसरी जाति को सदा के लिये कनिष्ठ स्थिति म रखना कभी न्याय नही कहा जा सकता । ऐसा कहना ईश्वर के न्याय की हँसी करना है । उत्कृष्ट राजा के शासन के समान ईश्वर के शासन मे संपूर्ण प्राणि मात्र के उत्क्रान्ति करने का समान् अवसर मिले ऐसी इच्छा न करना मानो ईश्वर को अन्यायी मनुष्यो से भी अधिक अन्यायी कहना है । यदि व्यवहार दृष्टि से देखा जाय तो जिन्हे राजकीय स्वातंत्र्य प्राप्त करने की इच्छा है, उन्हे जाति बंधन शिथिल करने के शास्त्रों को

आज तक राजनीतिक क्षेत्र मे उपयोग मे नहीं लाया हुआ शास्त्र समझ कर उपयोग में अवश्य लाना चाहिए। चाहे उनके तात्विक विचर कुछ भी हो। हर समय प्रत्येक राष्ट्र की कोई न कोई सर्वश्रेष्ठ अथवा सबों को आकर्षित करने वाली भावना होती ही है। शिवाजो महाराज के समय मे राष्ट्रीय भावना धर्म को अपेक्षा राजनीति पर ही अधिक अवलम्बित रहती थी और आज इस बीसवी शताब्दी मे भी हमारी दृष्टि धर्म की अपेक्षा राजनीतिक कार्यों पर ही अधिक है। राष्ट्र भक्ति की औषधि जो पहले थी वही अब है। उस समय सनातन धर्म कल्पना के अनुमान मे दी जाती थी परन्तु आज उस कल्पना को अधिक उदार बनाकर बदली हुई सामाजिक परिस्थिति के अनुपान मे देना चाहिए। यह विवेचन वर्तमान काल के लिए है। परन्तु आज जिसका सम्बन्ध सम्पूर्ण जगत् के साम्राज्यों से है, उस स्थिति को मन से पहले के काल में सङ्क्रमित कर आज की अड़चनों को ही उस समय की अड़चने समझना और यह कहना कि जाति भेद के ही कारण राष्ट्र का नाश हुआ, उचित नहीं है।

आठवाँ अध्याय

मराठाशाही की सैनिक व्यवस्था

अङ्ग्रेज ग्रन्थकारों ने जहाँ तहाँ मराठों का उल्लेख चोर, लुटेरा और डाकू के नाम से ही किया है और यह ठीक भी है। क्योंकि अङ्ग्रेजों का भारत में प्रथम पहल मराठे ही बराबरी के प्रतिस्पर्धी मिले थे। फिर भला वे शत्रु के विषय में क्या अच्छे उद्गार प्रगट करने लगे ? और न ऐसा किसी ने किया भी। मराठों की अपेक्षा अङ्ग्रेजों को लिखने पढ़ने का अधिक प्रेम था और वे प्रायः इतिहास, प्रबन्धक, दैनिक कार्य विवरण (डायरी) टिप्पणियाँ कैफियत वर्णन और विवेचन लिखा करते थे। इसलिये अङ्ग्रेजों ने मराठों के सम्बन्ध में जितना लिख रक्खा है उतना मराठों ने अङ्ग्रेजों के सम्बन्ध में नहीं लिखा। केवल इतिहासकार और नीतिज्ञों ने कहीं कहीं प्रसङ्गानुसार, बहुत थोड़ा उड़ती हुई दृष्टि से उल्लेख किया है। आजकल अङ्ग्रेजी राज्य होने और अङ्ग्रेजी ग्रन्थों के छप जाने के कारण वर्तमान काल के सुशिक्षित लोगों को पढ़ने में यही अङ्ग्रेजों का लिखा हुआ ऐतिहासिक साहित्य आता है। एक ही ओर का साहित्य पढ़ने से बुद्धि में भ्रम हो जाना स्वाभाविक है परन्तु गत पच्चीस तीस वर्षों से महाराष्ट्र के इतिहास भक्तों ने ऐतिहासिक संशोधन से जो देश की सेवा की है उससे मराठों के सम्बन्ध में इतना सच्चा साहित्य उपलब्ध हुआ है कि यदि कोई मराठों के सम्बन्ध में पूर्ण परिचय प्राप्त करना चाहे तो उसे साहित्य का अभाव नहीं खटकेगा। अब हमें इस अनीति की कथा के अनुसार मनुष्य के द्वारा बनाये हुए सिंह के चित्र पर अवलम्बित रहने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि अब सिंह के द्वारा बनाया हुआ मनुष्य का चित्र भी देखने को मिलने लगा है। मराठों ने जो अङ्ग्रेजों का वर्णन लिखा हैं उसकी अपेक्षा उनके लिखे हुए कागज पत्रों में उन्होंने अकल्पित रीति से निज का जो चित्र लिख दिया है, इस समय उसी से हमें अधिक काम है। इस चित्र को अच्छी तरह देखने से मराठों पर यह आरोप नहीं लगाया जा कि वे केवल खोर के मूसल ही थे। लड़ने व लूट करने के सिवा उन्होंने कुछ किया ही नहीं तथा वे शांति के सुख जानते ही न थे और न सङ्गठित राज्य पद्धति के मूल तत्वों के ही जानकर थे।

स्वर्गीय न्यायमूर्ति रानाडे महोदय ने अपनी "मराठी सत्ता का उत्कर्ष" नामक पुस्तक में बड़ी अधिकार युक्त वाणी में मराठों पर किये गए इन आरोपों का अच्छी तरह खण्डन किया है और उनकी योग्यता दूसरे प्रान्तवासियों को समझा दी है।

आपने अपने इस कार्य से पूर्वज ऋण और राष्ट्र ऋण को बड़ी अच्छी तरह से चुकाया है। ग्रांट डफ नामक अंगरेज इतिहासकार ने लिखा है कि—"सह्याद्रि पर्वत के जंगल में जिस प्रकार बवूला उठता है और उसमे सूखे पत्ते इकट्ठे होकर उसमें एकदम आग लग जाती और थोड़ी ही देर में शात भी हो जाती है उसी प्रकार मराठा की सत्ता की दशा थी।' श्रीयुक्त रानाडे महोदय ने इसका उत्तर प्रौढ और ठीक शब्दों मे दिया है और सिद्ध किया है कि ऐसे लोगो ने मराठी इतिहास के मर्म को समझा तक नहीं है। रानाडे कहते हैं कि लुटेरो के हाथो से पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाली बादशाहत की स्थापना कभी नहीं हो सकती या यों कहिये कि देश के एक बड़े भाग के राजकीय नक्शे को मनमाना रगने और उसे स्थाई बना देने का काम उनसे नहीं हो सकता। इसके लिए मनुष्यो मे किसी विशेष प्रकार के उत्साह की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार क्लाइव और वारन हेस्टिंग्ज के समान साहसी अङ्गरेजो के हाथो से भारत में बृटिश राज्य की स्थापना होने में वास्तविक ही रीति से परन्तु परोक्ष भाव से धनी, बलवान और दृढ निश्चय ब्रिटिश राज्य की वृद्धि और सत्ता कारणीभूत हुई, उसी प्रकार मराठो के सम्बन्ध मे भी हुआ। यदि मराठे व्यक्तिशः कितने ही साहसी शूर और बलवान होते, परन्तु उनमे राष्ट्र प्रेम और राष्ट्रभक्ति नहीं होती और वे मराठी राष्ट्र को कुछ महत्व नहीं देते होते तो उनके द्वारा मराठी साम्राज्य की स्थापना कभी नहीं हो पाती। महाराष्ट्र मे वीरो के समान राजनीतिज्ञ पुरुषो की परम्परा भी सैकड़ो वर्षों से चली आ रही थी और इस परम्परा को बनाये रखने में मराठा राष्ट्र की कल्पना ही उपयोगी हुई। राष्ट्र कोई फिजिक्स परीक्षा के समान कोई वस्तु तो है नहीं जिसकी चिता में से तुरन्त ही कोई नवीन और सजीव प्राणी उत्पन्न हो जाय और न अहिरावण महिरावण ही है जिनकी एक रक्त बिंदु से केवल व्यक्तिनिष्ठ महत्वाकांक्षा की भूमि में सैकडों अहिरावण महिरावण उत्पन्न हो जाँय। मराठो को अन्त मे अङ्गरेजो ने जीता। इसलिए यह कहा जा सकता है कि अङ्गरेज मराठो की अपेक्षा अधिक राष्ट्र प्रेमी उद्योगी एकनिष्ठ तथा भौतिक और नैतिक सामर्थ्य मे श्रेष्ठ थे, परन्तु एक ने दूसरे को जीता इसलिए एक सब गुण सम्पन्न और दूसरा बिलकुल मूर्ख नहीं माना जा सकता। भारतवर्ष मे सैकडों जातियों के रहते हुए जो बात दूसरी जातियाँ न कर सकीं अर्थात् मुगलो का सामना कर उसमे यश प्राप्त करना और सम्पूर्ण देश में स्वराज्य की स्थापना करना वह मराठों ने की और एक इसी बात से उनकी विशिष्ट सिद्ध होती है। जब राष्ट्र मे प्रत्येक मनुष्य के हृदय मे राष्ट्रीय बुद्धि का बीज बो दिया जाता है अथवा उसके हृदय में राष्ट्रीय स्वाभिमान की मजबूत और गहरी नींव डाल दी जाती है तभी ऐसे अलौकिक पराक्रम किये जा सकते हैं। जिन्हें राष्ट्रीय राजकरण कह सकते हैं ऐसी विलक्षण प्रकार की जो एक के बाद एक घटनायें हुई हैं, उन्हीं से मराठा राज्य की स्थापना हुई। मानव शास्त्र की दृष्टि से मराठी राष्ट्र

का विचार करने पर कोई भी यह कहने का साहस नही कर सकेगा कि सब मराठो में धर्म, भाषा राजकीय विचार, सामुदायिक महत्वाकांक्षा और ध्येय आदि अतस्थ हेतु समान नही थे। इन्ही अतस्थ हेतुओ पर शत्रु, परिस्थिति सकट आदि ऐक्य हेतुओ की जोड मिल जाने से उनका एका और भी अधिक शीघ्र फलप्रद हुआ होगा उक्त अतस्थ कारणो से ही मराठा की भूतकाल मे इतना महत्व प्राप्त हुआ। रा० ब० रानडे ने भविष्य कथन को समझाकर कहा है कि—'समय आने पर भारतवर्ष के राष्ट्रीय तत्वानुसार विभाग होंगे और वे विभाग स्वतत्र सस्था न बनकर बादश ही सत्ता के साम्राज्य सूत्र मे बध्द होगे। ऐसे समय मे कौन कौन सी बात साध्य की जा सकेगी और भविष्य मे भारतवर्ष की योग्यता किस प्रकार की होगी, इसका गहरा विचार करने वाले को मराठी इतिहास से बहुत कुछ सीखना पडेगा और उसमे भी वर्तमान के मराठो को भविष्य के इतिहास मे कौन सा कार्य भार उठाना पडेगा, इसके निर्णय के काम मे तो मराठो का इतिहास बहुत ही उपयोगी होगा।

किसी भी राष्ट्र के इतिहास का अध्ययन करते समय स्वाभाविक रीति से उस राष्ट्र का सैनिक सामर्थ्य और पराक्रम की ओर लक्ष जाता है क्योकि राज्य सपादन और राज्य की रक्षा करने के कार्य मे सैनिक शक्ति की आवश्यकता सबसे पहले होती है। राजकाज को यदि शतरज के खेल की उपमा ठीक बैठती भी हो, तो भी सर्वांश मे वह घटित नही होती क्योकि शतरज के खेल मे दोनो पक्षो के मान्य नियमो का बधन होता है इसलिए एक पक्ष के राजा के मुहर को प्यादा शह देते समय उस पक्ष का खेलने वाला कितना ही बलवान क्यो न हो तो भी दूसरे पक्ष का हाथ पकडकर वह यह नही कह सकता कि तुम शहमत दो, परन्तु राज कार्य मे यह बात नहीं है। भले ही कुछ समय तक खेल के नियमानुसार राज कार्य मे धर्म न्याय प्रसङ्ग नीति आदि का अवलम्बन किया जाय, परन्तु अन्त मे जब कठिन प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है तब सब नियम एक ओर रख दिए जाते है और अत मे जिसकी तलवार उसी का यही नियम सत्य ठहरता है। नाना फडनवीस यद्यपि बहुत बडे राजनीतिज्ञ थे, तथापि जब वास्तविक तलवार से सामना हुआ तब उनकी राजनैतिक चतुरता को तलवार को झुकना ही पडता था। महाराज शिवाजी राजनीतिज्ञ थे, परन्तु तलवार बहादुर भी थे। यदि वे तलवार बहादुर नही होते तो केवल राजनीति के बल वे स्वराज्य की स्थापना न कर पाते। साराश यह कि राज्य स्थापना और रक्षा के कार्य मे सैनिक शक्ति मुख्य है। अत यहाँ पर सबसे पहले मराठो की सैनिक शक्ति पर विचार करना उचित है।

पेशवा की तैयार फौज बहुत थोडी थी। सरदारो का और तैनाती फौज ही अधिक थी। मराठी राज्य के मुख्य स्वामी सतारे के महाराज थे, परन्तु उनके पास भी हजार दो हजार तैयार फौज कभी रही होगी या नही इसमे सदेह ही है। सम्मान की दृष्टि से महाराज के बाद पेशवा थे, परन्तु उनके पास भी दस पाँच हजार से अधिक तैयार फौज

नहीं थी। पेशवा की मुख्य फौज हुजरात और खास पायगा थी और उसका प्रबन्ध पेशवा के द्वारा नियुक्त हुए पात्र सरदार के द्वारा होता था।

पेशवा के आश्रय में जो सरदार थे और उन्हें जितनी फौज रखने की आज्ञा दी गई थी तथा उस फौज के खर्च के लिए जो जागीर प्रदान की गई थी उसकी सूची मराठी 'काव्य इतिहास संग्रह' में प्रकाशित हुई है। इस पर से यहाँ संक्षेप में उन सब का वर्णन किया जाता है—

सरदार	सेना	जागीर
मल्हारराव होलकर	२० हजार सवार	६५ लाख की
आनन्दराव पवार	१५ हजार सवार	५ लाख
पटवर्धन चिंतामणपांडुरंग, गंगाधर गोविन्द	३ हजार सवार	११ लाख
पटवर्धन परशुराम रामचंद्र	१॥ हजार सवार	६॥ लाख
पटवर्धन कुरुंदवाडकर	३ सौ सवार	२॥ लाख
प्रतिनिधि	५ हजार सवार	१४ लाख
रास्ते	३ हजार सवार	११ लाख
मुधोलकर घोरपडे	८ सौ सवार	४ लाख
पानसे	तोपखाना	०॥ लाख
थोरात	५ सौ सवार	१। लाख
भापकर	१॥ सौ सवार	६० हजार
हरिपंत फड़के	२ सौ सवार	१ लाख ८० हजार
नाना फड़नवीस	७ सौ सवार	४॥ लाख
त्र्यंबकराव पेठे	१२ सौ सवार	७। लाख
अक्कल कोटका भोसले	१ हजार सवार	४॥ लाख
सुलतानराव	५ सौ सवार	१॥ लाख
पुरन्दरे	३ सौ सवार	२ लाख ३२ हजार
शेख मिरे	१॥ सौ सवार	६० हजार
अंबेकर	×	८० हजार
सुलतानी भोसले (खानदेश)	२ सौ सवार	७५ हजार
नायगांवकर	५ सौ सवार	१ लाख ५० हजार
राजेबहादुर	३ हजार सवार	६ लाख
विट्ठलराव सुन्दर	३ हजार सवार	१२ लाख
खंडेराव बीडकर	८ सौ	२ लाख ४० हजार
अली बहादुर	१० हजार	२२ लाख

सरदार	सेना	जागीर
दाभाडे	५ सौ	१ लाख ३५ हजार
रघूजी भोसले	२५ हजार	१ करोड
गायकवाड	५ हजार	७२ लाख
इसलामपुर मन्त्री	३ सौ	७५ हजार
आग्रे (कुलावा)	×	३ लाख
सुमन्त	×	२५ हजार
चिटनवीस	×	७५ हजार
अमात्य	×	१५ हजार
सचिव	×	२ लाख १२ हजार
राजाज्ञा	×	३० हजार
(सब मिलाकर राज मण्डल १ करोड ८० लाख)		
कोल्हापुर का राजमंडल	३ हजार	६ लाख २२ हजार
बारामती के नायक	२ सौ	१ लाख ६५ हजार
भोसले शम्भुमहादेव	×	४५ हजार
चारों जगह के निवाल कर	×	२ लाख ५७ हजार

सरदेशमुखी चौथ के सम्बन्ध म घास दाना आदि इस प्रकार नियत था—

सरञ्जाम की बाबत	२० लाख
दूसर सरञ्जाम	२ लाख

दौलतराव सिन्धिया आलीशाह बहादुर। सिन्धिया, होलकर और पवार को सरजामी जागीर के सिवा बादशाही दिल्ली और अकबराबाद, आदि सर करने के कारण आमदनी मे से क्रमश २,२३,१० प्रतिशत दिया जाता था और ४५ प्रतिशत पेशवा लेते थे। इसके अनुसार सिन्धिया की जागीर २ करोड ५ लाख की थी। २२ हजार सेना, ६० लाख जागीर।

घोरपडे मण्डली (गुत्तीवाले) १४ लाख ६३ हजार

शिवाजी और सम्भाजी के समय म स्वय छत्रपति महाराज सेना के साथ सेनापति बनकर युद्ध करने जाया करते थे, परन्तु उनके बाद यह पद्धति बन्द हो गयी और केवल पेशवा ही जाने लगे और सवाई माधवराव तक यह पद्धति बनी रही। खर्डा के युद्ध क्षेत्र पर स्वय सवाई माधवराव गये थे, परन्तु दूसरे बाजीराव के समय मे यह पद्धति भी नही रही। उसने सिर्फ दूर से लडाइयाँ देखी और वह भी भागने के मौके पर। नाना फडनवीस के समान राजनीतिज्ञ को भी लडाइ पर जाना पडता था। जब ब्राह्मणो की यह दशा थी तो मराठा के विषय म तो कहना ही क्या? उन्हें तो मानो जन्मघुटी के साथ ही युद्ध क्षेत्र के प्रेम की घुट्टी पिलाई जाती थी। मराठी सेना में पैदल

की अपेक्षा सवार ही अधिक थे। पहले ही उनकी युद्ध पद्धति इस प्रकार थी जिसमे सवार का उपयोग अधिक होता था। सामना बाँध कर या खाई खाद कर लड़ने की पद्धति नही थी। उनके गुरु ने उन्हे कभी धीरे धीरे लड़ना नही सिखाया था। यदि शत्रु उनके कब्जे मे आ जाता तो उस पर आक्रमण कर उसे घेर लेते थे। उसका रसद आदि सामग्री लूटकर उसे कष्ट पहुँचाते थे। यदि कभी विकट प्रसङ्ग आ जाता तो किला अथवा गढ़ी जैसे मजबूत स्थान का आश्रय ले लेते थे। इसलिये यह कहने की आवश्यकता नही कि लड़ाई की इस प्रकार की पद्धति में सवारो का ही अधिक उपयोग हो सकता था।

मुगलो तक यह पद्धति उनके लिए विशेष उपयोगी रही, परन्तु जब अगरेजो से लड़ाई का काम पड़ने लगा तब उन्हे पैदल की आवश्यकता मालूम होने लगी। पहले के युद्ध मे उन्हे परवाने की जरूरत नही पड़ती थी, परन्तु यूरोपियन से सम्बन्ध होने पर तो परवाने का प्रबन्ध भी करना पड़ा। घुड़सवारो के दो भाग होते थे। एक का नाम खास पायगा और दूसरे का शिलेदार था। खास पायगा के सवारो के पास घोड़ा और लड़ाऊ सामान सरकारी होता था और उन्हे मासिक वेतन दिया जाता था। इन सवारो को बारगीर कहते थे। शिलेदार सवार अपने निजके घोड़े रख कर नौकरी करते थे। सैनिक पेशा के शिलेदार अपनी तनख्वाह ठहरा लेते थे और बदले मे सरकार को वचन देते थे कि काम पड़ने पर इतने घुड़सवार देगे। खालसी पायगा के बारगीर सवारो को केवल उदरपोषणार्थ ८) से १०) रु० तक मासिक वेतन मिलता था और शिलेदारो को उनके पोषण तथा घोड़े के खर्च के लिये ३५) रु० मासिक वेतन दिया जाता था। इसके सिवा जब चढ़ाई करने के लिए सेना निकलती था तब उत्साही तरुण मराठे अपने अपने घोड़ो के साथ सेना मे आ मिलते थे। प्रतिष्ठित श्रेणी के होने के कारण तथा उनका घोड़ा आदि पशु अच्छे होने के कारण उन्हे ४५) मासिक तक वेतन दिया जाता था। पिण्डारी लोग प्राय सवार ही होते थे, परन्तु उनका वेतन नियत नही रहता था। वे अपना निर्वाह प्राय लूट मार पर ही करते थे। ये लोग निरे पेट भरू हुआ करते थे, इन्हे सैनिक वृत्ति का अभिमान नही होता था। युद्ध समाप्त होने पर इन्हे लूट करने की आज्ञा दी जाती थी और लूट मे से कुछ हिस्सा इन्हे, ठहराव के अनुसार, सरकार मे जमा कराना पड़ता था। परन्तु, ये लोग किसी को प्यारे नही थे। काम पड़ने पर वे अपने ही पक्ष का पड़ाव लूटने मे नही हिचकिचाते थे। इसलिए होलकर प्रभृति एक दो सरदारो के सिवा दूसरे लोग इन लोगो को अपने पास नही रखते थे। तैयार पैदल सेना अथवा पायगा के सवार बारहो महीना नौकरी करते थे, परन्तु शिलेदार आदि की सेना समय पर एकत्रित हो जाती थी। इसके लिए कोई नियम समय का प्रतिबन्ध नही होता था। अधिक तो क्या, यह सेना लड़ाई पर जाते समय अपने सुभीते के अनुसार आकर रास्ते में मिला करती थी और यही दशा उसके लौटने के समय

रहती थी। उसके वापस लौटने का कोई नियम नहीं था। दूर देश में सेना जाने पर अकेले दुकेले लौटना सम्भव नहीं होता था, परन्तु ज्योंही सेना लौटती त्योंही कोई आगे और कोई पीछे रह जाया करता था। यद्यपि सेना की हाजिरी नाम मात्र की ही होती थी। अपने साथ के सवार और घोड़ों की संख्या के अनुसार मनुष्य और घोड़े को गिन लेने पर हाजिरी का काम पूरा हो जाता था। समय पर यदि घोड़ा न हुआ और खोखड़ा या पायबद हुआ तो उसे ही दिखला देने से काम चल जाता था। शिलेदार प्रभृति लोगों को लड़ाई के सिवा दूसरा सरकारी काम नहीं दिया जाता था। निठल्ले समय में वे प्रायः स्वतन्त्र होते थे। सेना के सब लोगों को, बहुत से ऊंचे दर्जे के सरदारों तक को भी रात को पहरेदारी का काम करना पड़ता था। भाला, बनेठी तलवार बन्दूक आदि चलाने की शिक्षा देने के लिए कोई शाला नहीं होती थी। इसके सम्बन्ध में तो यही कहना उचित होगा कि इन बातों का ज्ञान मराठों में प्रायः स्वाभाविक ही होता था। जिस प्रकार इन शस्त्रास्त्रों के चलाने का काम प्रत्यक्ष सीखे हुआ को दिया जाता है उसी प्रकार उन मराठे सैनिकों को भी दिया जाता था, परन्तु सैनिक शिक्षा-शाला और व्यवस्थित कवायद के अभाव से उनके सैनिक गुणों में जो उपयुक्तता की कमी थी वह पीछे जाकर उन्हें भी खटकने लगी थी। सेना भरती के लिए मनुष्य और घोड़ों की कमी मराठों को कभी नहीं पड़ी। शांति के दिनों में घास की घोड़ों में घोड़ों को छोड़कर चराने और अच्छी जातिवन्त घोड़ियां रखकर अच्छे अच्छे घोड़े पैदा करके घोड़ों का पायगा बनाने का काम शिलेदारों का होता था। उस समय सब जगह घोड़े वालों की पूछ होने से गरीब से लेकर श्रीमन्त तक सबको उत्तम घोड़े रखने का प्रायः शौक था। अतः महाराष्ट्र में एक बार ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि ऐसा एक भी घर नहीं था जिसके दरवाजे पर घोड़ा न हो और एक भी ऐसा मनुष्य नहीं होता था जिसे घोड़े पर चढ़ना न आता हो। भीमा और गोदावरी नदी के तीर पर के टट्टू मजबूत और लम्बी लम्बी मंजिलें तय करने वाले होते थे। दिखाऊ और अच्छे घोड़ों की पैदाइश महाराष्ट्र में नहीं होती थी, परन्तु इस कमी को सौदागर लोग पूरी कर देते थे। काबुली अफगानी, अर्बी, तिब्बती, काठियावाड़ी आदि अच्छी नसल के घोड़े बेचने को सौदागर लाया करते थे और प्रत्येक धनिक की पायगा में ऐसा एकाध घोड़ा अवश्य होता था।

पैदल सेना में मराठों की अपेक्षा दूसरे ही लोग प्रायः अधिक होते थे। मराठों की सेना में मुसलमान लोग न केवल बिना किसी प्रतिबन्ध के भर्ती हो सकते थे बल्कि उन्हें उच्च पद भी दिये जाते थे। अङ्गरेजी राज्य में तोपखाने की नौकरी भारत-वासियों को भूल कर भी नहीं दी जाती थी, परन्तु उस समय मराठों का सारा तोपखाना मुसलमानों के अधीन था। मुसलमानों के सिवा पैदल सेना में अरब और पुर्तगेज

लोग भी बहुत थे। ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जिस पर से यह कहा जा सके कि दक्षिणी लोगों ने उत्तर भारत में किसी राजा की नौकरी की हो यहाँ तक कि महादजी सिंधिया ने जब नर्मदा के उत्तर तट पर अपना निवास स्थायी कर लिया तब उन्हें भी आवश्यकतानुसार मराठे सवार मिलना कठिन हो गया। अतः उन्हें अपनी सेना में उत्तर हिंदुस्तान के लोगों को ही भर्ती करना पड़ा। परन्तु मराठों की नौकरी की पद्धति में बहुत बड़ा अन्तर था। मराठे लोग साधारणतया ईमानदार होते थे। वे इन लोगों के समान क्रोधी, कड़वे और अविचारी नहीं होते थे, अर्थात् जहाँ कड़ी नौकरी और हुक्म के साथ तलवार चलाने का काम पड़ता वहाँ मराठों की अपेक्षा इन्हीं लोगों का उपयोग अधिक होता था अतः उस समय महाराष्ट्र के सरदार या धनिक साहूकार लोग शरीर संरक्षणार्थ या खजाने पर अरबों या पुरबियों को ही नौकर रखा करते थे। घर द्वार छोड़ कर नौकरी के लिए दूर देश से आने के कारण तथा यहाँ कुछ घर द्वार का झगड़ा न होने के कारण उन्हें आठों पहर नौकरी के सिवा दूसरा कोई धंधा नहीं होता था, परन्तु मराठों के पीछे घर द्वार, खेती बाड़ी, गाय बैल आदि का कुछ न कुछ पचड़ा लगा रहता था। इसलिए मराठा सिपाही कितना भी ईमानदार हुआ तो उसकी नौकरी में कुछ-कुछ अन्तर पड़ता ही जाता था। इसके सिवा मराठा सिपाही विचारशील और कोमल हृदय होने के कारण शत्रु को उनका भय जैसा होना चाहिए वैसा नहीं होता था। परदेशी सिपाहियों को नौकरी में रखने की चाल आगे जाकर इतनी बढ़ी कि छोटे, बड़े सब की नौकरी में मराठे सिपाही का नाम भी नहीं रहा। प्रत्येक श्रीमंत के दरवाजे पर अरबी सिपाहियों का पहरा रहा करता था। बाजीराव के समय में नाना फड़नवीस तक अपने प्राण लेकर पहाड़ को भाग तो उन्हें अरबों का ही सहारा था। बड़ौदा में तो अरबों का प्रभाव इतना बढ़ गया था कि उनके विद्रोह को नष्ट कर उनके चंगुल से गायकवाड़ को छुड़ाने के लिए अङ्गरेजों को बड़ा परिश्रम करना पड़ता था। गायकवाड़ सरकार को यदि ऋण लेना होता तो राज्य के आमदनी की जमानत पर कर्ज न मिल कर अरब सरदारों के केवल वचन की जामिन पर कर्ज मिल जाया करता था। इस बहुधा, बहुत में। उस समय गायकवाड़ी राज्य में इस पद्धति ने एक विशेष स्थान पा लिया था। बाजीराव द्वितीय के शासन के समय, अन्त में, उत्तर भारत से उनके पास आ रही सेना बची थी उसमें अरब लोग ही अधिक थे। उस समय बाजीराव जब अङ्गरेजों के अधीन न होने लगा तो इन लोगों ने अपने चढ़े हुए वेतन के कारण उसे घेर कर लिया। यदि जनरल स्मिथ ने बीच बचाव न किया होता तो वे बाजीराव के प्राण भी ले लेते। नागपुर के अप्पासाहब भोसले को पदच्युत करने के बाद शान्ति स्थापित करते समय सेना में अरब लोगों को निकालने में बड़ी कठिनाई हुई। आज भी दक्षिण हैदराबाद में तथा अन्य मुसलमानी रियासतों की सेना सिपाहियों में अरबों की ही प्रधानता अधिक देखने में आती है। जो बात अरब लोगों की थी वही पुरबियों की भी थी। इन्हें अपने

स्वामी पर उलटने म देर नहीं लगती और न इन्हें ईमानदारी से च्युत हो जाने मे ही कोई भय था । उस समय गारदी सिपाहियो मे पुरबिये ही अधिक थे । नारायणराव पेशवा के खून करने वाला मे सुमेरसिंह, खरगसिंह गारदी सैनिका म से ही थे । आज अङ्गरेज सरकार विदेशियो को ही उच्च सैनिक सेवा म भर्ती करती है यह हमारा आक्षेप है मराठाशाही मे भी यह आक्षेप कुछ न कुछ अवश्य था परन्तु इन दोनो की अपेक्षा म भेद है । आज देशी मनुष्य उच्च सैनिक पद बिलकुल प्राप्त नही कर सकते हैं । परन्तु उस समय प्राप्त कर सकते थे । मराठे सैनिक जितने मिलते उतने भर्ती कर उनसे जो काम अच्छी तरह नही हो सकता था वह परदेशी लोगो को दिया जाता था । पर विदेशियो को इतना अधिक सख्या म नौकर रखना कि एक दृष्टि हानिकारक ही था ।

कवायदी पैदल सेना और तोपखाने का उपयोग बडे रूप म पहले पहल भाऊ साहब की सरदारी मे हुआ । कहा जाता है कि मराठो ने पानीपत के युद्ध म अपनी लडाई की अपनी पद्धति को पहले पहल छोडा और आमने सामने की छाती से छाती भिडाकर लडने की बुद्धि सदाशिव राव भाऊ को हुई । इसम उन्हें सफलता नही मिली । इस युद्ध मे इब्राहीम खा की गारदी सना ने बहुत काम किया । इसके बाद महादजी सिंधिया ने इस कवायदी सेना की पद्धति को खूब यशस्वी बना दिया । मालूम होता है कि मराठो को यह सुधरी पद्धति पसन्द नहीं थी । इसलिए कवायदी सेना मे मराठो की अपेक्षा अन्य जाति के ही लोग अधिक भरती होते थे । सना म कोई भी रहा हो परन्तु इस सुधरी हुई सना के कारण ही महादजी सिंधिया के पैर टिक सके और दबदबा जम गया । महादजी ने यह विद्या यूरोपियनो से ली । महादजी के उत्तर भारत मे होने के कारण उन्ह कम्पनी सरकार की कवायदी सेना का प्रभाव देखने का अवसर मिला और उनके महत्वाकाक्षी होने स उन्होंने तुरन्त इस पद्धति का उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया । सुदैव से फ्रेंच सिपाही और नीतिज्ञ डिबाइन का महादजी स सम्बन्ध हो गया, अत महादजी क मन के अनुसार काम बन गया और महादजी ने केवल दस पन्द्रह वर्ष की अवधि मे डिबाइन की सहायता म न केवल कवायदी सना ही तैयार कर ली, किन्तु आगरा मे एक छोटे मोटे शस्त्रो को बनाने वाला और तोपो को ढालने वाला कारखाना भी स्थापित कर दिया । बडगाव और खर्डा के युद्धो म महादजी के तोपखाने का और कवायदी सना का बहुत उपयोग हुआ । महादजी के बाद इस पद्धति को होलकर ने अपनाया और यशवतराव होलकर के अन्तिम दिन अर्थात् उनके पागल होने के पहले दिन तक कवायदी सेना तैयार करने और तोप ढालने का कारखाना स्थापित करने मे व्यतीत हुए अङ्गरेजो क समान फ्रेंच सैनिक भी कवायदी हुआ करते थे । अत दक्षिण भारत के निजाम प्रभृति की सना म १७६१ के पहले अङ्गरेजो क साथ फ्रेंचो की जो स्पर्द्धा और लडाई चल रही थी, वह यहाँ के राजा रजवाडो की सहायता से ही चल रही थी । इसके बाद यदि फ्रेंचो को राज्य स्थापना करने का अपना मकसद-

छोडना पडा तो भी अङ्गरेजो से भारतीय राजा रजवाडो के द्वारा बदला लेने की उनकी इच्छा बनी ही रही, अत अपनी निज की कवायदी सेना रखने का समय न रहने पर वे स्वय यहाँ के राजाओ के आश्रय मे रहकर उनकी सेना को सुसङ्गठित और युद्ध विद्या मे निपुण करने लगे। डिबाइन की सहायता से सिंधिया ने २० हजार पैदल, दस हजार नजीब (बन्दूक वाले सिपाही), ३ हजार तुर्क सवार और एक अच्छा खूब बडा तोपखाना तैयार किया। पेशवा के आश्रित शिलेदारो की दशा देखकर सिंधिया ने अपने सिपाहियो का समय पर नगद तनखाह देने का प्रबन्ध किया। इन कारणो से प्राय सम्पूर्ण मराठाशाही पर महादजी का प्रभाव जम गया। आगे जाकर सिंधिया का सैनिक व्यय बहुत बढ गया था। बाजीराव को गद्दी पर बैठाने की धूमधाम के समय दक्षिण मे सिंधिया की जो सेना थी केवल उसी पर २१ लाख रुपये मासिक खर्च होता था और मुख्यत इसी खर्च को पूरा करने के लिए पूना के नागरिको को निरर्थक कष्ट भेलना पडा यह प्रसिद्ध ही है।

घुडसवारो की अपेक्षा पैदल सेना मे खर्च कम हुआ करता था आगे जाकर ज्यो ज्यो पैदल सेना का उपयोग अधिक होने लगा त्यो त्यो मराठो को भी बन्दूको की आवश्यकता पडने लगी, परन्तु उनके कारखानो मे आवश्यकतानुसार बन्दूकें तैयार नहीं हो सकती थी, अत मराठो और अङ्गरेजो का सम्बन्ध होने पर मराठे लोग अङ्गरेजों से अन्य वस्तुओ के साथ साथ बन्दूके भी खरीदने लगे। कम्पनी भी व्यापार दृष्टि से उनकी आवश्यकता को पूरी करने लगी। फिर कम्पनी और मराठो मे युद्ध प्रारम्भ हुआ। तब कम्पनी ने इस सम्बन्ध मे अपना हाथ खींच लिया और मराठो की मांग को पूरा करने में आनाकानी होने लगी। अन्त मे कम्पनी ने यह निर्णय किया कि अपनी सेना की बन्दूकें मराठो के हाथ न बेचकर उनकी नलियाँ तोडकर विलायत वापस भेज दी जाया करें। क्योकि कम्पनी के बन्दूक के कारखाने भारत मे नही थे, किन्तु विलायत मे थे। अत प्राय विलायत से ही भारत को हथियार मगाये जाते थे परन्तु कम्पनी के कितने ही अधिकारियो को यह नियम पसन्द नही था। वे कहते थे कि कम्पनी का बन्दूकें बेचना बन्द कर देने से आवश्यकता के कारण मराठे लोग अपने कारखाने खोलेंगे और सिंधिया, ने ऐसा कारखाना स्थापित कर उदाहरण भी दिखला दिया है तथा कम्पनी के नियम करने पर चोरी से बन्दूकें बिकेंगी ही। अच्छी कीमत मिलने पर भला कौन न बेचेगा। फिर इस तरह चोरी छिपा के मार्ग से व्यक्तिगत लाभ उठाने देने की अपेक्षा कम्पनी ही अधिक कीमत पर बन्दूकें बेचकर लाभ क्यो न उठावे? इसके सिवा निरुपयोगी बन्दूकें लेकर मराठे लडने लगे तो कम्पनी का काम बिना परिश्रम के ही सिद्ध होगा। क्योकि कम्पनी के सिपाहियो के पास टूटने तथा निरुपयोगी बन्दूक होगी। अत युद्ध प्रसङ्ग उपस्थित होने पर कम्पनी के सिपाही लम्बी मार कर सकेंगे और मराठे नजदीक मार करने वाली बन्दूकें होने के कारण कम्पनी के सिपाहियों पर मार न कर सकेंगे

तथा निरुपयोगी बन्दूकें विलायत भेजने से जहाजों का जो स्थान रुकेगा उसमें दूसरा माल आ सकेगा और मराठों के पास दूनी बन्दूकें हो जायगी इस तरह हमारा दोहरा काम बनेगा। इसके सिवा बन्दूकें मिलने पर मराठों की दृष्टि पैदल सेना बढ़ाने पर रहेगी और इस तरह से उनकी सवार सेना कम होने लगेगी। यद्यपि मराठों की सवार सेना सुशिक्षित नहीं होती, तो भी बहुत कष्टदायक है। सवारों से लड़ने पर युद्ध आमने सामने का नहीं होता और बिना कारण बढ़ता ही जाता है। जब पैदल सेना से लड़ाई होने लगेगी तब कम्पनी की पैदल सेना के पास दूर की मार करने वाली उत्तम बन्दूकें होने के कारण कम्पनी की जय होने की अधिकार सम्भावना है। यूरोप के राष्ट्रों में सन्धि होने पर भी हिन्दुस्तान में दूसरे राष्ट्रों से आवश्यकतानुसार बन्दूकें आवेंगी और टीपू सुलतान तो सदा मंगवाता ही है। दूसरे राष्ट्र भी व्यापार करने से नहीं रुकेगा। फिर इंग्लैण्ड ही अपना यह व्यापार क्यों डुबाये ? कम्पनी की हित की दृष्टि से इस युक्तिवाद में बहुत तथ्य था। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि बन्दूकों के सम्बन्ध में मराठे प्रायः दूसरों पर ही अवलम्बित थे।

मराठों के कारखानों में बन्दूकों के सिवा थोड़ी बहुत तोपें और गोला बारूद भी बनाई जाती थी। यद्यपि बन्दूक की बारूद का मसाला उत्तम होता था तो भी उसका मिश्रण यथाशास्त्र न होने के कारण बारूद जैसी चाहिये वैसी उत्तम नहीं होती थी। तोपें भी बहुत थी परन्तु उनकी गाड़ियाँ ढीली ढाली टेढ़े और तिरछे चक्कों की होती थी। तो गोलों को माप की न ढालकर तोपों के मुहरे के अनुसार गोले बनाये जाते थे। गोले ढाले नहीं, गढ़े जाते थे। उन्हें हथौड़ी से ठोक-ठाक कर इच्छानुसार बना लेते थे। इसलिये उनमें गड्डे रह जाते थे जिससे तोपों का मुँह बहुत जल्दी खराब हो जाता था। यद्यपि फौज के साथ तोपखाना रहा करता था, परन्तु उस पर मराठों का विश्वास बहुत कम होता था। मराठे लोग बाण का भी उपयोग करते थे। बन्दूकों का उपयोग पहले सिंधिया ने किया था, मराठों के तो मुख्य शस्त्र भाला और तलवार ही थे।

मराठों की सेना का पड़ाव पड़ जाने पर उसके पास ही बाजार लग जाता था और आगे के मुकाम की डुग्गी इसी बाजार में पिटवा देने से उनकी सूचना सब सैनिकों को मिल जाया करती थी। सेना के साथ यदि स्वयं स्वामी की सवारी होती था तो फिर बहुत वैभव बढ़ जाता था। फिर हाथी, घोड़े, पालकी, आदि बहुत प्रकार का सामान साथ में होता था। स्वामी के तथा सरदारों के तम्बू बहुत सुशोभित रहते थे। मुख्य सरदार के तम्बू के आगे द्वार पर प्रतिदिन शाम को दरबार भरता था जिसमें सब सरकारी काम व्यवस्थित रीति से किया जाता था। प्रत्येक मनुष्य भीतर प्रतिदिन सरदार से बड़ी सरलता के साथ मिल सकता था। उस समय यूरोपियन लोग मराठों का यह सादा वैभव देखकर बहुत आश्चर्य करते थे। अभिमानी मुगलों की तुलना में मराठे

[illegible] भी [illegible] होती है। [illegible] हाथी [illegible] के [illegible] उतार कर मराठी [illegible] सकते थे। [illegible] की [illegible] करते थे और [illegible] पीते थे। [illegible] हाथ में [illegible] चुकी हो जाती थी। [illegible] उनके [illegible] में बैठ कर [illegible] था। मराठों [illegible] के साथ [illegible] था। [illegible] और [illegible] और [illegible] को [illegible] करते और [illegible] के [illegible] से [illegible] था। [illegible] होने का [illegible] रहता था।

मराठों की सेना में। निज़ाम की सेना में भी यूरोपियनों के [illegible] यूरोपियन अधिकारी भी [illegible]। [illegible] हुआ करती थी। [illegible] जागीरदार भी बन गया था। शिवाजी [illegible] के [illegible] सेनापति के पद पर प्रतिष्ठित होने वाले [illegible] का वेतन पाँच हजार रुपये मासिक था। एक हजार से तीन हजार मासिक वेतन पाने वाले भी बहुत गोरे अधिकारी थे। वेतन के सिवा इनके पास और भी [illegible] हुआ करती थी। होल्कर व यूरोपियन सेनापति और जागीरदार के गोरे अधिकारियों को तीन-तीन हजार रुपये मासिक वेतन मिलता था। निज़ाम के सेनापति [illegible] की सेना के [illegible] के लिये [illegible] की जागीर थी। अनुमान किया जाता है कि १७९६ में लगभग सब हिन्दू और मुसलमान सरदारों के यहाँ करीब तीन सौ यूरोपियन नौकर थे। इनमें से [illegible] आठ उच्च अधिकारी और लगभग आठ दूसरी श्रेणी के अधिकारी थे। [illegible] आदि के नाम पर थे। इनमें बहुत से [illegible] लोग थे और ऐसे भी बहुत से लोग थे जो अंग्रेज़ कम्पनी की सेना से भाग आये थे या जो जहाज़ की नौकरी छोड़कर यहीं रह गये थे। इन लोगों को तीस से ६०) रु० मासिक तक वेतन मिलता था। ये लोग प्रायः [illegible] हुये बन्दूकों में [illegible] हुआ करते थे परन्तु सैनिक नौकरी में ऐसे ही लोग प्रायः उपयोग में आते हैं। कवायदी सेना रखने की ओर मराठों का ध्यान जब से गया तब से यूरोपियनों को नौकर रखने की प्रवृत्ति बढ़ी और किन्हीं किन्हीं बातों में सरकार की ओर से मराठों की अपेक्षा गोरे लोगों को अधिक सुभीते मिलने लगे। इन गोरे लोगों के लिये जो माल विलायत से आता था उस पर चुङ्गी भी माफ होने लगी। दरबार में पालकी में बैठकर जाने के लिये स्वयं स्वामी के सिवा दूसरों को आज्ञा नहीं थी, परन्तु यूरोपियनों को पालकी पर बैठने की भी स्वतन्त्रता होने लगी थी। निज़ाम राज्य में हाथी पर पीला हौदा रखने की मुमानियत थी, परन्तु यूरोपियनों के लिए इस सम्बन्ध में किसी प्रकार

का प्रतिबन्ध नहीं था और गोरे लोगों का सामान लाने ले जाने के लिए बिना विरोध कर बेगार मिलने लगी थी।

कहावत है कि स्तुति का एक अनुकरण भी है। इस दृष्टि से देखने पर कहना होगा कि महादजी सिंधिया जैसे प्रबल और मराठा सेनापति ने जब यूरोपियनों की सैनिक पद्धति का अनुकरण किया और उसके लिये अपने यहां अधिक वेतन पर यूरोपियन अधिकारी नौकर रखे तो मानो उन्होंने यह स्वीकार किया कि यूरोपियनों में और उनकी पद्धति में स्तुति के योग्य कुछ बात अवश्य है। इसके सिवा जो मनुष्य दूसरों का अनुकरण करता है उसे जरा दबना भी पड़ता है। इसलिए सब शत्रुओं में महादजी सिंधिया ही अंग्रेजों से कुछ दबते थे। राजपूत, मुसलमान अथवा रुपया की परवाह महादजी ने कभी नहीं की। उनका विचार फ्रेंचों की सहायता से अपनी कमी को पूरा कर अंग्रेजों से टक्कर लेने का था। इस कार्य में उन्हें थोड़ा बहुत यश प्राप्त होने लगा था। अंग्रेजों और महादजी में पहले लड़ाइयाँ जो हुई उनमें दोनों समान बली ठहरे। अतः अङ्गरेजों ने महादजी के जीते जी उत्तर भारत में, उनका राज्य लेने का प्रयत्न कभी नहीं किया, परन्तु महादजी की मृत्यु के बाद उनके लिए चारों दिशाएं खुल गईं। महादजी के बाद दौलतराव सिंधिया ने पूना की सत्ता लेने के इरादे से पूना में अपना अड्डा जमा दिया और वहाँ सलाहकारों की सलाह से उसने पूना वासियों को अनेक कष्ट दिये थे। दौलतराव के प्रतिस्पर्धी होलकर भी इसी विचार से पूना गये थे और इन दोनों कारणों की बाजीराव रूपी कालमूर्ति की सहायता मिलने पर मराठाशाही को त्रिदोष ने घेर लिया था। इस आपत्ति के समय में भी मराठों के मुख्य सरदारों की सेना अङ्गरेजों की अपेक्षा बहुत ज्यादह थी। एक अङ्गरेज ग्रंथकार के अनुमान के अनुसार उस समय मराठे सरदारों की सेना इस प्रकार थी —

	सवार	पैदल	कुल
पेशवा	४०,०००	२०,०००	६०,०००
सिंधिया	६०,१००	३०,०००	६०,०००
भोसले (नागपुर)	५०,०००	१०,०००	६०,०००
होलकर	३०,०००	४०,०००	७०,०००
गायकवाड़	३०,०००		३०,०००
			कुल योग ३,१०,०००

इस संख्या को देखते हुए कहना पड़ता है कि मराठों की अपेक्षा अङ्गरेजों की सेना बहुत कम थी।

अठारहवीं शताब्दी में, भारतवर्ष में, काले गारदियों के समान गोरे गारदियों का भी प्रारम्भ हुआ था, ये तलवार और अतरंग में साहस होने पर उस अशांति के समय

ले लेने से ही सिंधिया का मत उसके सम्बन्ध में अच्छा हो गया था। अतः जयपुर राज्य की नौकरी से छूटते ही सिंधिया ने उसे अपने यहाँ एक हजार रुपये मासिक वेतन पर नियुक्त किया और कम्पनी सरकार के समान अपनी सेना तैयार कर देने का काम उसे दिया। डिवाइन ने तुरन्त ही रंगरूटों को भर्ती किया और कितने यूरोपियन (स्काच, डच, फ्रेंच) लोगों को एकत्रित कर अपने हाथ के नीचे उन्हें अफसर बनाया तथा राना की नौकरी में रहने वाले अफसरों को बुलाकर उनकी सहायता से आगरे में तोपें और बन्दूकें बनाने का कारखाना खोला। डिवाइन की नियुक्ति पहले पहल सिंधिया के सरदार अप्पा खंडेराव के हाथ के नीचे हुई। पहले तीन वर्षों में डिवाइन की सेना ने कलिंजर, लालसोट, आगरा और चकसाना के युद्ध में अच्छा पराक्रम दिखाया। इससे सिंधिया बहुत सन्तुष्ट हुए। जिस प्रकार कारीगर के घर में घुसने पर वह अपना काम बन्द नहीं होने देता, नया-नया काम निकालता ही जाता है उसी प्रकार डिवाइन ने भी किया। वह नवीन-नवीन सेना तैयार करने के लिए सिंधिया से कहने लगा, परन्तु सिंधिया ने यह स्वीकार नहीं किया तब डिवाइन ने इस्तीफा दे दिया। अब उत्तर भारत के जीते हुये प्रदेश की रक्षा के लिए जितने मराठा चाहिए उतने सिंधिया को नहीं मिले तब उन्हें फिर नयी सेना रखनी पड़ी और इसके लिए डिवाइन को लखनऊ से बुलाया। तब डिवाइन ने दस पैदल पलटनों का काम और तोपखाना यूरोपियन पद्धति से तैयार किया और उस पर यूरोपियन अधिकारी नियुक्त किये। इस समय सिंधिया की सेना में अनेक जातियों के यूरोपियनों की भरती थी। आगरे के किले में तोप बन्दूक आदि सैनिक सामान भरा गया। उस समय बन्दूक भी बहुत सस्ती बनती थी। केवल दस रुपयों में विलायती बन्दूक तैयार हो जाती थी। सिपाहियों की भी नई तरह की पोशाक दी गई थी। इस नयी व्यवस्था में डिवाइन को जनरल का पद मिला था और उसका ४०००) से प्रारम्भ होकर दस हजार मासिक तक वेतन बढ़ाया गया था। कहा जाता है कि डिवाइन ने यह बात की थी कि हम अंग्रेजों से नहीं लड़ेंगे, परन्तु इस बात में सन्देह है कि यह बात महादजी सिंधिया ने स्वीकार की होगी। सेना के व्यय के लिए सिंधिया ने पहले डिवाइन को सोलह लाख रुपयों की जागीर दी थी। फिर उसकी आमदनी बढ़ते बढ़ते बत्तीस लाख तक पहुँच गई थी। इस जागीर की व्यवस्था करने से डिवाइन को दुहरा लाभ हुआ। जागीर की आमदनी नियमित रीति से वसूल कर सेना का वेतन समय पर चुकाने का काम डिवाइन के जिम्मे किया गया। आमदनी पर दो रुपया सैकड़ा उसे दिया जाता था। इससे वह स्वयं भी बहुत धनवान हो गया था। इस प्रकार सिंधिया की सेना में एक ही समय में कवायदी एसी दो तरह की सेना हो गई थी। सन् १७९० में कवायदी सेना ने पाटन का युद्ध जीता उसमें राजपूतों को शौर्य को सिंधिया की व्यवस्था के आगे हार टेकना पड़े। इसी सेना के बल पर सिंधिया ने इस्माइलबेग का पराभव किया और इसी

साधन से सिंधिया ने भर्ती की लड़ाई भेजी। सन् १७ १ और ९३ में सिंधिया ने और दो कैंप तैयार कराये। अन्त में कवायदी सेना तीस हजार तक बढ़ गई। नई सेना के संगठन में मासिक वेतन तक के १७ १८ यूरोपियन भिन्न भिन्न श्रेणी के अधिकारी थे और इन पर तीन हजार का लेफ्टीनेंट कर्नल बारह सौ के वतन का मेजर, चार सौ वेतन का कप्तान और डेढ़ सौ दो सौ के लेफ्टीनेंट अधिकारी थे। इन गोरे लोगों को चंबल नदी के दक्षिण की ओर नौकरी पर भेजने पर ड्योढ़ी तनख्वाह दी जाती थी। वेतन के सिवा दूसरी आमदनी पर ध्यान देने से विदित होता है कि उच्च अधिकारियों के लिए दस लाख रुपये तक संग्रह करना कोई कठिन काम नहीं था। डिवाइन तो एक प्रकार से नवाब ही बन गया था। अन्तर इतना ही था कि विलासी नवाब न होकर सैनिक नवाब था इस कवायदी सेना की बढ़ती से दूसरी मराठी सेनाएं मन में ईर्षा करने लगी थीं। उत्तर भारत में सिंधिया और होलकर में सिंधिया का पक्ष कमजोर था। जब इसके द्वारा वह होलकर के बराबर हो गया तब १७९१ में प्रथम तुकोजीराव होलकर ने शेव्हेलियर डुड्रेनेक नामक फ्रेंच सिपाही को अपने यहां रख कर कवायदी सेना भी एक और तैयार करना प्रारम्भ किया। उस समय पूना दरबार में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए उत्तर भारत का सब भार डिवाइन को देकर महादजी सिंधिया निश्चित होकर पूना चले आये थे। होलकर भी पूना ही में थे। महादजी सिंधिया जिस समय पूना में थे उस समय राजपूतों से खंडनी वसूल करने के सम्बन्ध में होलकर की सेना से खटपट हो जाने पर डिवाइन ने डुड्रेनेक के हाथ के नीचे की होलकर सेना को पराजित किया तब होलकर को अपने राज्य की रक्षा के लिए मालवा वापस आना पड़ा। सिंधिया की अनुपस्थिति में सिंधिया का दिल्ली वाला अधिकार डिवाइन ही को प्राप्त था। १७९४ में महादजी की मृत्यु हुई और दौलत राव सिंधिया का शासन प्रारम्भ हुआ। इसके पहले ही मेजर पैरन के अधीन सिंधिया की सेना दक्षिण में आई थी और उसकी सहायता से पेशवा ने खर्डा की लड़ाई में एक खेल के समान विजय प्राप्त की थी। व्यवस्था का गुण सतत जय होता है। सिंधिया की यह स्थिति देखकर होलकर ने भी यूरोपियों को नौकर रखकर बहुत सी पलटन बढ़ाई। विलमेंट और गार्ड होलकर के सरदार थे। सिंधिया के उप सेनापतियों ने अपने हाथ के नीचे यूरोपियन अधिकारी नियत किये थे। लखवा दादा ने कप्तान बटरोल्ड को नियुक्त किया और अंबाजी इंगला ने शेफर्ड और वेलासिस को। अप्पा खंडेराव के यहां जार्ज टामस नौकर था। दौलतराव सिंधिया ने जानहेसिंग माइकल फिलोस, कप्तान ब्राउन, और कर्नल सेलर को नियुक्त किया। बुंदेलखंड में अलीबहादुर और बरड़ा रघुजी भोंसले ने भी यही क्रम स्वीकार किया। यहाँ तक कि स्वयं बाजीराव पेशवा ने अपने यहाँ मेजर टोन और मेजर वाइड को नौकरी में रखकर अपने सरदारों का अनुकरण किया।

बहुत से लोगों का कहना है कि मराठों ने अपनी युद्ध छोड़कर जो कवायदी

पद्धति स्वीकार की वह उनके लिए लाभदायक नहीं हुई। एक ने कहा है जिस दिन मराठा ने घोड़े की सवारी छोड़ी उसी दिन उनका राज्य भी चला गया। १ कहा जाता है कि दौलतराव सिंधिया और उनके सरदार गोपालराव के बीच में दरबार में इस प्रकार का सवाल हुआ था। गोपालराव पुराने चलन का सिपाही था। उसने कहा "हमारे जिन बाप दादों ने राज्य प्राप्त किया पहले उनका घर घोड़े की पीठ पर था, फिर वह तम्बू में हुआ पर अब तुम मिट्टी की बेरक बनवा रहे हो। देखना कहीं आगे जाकर सबकी ही मिट्टी न हो जाय।" दौलतराव ने उत्तर दिया—"जब तक मेरी सेना और तोपें हैं तब तक मैं किसी से नहीं डरता।" इस पर गोपालराव ने कहा "ये तोपें ही अन्त में तुम्हारा घात करेंगी। विलायत की पार्लमेंट में सर फिलिप फ्रांसिस ने एक बार स्पष्ट रीति से यह कहा था कि "मराठे लोग अब क्वायद सीखने और तोपें ढालने लगे हैं परन्तु इसी से उनका नाश होगा। क्योंकि उन्होंने अपनी स्वदेशी पद्धति छोड़ दी है और विदेशी पद्धति कभी किसी को नहीं बदली। अब हम उनसे डरने का कोई कारण नहीं है।" कहा जाता है कि ड्यूक आव वेलिंग्टन का भी यही मत था। एक दृष्टि से यह मत ठीक भी दीखता है, क्योंकि अङ्गरेजों ने दौलत राव सिंधिया का पूरा नाश केवल एक ही वर्ष में कर दिया जब कि अव्यवस्थित दुष्ट पिंडारियों का पूरी रीति से पराभव करने में अङ्गरेजों को ७-८ वर्षों का समय लगा फिर भी इस मत को सर्वथा ठीक भी नहीं कह सकते। क्योंकि यदि पिंडारियों की अव्यवस्थित पद्धति ही ठीक मानें तो अन्त में उन्हें भी सफलता कहाँ मिली है यद्यपि मुगलों में लड़ने में मराठों को अपनी पद्धति से सफलता मिली थी, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वही पद्धति अङ्गरेजों से लड़ने में भी सफलता देती छापा मारना अथवा दौड़कर भाग जाना यह युद्ध का एक तरीका है परन्तु इतने ही से काम पूरा नहीं होता। इसके सिवा इस प्रकार के युद्धों में आश्रय स्थान की हैसियत से किलों का जो उपयोग होता था अङ्गरेजों की तोपों के कारण वह निरुपयोगी हो गया था। सन् १८१७-१८ में किले पर से अंग्रेजों के विरुद्ध बहुत समय मराठे न लड़ सके। इसका कारण अंग्रेजों की तोपें ही थी। अतएव शत्रु के युद्ध साधनों के समान अपने तक साधन बनाने के अतिरिक्त मराठों को सफलता मिलने की संभावना नहीं थी। मराठों को जो असफलता मिली उसका कारण सेना की अव्यवस्था, नहीं थी किन्तु मराठे सरदारों की व्यवस्था बिगड़ जाने के कारण ही उन्हें असफलता मिली। इससे सिवा पहले से यह चला आया है कि सेना चतुरंग हुआ करती है। सेना में यदि एक भाग कवायदी फौज को रखना तो इसस यह प्रयोजन नहीं है कि चपल घुड़सवारों का दूसरा भाग न रखा जाय। टीपू ने भी कवायदी सेना रखी थी, परन्तु छापा मारने की अपनी पद्धति उसने नहीं छोड़ी थी। टीपू के पराभव का कारण केवल यह था कि सब के शत्रु मिलकर कर उस पर एक साथ टूट पड़े थे। सारांश यह है कि यह कहना उचित नहीं है कि कवायदी सेना और तोपखाना

रखने के कारण मराठों का नाश हुआ इन युद्ध साधनों के रखने में किसी प्रकार की भूल नहीं थी। मूल सरदारों को जो महादजी के समय में हिवाइन का जो प्रभाव और उपयोग था दौलतराव के समय में नहीं रहा। १८०६ में अर्थात् दौलतराव के शासन काल में टामस ब्राइन के "मराठों की छावनी से लिखे हुए" यदि कोई पढ़े तो उसे मराठों के नाश का कारण हज रीति से समझ में आ जाएगा।

मराठों की जल सेना (जहाजी बेड़ा)

बम्बई से दक्षिण की ओर कोकन प्रांत में पेशवाई के अंत तक अङ्गरेजों का शासन प्रारम्भ नहीं हुआ था। कोकण पट्टी पर पेशवाई के पहले शिवाजी महाराज का और उनसे पहले मुसलमानों का शासन था। कोकन में कभी कोई स्वतन्त्र राजा नहीं हुआ। देश के एक अथवा अनेक राजाओं की सत्ता के नीचे कोकन प्रान्त सदा से रहा है परन्तु उसका अधिकारी अन्य प्रदेशों के अधिकारियों से अधिक स्वतन्त्र हुआ करता था। क्योंकि उसे सैनिक जहाजी बेड़े का अधिकार और काम दिया जाता था, इसलिए इन कामों पर एक प्रकार से वहाँ के अधिकारियों का ही ठेका हो जाता था। सेना के समान जहाजी बेड़े का अधिकार एक व्यक्ति या घराने से लेना सहज नहीं है। क्योंकि सिपाही जितनी जल्दी सिखाकर तैयार किया जा सकता है उतनी जल्दी खलासी तैयार नहीं किया जा सकता। अधिकारियों के स्वतन्त्र होने का दूसरा कारण यह था कि यह प्रदेश पहाड़ी और समुद्र किनारे का होने के कारण इतर प्रदेश के अधिकारियों को वश में करने की अपेक्षा यहाँ के अधिकारी को वश में अधिक परिश्रम पड़ता था। तीसरा कारण यह था कि यह प्रदेश अधिक उपजाऊ नहीं था, अतः अर्थ विभाग में इसे कोई महत्व नहीं दिया जाता था। घर में टट्टी के दरवाजे का जितना प्रबन्ध हम साधारणतया रखते हैं उतना ही प्रबन्ध राजा लोग कोकण पट्टी का रखते थे। इसलिए वहाँ के अधिकारियों में भी महत्वाकांक्षा नहीं होती थी। स्वतन्त्र रीति से रहकर सामुद्रिक लूट पाट से जो आमदनी हो उसमें सन्तुष्ट रहते थे। परन्तु वे अपने कार्य क्षेत्र में अवश्य बलवान् होते थे। यद्यपि उत्तर प्रदेश के समान कोकन प्रांत के युद्धों का वर्णन देने का कोई साधन नहीं है तो भी यह मानने का कोई कारण नहीं है कि समुद्र में लड़ते समय कोकन के खलासियों और सरदारों शौर्य और वीरता प्रकट करने में कुछ कमी की होगी। सामुद्रिक लुटेरों के साहस और धृष्टता की कथा सब देशों में बहुत चित्ताकर्षक मानी जाती है। यदि कोई सहृदय ग्रन्थकार या कवि कोकन प्रान्त के वीरों का चरित्र लिखेगा उससे मराठी इतिहास में और भी अधिक विशेषता उत्पन्न होगी।

यद्यपि कोकण पट्टी में अङ्गरेजों का व्यापार सत्रहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ था, परन्तु कोकन के किनारे पर अपना जहाजी थाना बनाने का उनका विचार कभी सफल नहीं हुआ। बम्बई के दक्षिण ओर आंग्र, घुल्प, कोल्हापुर वालों और सावंतवाड़ी वालों के समान बलवान् खलासियों ने क्रमशः सब किलों पर अधिकार कर रखा था।

इन सबो में आंग्रे बहुत प्रबल था और कोकण पट्टी की ओर समुद्री मार्ग से आने जाने वाले व्यापारियों को उसका बहुत भय लगा रहता था। कान्होजी आंग्रे ने अनेक जल युद्धों में अङ्गरेजों को पराजित कर उनके कई जहाज पकड़े और डुबोये थे। अङ्गरेजो ने सन् १६५८ में राजापुर में कोठी खोली परन्तु वह बहुत जल्द ही उठ उठानी पड़ी। शिवाजी के इस कोठी के लूटने पर अङ्गरेज बहुत भयभीत हुए और जब वे शिवाजी के पराक्रम के कारण कोकणपट्टी में दिन पर दिन मुसलमानी शासन नष्ट होते देखने लगे तब इन्हें स्वयं सूरत का सम्भालने की चिन्ता हुई। शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् वहाँ फिर मुसलमानी शासन होने लगा था, परन्तु प्रत्यक्ष शासन मुगलों की ओर से शामल हबशी और मराठों की ओर से आंग्रे घुपन्न का था। औरङ्गजेब की मृत्यु के पश्चात् कोकण पट्टी से मुसलमान शासन सदा के लिए नष्ट हो गया। यद्यपि उस समय शिद्दी और हबशी मराठों से झगड़ते और उन्हें त्रास देते थे, परन्तु वे मुसलमानों की ओर से न झगड़कर स्वयं अपने को राजा मानकर झगड़ा करते थे। अङ्गरेजों को जो थोड़ा बहुत लाभ हुआ वह इस झगड़े ही से हुआ। वे बीच बीच में मराठों की सहायता से पोर्तुगीजों से और शिद्दी की सहायता से मराठों से लड़कर अपनी रक्षा का उपाय करते थे।

मराठी जहाजी सैनिक बेड़े की स्थापना सरकारी रीति से छत्रपति शिवाजी महाराज के समय में हुई। जब सन् १६६१ में जजीरा पर अधिकार नहीं हुआ तब शिवाजी ने समुद्र की ओर से उसे घेरने का विचार किया। उस समय हबशियों के पास जहाज होने के कारण वे समुद्र मार्ग से अन्न सामग्री ला सकते थे। इस मार्ग को बन्द करने के उद्देश्य से महाराज ने अपना स्वतन्त्र जहाजी बेड़ा तैयार करने की आज्ञा दी।

जहाजी बेड़ा तैयार हो जाने पर शिवाजी महाराज ने उसके द्वारा धीरे धीरे कोकण प्रान्त के सामुद्रिक बन्दरगाहों पर अधिकार करना प्रारम्भ किया और समुद्र किनारे का अच्छी तरह निरीक्षण कर मार्ग के स्थान ढूँढ कर जजीरे (पानी में तैयार किये गये किले) बनवाना शुरू किया। सन् १६६२ में वाड़ी के सावंतों पर महाराज ने चढ़ाई की और उनका बहुत सा प्रान्त छीन लिया। इसी समय महाराज से सावंत के सामुद्रिक सरदार रायबलजी और नानाजी सावंत आकर मिले, जिन्हें महाराज ने अपने बेड़े की जहाजी सेना का लड़ाऊ सूबेदार नियत किया। मालवन का सिन्धु दुर्ग नामक किला सन् १६६४ ६५ में महाराज ने बनवाना शुरू किया और उसे जहाजी बेड़े का मुख्य स्थान करना निश्चित किया, तथा कुलाबा, सुवर्ण दुर्ग को सुधरवा कर वहाँ जहाज बनवाने का काम प्रारम्भ किया। ये सब किले मराठी सैनिक जहाजी बेड़े के मुख्य स्थान थे।

मराठों का जहाजी सैनिक बेड़ा तैयार हो जाने पर सन् १६६४ से कोंकन किनारे पर मराठों और परदेसियों मे युद्ध होना प्रारम्भ हुआ। मराठों के जहाजी बेड़े की शक्ति देखकर पोर्तुगीज, शिद्दी और अङ्गरेजों को भय होने लगा। १६६५ में स्वयं शिवाजी महाराज, बेड़े के साथ कारवार तक गये और वहाँ तक का समुद्र किनारा अपने अधिकार में कर लिया। कारवार के अङ्गरेज व्यापारियों ने लिखा है—"कि शिवाजी की इस चढ़ाई में उनके साथ ८५ 'फ्रिगेटस' अर्थात् ३० से १५० टन तक वजन के और अन्य कई एक उच्चकोटि के छोटे बड़े जहाज थे। सन् १६७० में जब शिवाजी ने जजीरा पर सब शक्ति इकट्ठा कर आखिरी धावा किया और शिद्दी का पराभव करने का निश्चय किया, उस समय महाराज का जहाजी बेड़ा बहुत बढ़ गया था। इसी वर्ष मराठों और पोर्तुगीजों में सामुद्रिक युद्ध हुआ जिसमें पोर्तुगीजों ने मराठों के बारह छोटे जहाज ■ न लिये, परन्तु डामन के पास मराठों ने पोर्तुगीजों को पराजित किया और उनका एक बड़ा जहाज छीन लिया।

सन् १६७९ मे शिवाजी ने अपने सामुद्रिक सेनापति दौलतखाँ के द्वारा खादेरी द्वीप पर चढ़ाई कर उस द्वीप पर अधिकार कर लिया। इस द्वीप पर अङ्गरेजों और पोर्तुगीजों की दृष्टि थी। अतएव शिवाजी के जहाजी बेड़े को जजीरा की ओर जाते समय इन दोनों ने रोका और बड़ी मुठभेड़ हुई। आर्म नामक इतिहासकार ने लिखा है— कि इस समय अङ्गरेजों की अपेक्षा मराठों के जहाजों की रचना उत्तम थी। शिवाजी के जहाजी बेड़े का मुख्य उद्देश्य कोंकन किनारे को जीतकर शत्रुओं से उसकी रक्षा करना था और जजीरा टापू छोड़कर अन्य स्थानों में यह उद्देश्य सफल भी हुआ।

सारी कोंकनपट्टी पर अधिकार हो जाने के बाद जहाजी बेड़े के सुभीते के लिये महाराज शिवाजी ने कुलाबा, 'उंदेरी, अञ्जनवेल प्रभृति (पानी में के किले) बनवाये। ये किले बनवाने से उनका प्रयोजन मराठों की सामुद्रिक शक्ति बढ़ाकर किनारे पर के सब नाके मजबूत करने का था। महाराज के शासन-काल में उनके बनवाये हुए किलों में से सिन्धु दुर्ग किला मराठी जहाजी बेड़े का मुख्य स्थान था और मालवण के पास पदमदुर्ग नामक जो किला है वहाँ जहाज बनाने का कारखाना था। विजयदुर्ग और कुलाबा में लड़ाऊ जहाजों की तोपें और गोला बारूद की कोठी थी। समुद्र किनारे पर रहने वाले कोली, भंडारी आदि व्यवसायी खलासियों को वश में कर महाराज ने उन्हें अपनी नाविक सेना में भर्ती कर लिया था। डगलस साहब ने लिखा है कि 'यह अच्छा हुआ कि शिवाजी खलासी नहीं था। नहीं तो जिस तरह शिवाजी ने पृथ्वी का पृष्ठ भाग शत्रुहीन कर दिया था, उसी प्रकार समुद्र किनारे का भी किया होता।" नैर्न साहब ने कोंकन के इतिहास में यह मुक्तकंठ से स्वीकार किया है कि— 'उस समय के समुद्र किनारे के मुसलमान या क्रिश्चियन सत्ताधिकारियों से शिवाजी में कम दर्जे की राजकीय योग्यता नहीं थी।'

जंजीरा का सिद्दी उन्मत्त हो गया था। शिवाजी महाराज के समय में मराठे इसको पराजित नहीं कर सके थे, क्योंकि इसे अङ्गरेजों और पार्तुगीजों की गुप्त सहायता मिलती थी। संभाजी ने सिद्दी पर चढाई कर जंजीरा हस्तगत करने का संकल्प किया था, परन्तु वे सफल न हो सके। इधर राजापुर में मराठों का जो जहाजी बेड़ा था उसने पार्तुगीजों पर अपना अच्छा दबदबा जमाकर उनसे कारजा आदि थाने छीन लिये थे। ओमे नामक इतिहासकार ने लिखा है कि— मराठों का केवल राजापुर का जहाजी बेड़ा गोआ के पार्तुगीजों से बड़ा था। संभाजी के शासनकाल में हब्शियों और अङ्गरेजों पर जो दो सामुद्रिक चढाइयाँ की गई, उनसे मराठों के जहाजी बेड़े का सफल प्रयोग नहीं हुआ। संभाजी के बाद जिस प्रकार धनाजी जाधव और संताजी घोरपडे नामक महा वीरों ने अपना पराक्रम दिखाकर यवन शत्रुओं से स्वदेश की रक्षा की और मराठा राज्य को विपत्ति से मुक्त किया, उसी प्रकार जिसने समुद्र किनारे पर अङ्गरेज, फिरङ्गी, डच, सिद्दी आदि स्वसत्ता स्थापन करने की महत्वाकांक्षा रखने वाले विदेशियों का दांत खट्टे कर मराठा जहाजी बेड़े को फिर बलवान बनाया, और मराठों के सामुद्रिक युद्धों में अलौकिक शौर्य प्रगट कर सबको चकित कर दिया, उस कान्होजी आंग्रे का नाम मराठी इतिहास में चिरकाल तक चमकता रहेगा, इसमें संदेह नहीं है। यह कहने में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है कि शिवाजी के बाद कोंकण किनारे पर विदेशियों के पाँव न जमने देने में जिस किसी ने वीरता की पराकाष्ठा दिखाई है, वह कान्होजी आंग्रे थे।'

विदेशी इतिहासकारों ने कान्होजी आंग्रे को सामुद्रिक डाकुओं के नायक के नाम से उल्लिखित किया है, परन्तु वास्तव में वह उन लोगों का नायक न होकर मराठी जहाजी बेड़े का पुनरुद्धारक था। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि यदि कान्होजी आंग्रे सरीखा सामुद्रिक युद्ध विद्या विशारद, अद्वितीय पराक्रमी और अटूट साहसी पुरुष राजाराम महाराज के शासन काल में उत्पन्न न हुआ होता, तो उस समय एसे विकट राजीय वातावरण में समुद्र किनारे पर से मराठों का अधिकार नष्ट हो गया होता।

कान्होजी ने मराठों के जहाजी सैनिक बेड़े का बहुत कुछ सुधार किया और उसे सुदृढ बना दिया। शिवाजी महाराज के शासनकाल की अपेक्षा कान्होजी के समय का मराठी जहाजी बेड़ा अधिक प्रबल और अजेय हो गया था। क्योंकि शिवाजी को जल और स्थल दोनों प्रदेशों पर सत्ता स्थापित करना था इसलिये उनका ध्यान दोनों ओर रहता था, परन्तु कान्होजी ने केवल समुद्र किनारे को ही अपने अधिकार में लिया था। अतः उनकी सम्पूर्ण शक्ति जहाजी बेड़े के सुधार करने और उसकी वृद्धि करने में व्यय होती थी। अङ्गरेजों ने थोड़े ही वर्षों में मराठी जहाजी बेड़े का सुधार कर लड़ाऊ जहाजों की और सामुद्रिक सेना की संख्या बहुत बढ़ा दी। जहाजों पर लड़ने वाले लोगों को अच्छी तरह शिक्षा देकर उन्हें सामुद्रिक युद्ध कार्य के अनुकूल बना दिया। सन्

१६६० से सन् १७५६ तक मराठों का जहाजी बेड़ा आङ्ग्रे वंशजों के ही अधिकार में रहा।

सन् १७१६ में फिरंगी और मुग़लों ने मिलकर कान्होजी आङ्ग्रे की शक्ति तोड़ने का प्रयत्न किया, परन्तु कान्होजी ने अपने जहाजी बेड़े से ... को अपने दबाव में रखने का प्रयत्न किया और उनके अधिकार के ... प्रारम्भ किया। इस तरह कान्होजी ने मराठों की सत्ता और प्रभाव कोकण प्रान्त में फिर जमाया। कान्होजी ने विजयदुर्ग को अपने जहाजी बेड़े का मुख्य स्थान नियत किया और ... किलों का ... कर उन पर भी जहाजी बेड़े का मुख्य प्रबन्ध किया। बम्बई में ... उनके एक ... भी बन्दर और एक भी नदी के मुहाने को बिना ... किये और ... नहीं रहा।

अङ्गरेज लेखकों ने कान्होजी के जहाजी बेड़े का जो वर्णन किया है, उससे ज्ञात होता है कि कान्होजी का बेड़ा बहुत बड़ा था। उसके बड़े जहाजों में दो अथवा तीन मस्तूल होते थे। जिन जहाजों में तीन मस्तूल होते थे उनकी शक्ति तीन सौ टन वजन की शक्ति के होती थी। भूमध्य समुद्र के जहाजों के समान इन जहाजों की नोक बहुत तीखी होती थी और उस पर मंजिलें रहती थीं। सन् १७१६ में अङ्गरेजी बेड़े में ३२ तोपों का एक बड़ा जहाज, २० से २८ तोपों के ४ और ५ से १२ तोपों तक के २० जहाज थे। ठीक इसी समय कान्होजी के बेड़े में केवल १६ से ३० तोपों के दस और ४ से १० तोपों के ५० जहाज थे। तब भी कान्होजी ने १७१६ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रेसीडेन्ट नामक जहाज से लड़कर उस जहाज को नष्ट कर दिया और १७१७ में सक्सेस नामक जहाज लूटकर छीन लिया। सन् १७२२ में अङ्गरेज और पोर्तुगीजों ने मिलकर कुलाबा पर चढ़ाई की, परन्तु उनमें उन्हें सफलता नहीं मिली। फिर दो वर्ष बाद डच लोगों ने २० से ५० तोपों वाले ७ प्रचण्ड जहाजों से विजयदुर्ग पर आक्रमण किया परन्तु वे भी छिन्न भिन्न होकर लौट गये। इस तरह अङ्गरेजों में जहाजी बेड़े की शक्ति का प्रभाव विदेशियों पर अच्छा जम गया। अतः उनका एक भी व्यापारी जहाज या लड़ाऊ जहाज की सहायता के बिना आना जाना बन्द हो गया। लो नामक इतिहासकार ने लिखा है—"कि जिस प्रकार भूमध्य सागर में अल्जेराइन्स नामक डाकू का नाम सुनते ही व्यापारी थर थर काँप उठते थे, उसी प्रकार सामुद्रिक शक्ति सम्पन्न इस मराठावीर का नाम सुनकर अंग्रेज व्यापारियों के होश उड़ जाते थे।" फिर जब सन् १७२७-२८ में आङ्ग्रे ने अङ्गरेजों के दो जहाज नष्ट कर अङ्गरेजों को हानि की तब उन्होंने वाडी के सावंतों से संधि कर उनसे सहायता लेने का निश्चय किया। क्योंकि वाडी के सावंत भी अङ्गरेजों के समान सामुद्रिक युद्ध में समर्थ थे। सन् १७२६ में कान्होजी की मृत्यु हो गयी। इससे पहले बम्बई के अङ्गरेज गवर्नर ने कान्होजी से मैत्री कर अपना काम बनाने की इच्छा से कान्होजी

की दिलमजई करने का प्रयत्न किया, परन्तु उस समय कान्होजी ने जो उत्तर दिया उससे विदित होता है कि वह (गवनर) बहुत बड़ा व्यवहार पटु और धूर्त था बम्बई के गवर्नर ने लिखा था कि—"हमारी तुम्हारी अनबन का कारण केवल तुम हो। तुम जो दूसरे का माल लेना चाहते हो सो यह काम विचार शून्यता का है। इस प्रकार का अपराध एक प्रकार का डाकूपन है। तुम्हारा इस प्रकार का व्यवहार बहुत दिनों तक नहीं चलेगा। तुमने यदि पहले से ही यह काय बढ़ाया होता और व्यापारियों पर कृपा रखी होती तो आज तुम्हारे अधिकार के बन्दरों की बहुत उन्नति हुई होती और सूरत बन्दर से भी अधिक उन्नति तुम कर जाते। साथ ही तुम्हारी कीर्ति भी सर्वत्र फैल गई होतीं। ये बातें सरल रीति से व्यापार वृद्धि किये बिना नहीं होती।" इसके लिखने के बाद फिर संधि करने के सम्बन्ध मे गवनर ने जो पत्र लिखा था, उसका उत्तर कान्होजी ने बड़ी चतुराई के साथ दिया था। कान्होजी ने लिखा था कि "तुम्हारा लिखना प्रशंसनीय है। तुमने लिखा कि आज तक के तुम्हारे और हमारे बीच के भेदभाव और झगडे का कारण मैं हूँ, परन्तु तुमने दोनों पक्षो का विचार नही किया। यदि किया होता तो तुम्हे सत्य बात मालूम हो गयी होती। तुम मुझ पर दूसरे की सपत्तिहरण आरोपित करते हो, परन्तु मैं नही समझता कि तुम जैसे व्यापारी इस प्रकार की महत्वाकाक्षा से अलिप्त हो, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् का मार्ग एक ही है। ईश्वर स्वय किसी को कुछ नहीं देता। एक की सपत्ति दूसरे को मिलना ही जगत् का नियम है, तुम जैसे व्यापारियो को यह कहना शोभा नही देता कि हमारा राज्य अत्याचार, बलात्कार और डाकूपन से चल रहा है। शिवाजी महराज ने चार बादशाहतो से लड़कर अपने पराक्रम के बल पर स्वराज्य की स्थापना की थी, और तभी से हमारी सत्ता का प्रारम्भ हुआ, और इसी साधन द्वारा हमारा राज्य टिका हुआ है, यह तुम जानते ही हो। इसका विचार तुम्हीं करो कि यह स्थायी है या क्षणिक। जगत में स्थायी कुछ भी नही हुआ है। जगत का यह क्रम सर्व विदित है।"

कान्होजी आंग्रे की मृत्यु के पश्चात् आंग्रे घराने में गृहकलह का बीजारोपण हुआ। अतः कोंकण किनारे पर अपनी सत्ता स्थापित करने की इच्छा रखने वाले विदेशी लोगों को अपना मतलब साधने का मौका अनायास ही मिल गया। कान्होजी के दो पुत्र मानाजी और संभाजी में परस्पर झगडा होकर लड़ाइयाँ होने लगीं। इन लड़ाइयों में निजी उत्कर्ष और स्वार्थ के सिवा राष्ट्र हित की उदार और उच्च कल्पना का नाम भी नही था। इनके पारस्परिक झगडे पेशवा को रोकना चाहिये था, परन्तु यहाँ भी स्वार्थ बुद्धि का ही निवास था अत राष्ट्र कल्याण की भावना ताक में रख कर स्वय पेशवा ने आंग्रे के प्रदेश जीतने का काम प्रारम्भ कर दिया।

यद्यपि इनमें और आंग्रे में परस्पर झगडा चल रहा था, तो भी उनके, जहाजी बेड़े का विदेशियो पर अच्छा दबदबा था। मानाजी ने अंगरेज और हब्शियो के

जहाजी बेडे से अनेक बार युद्ध किया था और एक बार वह खास बम्बई किनारे पर अपना जहाजी बेडा ले आया था। सम्भाजी ने भी अङ्गरेजी, फिरंगी और दूसरे शत्रुओं से अनेक बार सामुद्रिक युद्ध कर उन्हें हानि पहुँचायी थी। इनके पहले मराठी जहाजी बेड़े में तीन सौ टन तक के जहाज थे। परन्तु सम्भाजी ने बढ़ाकर चार सौ टन तक के कर दिये। उसके चार चार सौ टन तक के आठ जहाज थे। १७४२ में उसकी भी मृत्यु हो गई। तब उसका भाई तुला जी सुवर्ण दुर्ग के जहाजी बेडे का अधिपति हुआ। इसने समुद्र में एक प्रकार से प्रलय-काल उपस्थित किया और अङ्गरेजों को बहुत कष्ट पहुँचाया तथा पेशवा से भी विरोध कर लिया। तब सबने मिलकर विजय दुर्ग पर चढ़ाई की और सन् १७५५ में उसका और उसके जहाजी बेड़े का नाश कर समुद्र पर से आंग्रे की सत्ता उठा दी।

डगलस साहब ने कान्होजी आंग्रे और उसके वंशजों का जो वर्णन लिखा है उसमें उन्होंने मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार किया है कि 'हिन्द महासागर में तीनों यूरोपियन राष्ट्रों (अङ्गरेज, फिरंगी, वलन्देज) को पराक्रम के काम में आंग्रे ने नीचा दिखा दिया। कोई भी उसकी बराबरी नहीं कर सका।''

१७५६ में तुलाजी आंग्रे कैद हुआ, पेशवा ने उसके जहाजों में से जितने जहाज हाथ लगे उन्हें अपने उपयोग में लिये और विजयदुर्ग को ही मराठों के जहाजी बेडे का स्थान बनाया क्योंकि विजयदुर्ग का पानी में बना हुआ अजीरा किला बहुत ही मजबूत और जहाजी बेड़े के योग्य स्थान था। उसकी नैसर्गिक रचना और वहाँ मराठों द्वारा आरम्भ किये हुये अनेक कार्यों के सम्बन्ध से उस स्थान को बहुत महत्व प्राप्त हो गया।

विजयदुर्ग के जहाजी बेडे में अनुमानतः दो से तीन हजार तक सेना थी। जो सबसे बड़ा 'फतहजंग' जहाज था उस पर २२६ सैनिक १६ गोलंदाज १३२ खलासी ऐसे कुल मिलाकर ३७४ लोग थे। सबसे छोटा जहाज 'बावडी' नामक था जिस पर केवल १५ मनुष्य थे। लगभग जहाज पर युद्ध सामग्री खूब रहती थी। सन् १७८३ ई० से १७८६ तक मराठों के जहाजी बेड़े में सब मिलाकर छोटी बड़ी करीब २७५ तोपें थीं। उस समय नारायणपाल नामक एक बड़ा तिकोना जहाज था, जिस पर २८ तोपें और ४ जबूरे इस प्रकार ३२ नग थे।

विजयदुर्ग में जहाजी बेडे पर एक मुख्य अधिकारी होता था, जिसे 'जहाजी बेडे के सूबेदार' कहते थे। इस बेड़े के अधिकारियों में आनन्दराव धुलप नामक अधिकारी ने सामुद्रिक युद्धों में बहुत नाम कमाया था। उसने और उसके भाइयों ने युद्धों में बहुत शौर्य और प्रकट किया था। सन् १७८३ में अङ्गरेजी जहाजी बेड़ा और धुलप के जहाजी बेड़े से जो युद्ध हुआ उसमें दोनों ओर के वीरों ने अपना रण कौशल दिखलाया था। उस समय के एक पत्र का अनुवाद यहाँ देने से उस समय के मराठी जहाजी बेड़े का वास्तविक स्वरूप पाठक सहज में समझ सकेंगे। यहाँ जिस पत्र का अनु-

दाद किया जाता है यह पत्र पेशवा सरकार को भेजे हुए आनन्दराव धुलप के उस पत्र का उत्तर है जिसमे धुलप ने उक्त युद्ध का वर्णन पेशवा को लिखकर भेजा था।

"राजश्री आनन्दराव धुलप सूबेदार, जहाजी बेडा किला विजयदुर्ग।

"अखडित लक्ष्मी अलकृत राजमान्य स्नेहाकित माधवराव नारायण प्रधान का आशीर्वाद पहुँचे। यहाँ कुशल है। तुम अपनी कुशल लिखते रहना। विशेष समाचार यह है कि तुम्हारा चद्र (छ) जमा दिलावल का पत्र मिला जिसमे तुमने लिखा कि "अङ्ग्रेजो के जहाज मय चार सौ गार गोलदाज तथा सात कौसिलरो के, विलायत से आकर हैदर नायक के राज्य का प्रबन्ध करने के लिए जलमार्ग से जा रहे थे, सो उनकी और हमारी (आनन्दराव धुलप की) मुठभेड रत्नागिरी मे वद १ जमा दिलावल को सुबह के समय हुई और तोपखाने की लडाई प्रारम्भ की गई वह शाम के एक पहर दिन बाकी रहने तक जारी रही, परन्तु जब देखा कि अङ्ग्रेजो के जहाज वश मे नही होते तब सब लोगो ने एक जी होकर और स्वामी (पेशवा) के चरणो का स्मरण कर बिना सोचे विचारे उनके जहाजो से अपने जहाज भिडा दिए। इस तरह जब हाथ से हाथ मिलाया, तब फिर कौन किस को मारता है इसका होश नही रहा। एक पहर तक इस प्रकार मारा-मारी होती रही। स्वामी का पुण्य बलवान था। अत अत मे अङ्ग्रेजो के जहाज अधिकार मे आए। इस लडाई मे हमारी ओर के बडे आदमियो मे से आठ सरदार मारे गए, पन्द्रह सौ आदमी जख्मी हुए और सौ सौ अन्य सैनिक मारे गए। अङ्ग्रेजो की ओर के करीब दो हजार सैनिक और एक मुख्य अधिकारी मारे गए। तथा पाँच छ सौ सैनिक जख्मी हुए। शत्रु के सम्पूर्ण जहाजी बडे को कौसिल के साथ विजयदुर्ग के जजीरे मे कैद कर रखा है। न्याय करने वाले स्वामी हैं।'

तुम्हारे यह विस्तार पूर्वक लिखे हुए समाचार विदित हुए।

पत्र का उत्तर—"पहले, आंग्रे का राज्य हमारे पूर्वजो ने लिया और उस पर तुम्हारे पूर्वजो को अधिकारी नियत किया। उस समय अठारह टोपी वालो पर तुम्हारे पूर्वजो को अधिकार था। अत तुम्हारे पिता को नियत किया। तुम्हारा यह वीरत्व देखकर कहना पडता है कि तुमने अपने पूर्वजों का सार्थक किया है। अङ्ग्रेज अपने आप को सिपाही बतलाते हैं। ऐसे सिपाहियो के साथ उनके अफसर और बडा जहाजी बेडा होते हुए भी अपने प्राणो का मोह त्याग कर बिना कुछ सोचे विचारे जो तुमने उनसे टक्कर ली उसके लिये हम तुम्हें और तुम्हारे आदमियो को धन्यवाद देते हैं। तुम जो महाराजा की सेवा करने के लिए इस प्रकार बडे बडे काम करने की इच्छा करते हो उसी मे तुम्हारी प्रतिष्ठा है। जो आठ सरदार मारे गए हैं उनके स्थान पर उनके पुत्रों की नियुक्ति की जायगी। जिसके पुत्र नही होगा उनकी सरदारी दत्तक पुत्र द्वारा जारी रखी जायेगी। बाकी के लोगो के स्थान पर उनके पुत्रो को नियत करो। जिनके पुत्र न हो उनके घर वालो की परवरिश की जायेगी। तुम अपनी इच्छा के अनुसार जिसे को

इनाम देना उचित समझो उनकी एक फेहरिस्त बनाकर भेज दो। उस पर विचार कर आज्ञा दी जायेगी। अपनी ओर से जो जखमी सैनिक हैं उनके लिए जो खर्च हो वह करो और तुम स्वयं उनका प्रबन्ध करो तथा जो कुछ करना उचित हो वह करो। अंग्रेजों के जखमी सैनिकों पर साधारण खर्च करना। तुम्हारे लिए सरकार की ओर से सम्मान की पोशाक, सिरपेंच तथा मोतियों की कंठी और कड़े भेजे हैं सो लेना। अङ्गरेजों की ओर से वकील यहाँ आया है। परन्तु उससे संधि पूछकर की जायेगी। तुमने यह काम बहुत बड़ा किया, इसलिए सरकार तुम पर बहुत प्रसन्न है। सरकारी राज्य में तुम जैसे अधिकारी हैं यह जानकर सन्तोष हुआ। यह पत्र रवाना किया गया चन्द्र १३ जमादि सावल को। अधिक क्या? आशीर्वाद (मुहर)।'

धुलप के समान विचारे, सुर्वे, कुवेसकर, जावकर, आदि और सरदार सामुद्रिक युद्धकला में नामांकित हुए हैं और उन्होंने बहुत शौर्य प्रकट किया है। पेशवा की ओर से जहाजी बेड़े के विभाग में दीवान फड़नवीस, मजमूदार, दफ्तरनीस, आदि जागीरदार नियुक्त कर दिये गये थे। उन सबका खर्च ठहरा हुआ था। नवीन जहाज बनवाने में दस से चालीस हजार रुपया तक खर्च पड़ता था और गुपराई में पाँच से दस हजार रुपये तक होते थे। रत्नागिरी और अञ्जनवेल में सरकारी और प्रजाकीय गोदियाँ भी थीं। मराठों के जहाजी बेड़े का डेढ़ से दो लाख रुपये वार्षिक होता था। जहाजी बेड़े के खर्च के लिये एक सौंदल का नाम परगना ही पृथक कर दिया था। इसके सिवा सरकार से यहाँ से नगद रुपये भी दिये जाते थे। विदेशी व्यापारी जहाजों से जकात ली जाती थी और जो जहाज व्यापार करने को आते उन्हें हर तरह की चीजें हर जगह से भरने के लिये एक परवाना दिया जाता था। इस परवाने पर कुछ कर देना पड़ता था। प्रत्येक जहाज से सरकार को साढ़े चार रुपया मिला करते थे। आमदनी का एक और भी मार्ग था। अर्थात पर राष्ट्र का जो जहाज बिना सरकारी आज्ञा के व्यापार के लिये अथवा राजकीय हेतु से मराठों के राज्य में आता और लड़ने को उद्यत होता, उससे लड़कर उसे और उसके माल को ले लेते थे। इससे आमदनी बहुत होती थी और इस आमदनी का नाम पैदाइश था। यह पैदाइश कभी कभी पचास हजार तक पहुँच जाती थी। व्यापार करने वाले स्वदेशियों में विशेष कर भाटिया सारस्वत ब्राह्मण और मुसलमान ही अधिक थे।

मराठे के जहाजी बेड़े पर भालकी (होकायन्त्र) बालुकायन्त्र और दूरबीन भी आदि होते थे। उस समय विद्युतप्रकाश का काम चन्द्र ज्योति (बरगद) की सहायता से लिया जाता था। चिह्नों के लिए जहाजी ध्वजाय भिन्न भिन्न रङ्ग की हुआ करती थीं। आजकल जिस तरह जहाज के आवागमन की सूचना के लिये भाप के द्वारा कर्कश सीटी बजाई जाती है, उस समय भी यह काम सींग तथा तुरई के उच्च स्वर द्वारा लिया जाता था।

नवाँ अध्याय

मराठा राज्य की विभागीय व्यवस्था

यद्यपि राजकीय दृष्टि से सैनिक शक्ति का महत्व मुख्य है तो भी राज्य-व्यवस्था का महत्व उससे कम नहीं है। पराक्रम एक दिन का होता है परन्तु राज्य-व्यवस्था सब के लिये होती है। इसलिए राष्ट्र के बड़प्पन, स्थायीभाव और नैतिक गुणों की परीक्षा राज्य व्यवस्था से ही की जा सकती है। राज्य संचालन करने और राज्य चलाने के गुणों की जोड़ी यदि नही मिलती तो फिर राज्य का टिकना कठिन हो जाता है और प्रजा असन्तुष्ट हो जाती है, किसी तरह का प्रबन्ध ठीक नहीं होता और एक दिन मे प्राप्त किया हुआ राज्य, चार दिन मे ही क्या न हो, पर अन्त म, वह अवश्य हाथ से निकल जाता है। यद्यपि राज्य की प्राप्ति तलवार के बल पर की जा सकती है, परन्तु राज्य की आमदनी वसूल करने म तलवार का उपयोग नहीं होता। उसके लिए योग्य व्यवस्था ही आवश्यकता होती है। राज्य संचालन करने वाला राजा केवल अपने ही लिये राज्य का संचालन नहीं करता, किन्तु अपनी प्रजा और समाज के लिए करता है, इसलिये समाज राज्य का उपयोग हो अथवा उपभोग राज्य संस्था के द्वारा ही करती है। शूर-वीर होने के कारण शिवाजी की जो योग्यता मानी जाती है उससे भी कुछ अधिक योग्यता सुराज्य राज्य संस्था की सुन्दर व्यवस्था स्थापित करने के बाद उसे नियमानुकूल चलाने,का काम बहुत चातुर्य और उत्तरदायित्व का था। इस काम म क्षत्रियो के अपेक्षा जिनका विशेष अधिकार था और परम्परागत शिक्षा के कारण जो विशेष चतुर थे, ऐसे ब्राह्मणो और कायस्थों की आवश्यकता थी। महाराजा शिवाजी को ऐसे लोग मिल भी गये थे। इस तरह तलवार और लेखनी का योग हो जाने से शिवाजी महाराज के राज्य को सुव्यवस्थित कर प्राप्त हो सका और वह सौ दो सौ वर्षों तक टिका रहा। आगे चलकर मराठो के सैनिक गुण और ब्राह्मण तथा कायस्थों के व्यवस्था करने के गुणो म शिथिलता आ गई थी और इन दोनों गुणो की न्यूनता का कारण स्वार्थपरायणता थी। उधर मराठा से भी अधिक व्यवस्था से काम करने वाले और सैनिक शक्ति सम्पन्न अङ्गरेजों से मराठो की मुठभेड हुई, अत मराठो का राज्य नष्ट हो गया। परन्तु राज्य नष्ट के पहले अपने राज्य को चलाने मे उन्होंने जो चातुर्य प्रगट किया था उसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता, मनुष्य मृत्यु के वश होने के कारण कभी न कभी रोग की प्रबलता होने से मरता ही परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह मृत्यु के पहले कभी तेजस्वी, शक्ति सम्पन्न और हट्टा-कट्टा न

रहा होगा। यद्यपि हम इस प्रस्ताव के द्वारा मराठाशाही का शतसांवत्सरिक श्राद्ध कर रहे हैं और स्वीकार करते हैं कि पुरानी मराठाशाही नष्ट हो गई है, पर हाथ से पिण्ड दान कर तिलांजलि देते हुए भी जिसे वह अजली दी जाती है वह व्यक्ति भूतकाल मे जीवित था और उसमे अमुक अमुक गुण थे ऐसा कहने से पिण्ड दान करने वाले के द्वारा जिस तरह किसी प्रकार की असंगतता नही होती उसी तरह हमारे द्वारा भी मराठो की राज्य व्यवस्था सम्बन्धी चातुर्य प्रगट करने मे कोई असंगतता नही मानी जा सकती। सर अल्फ्रेड लायल कहते हैं कि—"भले ही मराठी सेना लुटेरू रही हो और मराठे सरदार भी उद्दण्ड और अशिक्षित रहे हो, परन्तु उनकी मुल्की व्यवस्था और आमदनी का काम ब्राह्मण के द्वारा होता था। उस समय ये ब्राह्मण लोग अन्य सब लोगो से अधिक चतुर और कर्त्तव्यपरायण थे।"

मराठो का राजकीय विस्तार

शिवाजी के समय की अपेक्षा दूसरे बाजीराव के समय म मराठी राज्य का विस्तार बहुत अधिक था। शिवाजी के अधिकार मे नीचे लिखे हुए प्रदेश थे—

(१) मावल प्रान्त और उनके १८ किले।
(२) वाई सतारा प्रान्त और उसके १५ किले।
(३) पन्हाला प्रान्त और १३ किले।
(४) दक्षिण कोकन प्रान्त और ५८ किले।
(५) थाना प्रान्त और १२ किले।
(६) त्र्यबक तथा बागलाण प्रान्त और ६२ किले।
(७) कनगड उर्फ धारवाड प्रान्त और २२ किले।
(८) चिन्तूर प्रान्त।
(९) कोल्हापुर प्रान्त।
(१०) श्रीरंगपट्टम और १८ किले।
(११) कर्नाटक प्रान्त और १८ किले।
(१२) वेलोर प्रान्त और २५ किले।
(१३) तंजोर प्रान्त और ६ किले।

इस सूची से यह प्रगट होता है कि शिवाजी का राज्य उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में अधिक फैला हुआ था। उनके राज्य की पश्चिम सीमा में अरब समुद्र, उत्तर सीमा म गोदावरी, पूर्व सीमा मे भीमा नदी और दक्षिण सीमा म कावेरी थी। इस प्रकार स्थूल दृष्टि से कहा जा सकता है कि शिवाजी के बाद दक्षिण की ओर मराठा का राज्य बढ़ने नहीं पाया, किन्तु हैदरअली, टीपू और अगरेजो के दक्षिण मे प्रबल होने से उन्हें कुछ हटना ही पड़ा, परन्तु उत्तर और पूर्व की ओर उनका राज्य बढ़ा। उत्तर मे उनका राज्य पंजाब तक हो गया और पूर्व म नीचे की ओर निज़ाम राज्य के

कारण यद्यपि उनका राज्य न बढ़ सका पर ऊपर की ओर बगाल तक और पश्चिम मे राजपूताना तक बढ़ा।

मराठो के हाथ से अगरेजो के हाथ मे दिल्ली के चले जाने तक बादशाही राज्य और मराठा राज्य, एक प्रकार से मिल सा गया था, स्वराज्य का प्रदेश, सरदेशमुखी वसूल करने के अधिकार का प्रदेश, केवल खडनी कर वसूल करने का प्रदेश और घास दाना वसूल करने का प्रदेश जिसे विनोदी भाषा म घोडे दौडाकर लूटने का प्रदेश, कह सकते हैं—इस प्रकार अनेक प्रकार से मराठो का उत्तर की ओर बहुत राज्य बढ़ गया था तथा बादशाह के गुमाश्ते, सेनापति अथवा तहसीलदार के नाते से उत्तर हिंदुस्तान के अनेक रजवाडो से मराठो का राजकीय सम्बन्ध बहुत कुछ हो गया था। बादशाही और मराठी राज्य की एक फहरिस्त मिली है जो नीचे दी जाती है।

छोटे महाराज के समय म एक कागज पर "दक्षिण और उत्तर भारत के सूबों का वृक्ष बनाया गया था। वह कागज मिलने पर "भारतवर्ष" म प्रकाशित किया गया था। उस पर से नीचे लिखा वर्णन यहाँ दिया जाता है।

	जमाबन्दी
दक्षिण के सूबे ६	१८,२६,१८,६६५।)॥।
उत्तर भारत के सूबे १५	३२,४६,१६,०६३॥।≡)
इनमे के दक्षिण के सूबों का विवरण इस प्रकार है —	
सूबा बीजापुर	७,८२,८३,६२६॥)।
सूबा तेलगाना	७५,६५,८६८)
सूबा औरङ्गाबाद	१,१०,६६ ६५६॥।)
सूबा बुरहानपुर	५८,०८,१५६॥।)
सूबा बरार	१,३०,५३,४८६।)॥
सूबा हैदराबाद	६,६१,१०,५३१॥।)॥
कुल	१८,२६,१८,६६५।)॥।

उत्तर भारत के सूबो का विवरण

सूबा सरकार	महाल	दिहात	जमाबदी
अकबराबाद (१२)	२४४	३१,८००	२,७१,००,१०३
शहालयाबाद (१२)	२८१	४०,५८८	३,१०,१२,१५४
इलाहाबाद (८)	२१७	७,६०५	१०,६०,६०,६७१
इलाहाबाद (१७०)	२६६	४७,६०७	१८,७०,४६८
पजाब (५)	६५८	२३,७६१	१८७०,४६८
अयोध्या (५)	१५०	५२,६६१	६२,२५,५६१

मुलतान	(०)	१०३	५,२५६	२४,७५,३४४।।≡)।
काशमीर	(०)	५३	५,६५२	३५,२,४५६
अतर्वेद	(०)	४८	१,३१६	३,७४,२०१
ठठ्ठा	(४)	५६	१,३२३	२१,६५,३६७
बिहार	(०)	२५०	४५,६७६	६३,३५,५५१
मालवा	(११)	२६२	१८,६७८	८४,७२२६६
बङ्गाल	(१४)	३५०	५० ७८८	८६१,६२,४६०
उड़ीसा	(४६)	१०११	१३० ७-०	१,६५,५८,८५६
गुजरात	(१०)	२१६	१० ३००	८६,६२,८०१

सब मिलकर (५ सूबे २७४ सरकार ३,८७१ महाल, ४६०,७६१ देहात और जमाबन्दी क रुपये ३२,४६ १७ ०६३।।) थे। सब मिलाकर दक्षिण—उत्तर के सूबे २१ और जमाबन्दी की आमदनी ५०,७३ ३५,०२६ रु० पौन चार आना थी।

काव्येतिहास संग्रह में बादशाही राज्य की आमदनी की एक सूची प्रकाशित हुई है, उसका सारांश इस प्रकार है —

राज्य	सरकार	परगने या महाल	जमाबन्दी		
			करोड़	लाख	हजार
शाहजहांबाद (दिल्ली)		२२६	२	८६	५८
अकबराबाद (आगरा)	१४	२६८	२	४५	४६
अजमेर (मारवाड़)	७	१२३	१	३७	५६
इलाहाबाद	१६	२४७	०	६४	०
पटना	८	२४०	०	६५	१८
अयोध्या	५	१२७	०	६६	११
उड़ीसा (जगन्नाथ)	१५	१३२	१	[illegible]	६२
ढाका (बङ्गाल)	०	१०६	१	१५	७२
अहमदाबाद (गुजरात)	६	८८	१	४५	२४
ठट्टा (सिंध)	४	५७	०	२५	७४
मुलतान	३	६६	०	६१	१६
लाहौर	५	३१६	२	२३	३४
कश्मीर	०	४६	०	३१	५७
काबुल	८	६६	०	३१	६३
उज्जैन (मालवा)	१२	१०१	१	६२	२६
कन्दर	०	५०	०	३८	६५
औरङ्गाबाद	१२	१३६	१	२७	४३

बुरहानपुर	६	११६	०	५७	४
बेदर	१२	१३६	०	७५	४
एलिचपुर (बरार)	५	६१	१	१२	५०
बीजापुर	१८	२८१	४	६६	७६
हैदराबाद	४२	४०५	५	७७	३६
		कुल	३०	१०	६

इसकी बांटनी इस प्रकार की गई थी —

राव प्रान्त (पेशवा) को	१२	४२	२२
नवाबअली निजाम बहादुर को	३	४६	७३
अङ्गरेज बहादुर को	१२	३५	७
आधदाली को	१	६३	१
सिक्ख आदि को	३	१२	३४

इस सूची के शीर्षक में इस प्रकार वर्णन दिया गया है :—

"यह यादगास्य औरङ्गजेब बादशाह के शासन-काल की बादशाही हिन्दुस्तान की जमाबन्दी की है। इसे (सन् १८०३ ई०) में पूने पर चढ़ाई करने के समय कम्पनी सरकार की ओर से जनरल वेल्जली बहादुर ने बनाई।"

इस सूची मे राव पंडित प्रधान (पेशवा के हिस्से) का विवरण नीचे लिखे अनुसार दिया गया है—

सरकार	८ करोड	७२ लाख	२६ हजार
निसबत (बाबत)	३ करोड	६६ लाख	६' हजार
कुल जोड़	१२ करोड	४२ लाख	२० हजार

इस सूची मे अङ्गरेजो की आमदनी का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

	करोड	लाख	हजार
खालसा	६	४१	२१
निसबत	२	६४	२७
नवाब कासम अली बङ्गाल द्वारा	३	२	३५
सूरत के नबाब से	०	४१	०
औरङ्गाबाद सूबा, बम्बई साप्टी प्रभृति परगने की आमदनी	०	४६	०
नबाबअलीखां से पहले से चला आया	१	८१	६६
टीपू सुल्तान से लिया	२	२४	१२
नवाब निजामअली खां ने दिया	१	२०	०
पहली बार	०	४२	८

दूसरी बार	१	७७	६१
चादोर के राजा से अब जो कम्पनी के अधिकार में है	०	६६	५६
सुजाउद्दौला बहादुर	१	५६	८६
न जनार्दं किरीट राजा	०	६२	०
अन्य संस्थानिक	०	४२	७१
भिमनशा अब्दाली	१	६३	०
गुलामशाह शिद्दी	०	२३	७४
सिक्ख (लाहोर)	०	६३	३४
नैपाल, गोरखा आदि	१	०	०
सावन्तवाडी श्री वर्धन	१	७	०
हबशी	०	५	२६
कुल जोड़ा ३३		१०	६

ऊपर के अंकों के विश्वास योग्य होने में संदेह ही है परन्तु इन्हें ऐतिहासिक पत्रों में मिली हुई मनोरंजक तालिकायें मानने में तो किसी प्रकार की हानि नहीं है।

१७७४ में पेशवाई के गृहकलह में अङ्गरेजों का प्रवेश और यहीं से दोनों के भावी युद्ध का बीजारोपण हुआ। इससे एक वर्ष पहले ही (१७७३) में पार्लमेंट ने रेग्युलेशन एक्ट पासकर सम्पूर्ण अङ्गरेजी भारत को एक गवर्नर जनरल की सत्ता के अधीन कर लिया था। जिससे राज्य कार्य अच्छी तरह व्यवस्थित रीति से हो गया था। १७७४ में कम्पनी सरकार की आमदनी इस प्रकार थी —

	आय		व्यय	
	करोड़	लाख	करोड़	लाख
बंगाल	२	४८	१	४८
मद्रास	०	८६	०	८१
बंबई	०	११	०	३१
कुल	३	४८	२	६४

खर्च में सैनिक खर्च ही प्राय अधिक था। १७७४ में लगभग कम्पनी के पास करीब ५३ हजार तैयार सेना थी। इसमें ४० हजार देशी और १३ हजार गोरे सैनिक थे। कम्पनी के पास इंगलैंड और भारत में सब मिलाकर ७०।७१ हजार टन वजन के ८५ जहाज भी थे। इस समय कम्पनी का व्यापार भी बहुत बढ़ गया था, अर्थात प्रति वर्ष वह विलायत से ६१,६० लाख का माल और सोना चाँदी बाहर भेजती थी और बाहर से करीब डेढ़ करोड़ का माल विलायत में जाती थी। जिसे विलायत में साढ़े तीन करोड़ में बेचती थी। इस तरह से वार्षिक दो करोड़ की बचत होती थी।

मराठा राज्य की साम्पतिक स्थिति

उस समय मराठी राज्य के द्रव्य बल और मनुष्य की स्थिति कैसी थी इस पर भी विचार करना उचित है। ग्रांट डफ साहब के मत से अनुसार उस समय मराठी राज्य की आय सरकारी कागज पत्रों के अनुसार दस करोड़ थी जिसमें होलकर सिंधिया, भोसले और गायकवाड की जागीरें मडलिका की खडनियाँ, मजराना, भूमिकर तथा और भी अनेक करों का भी समावेश होता है। यह कागजी आमदनी सब वसूल नहीं होती थी। वसूल प्राय साढे ७ करोड की होती थी जिसमे पेशवा के हाथ मे केवल पौने तीन या तीन करोड ही पड़ते थे। नाना साहब पेशवा के समय मे सबसे अधिक वसूल होती थी, जिसका परिणाम करीब साढे ३ करोड था। जिस समय पेशवा के कारबार म अंग्रेज सरकार का प्रवेश हुआ उस समय केवल पेशवा की आमदनी से अगरेज सरकार की आमदनी यद्यपि अधिक थी तो भी सब सरदारों की आमदनी यदि मिलाई जाय तो मराठी राज्य की कुल आय अगरेजों की आय से दुगनी थी। पेशवा के खर्च का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि खर्च का कोई लेखा अभी तक मिला नहीं है पर कह सकते हैं कि आय के प्रमाण से अर्थात अगरेजों की तुलना से, पेशवा का खच अधिक रहा होगा। १७७४ म कपनी सरकार पर कर्ज नहीं था लेकिन पेशवा के ऊपर बहुत कर्ज था। इसका कारण यह हो सकता है कि अगरेजों का खर्च नियमानुकूल बंधा हुआ रहा होगा और पेशवा का अनियमित खर्च रहा होगा। कपनी के नौकर भारत में मुनीम के समान होते थे और वे बिना कम्पनी के सचालकों की मजूरी के स्वयं खर्च नहीं कर सकते थे। यद्यपि वे निजी व्यापार, रिश्वत, लूटपाट आदि से बहुत पैसा विलायत ले जाते थे, परन्तु कम्पनी की आमदनी में से अपने निश्चित वेतन के सिवा अधिक खर्च नहीं कर सकते थे। सब हिसाब प्रत्येक छः मास में साझीदारों की सभा के सम्मुख उपस्थित करने के लिए भेजना पड़ता था। उस हिसाब का निरीक्षण आडीटर (निरीक्षण) करते थे। पेशवाई राज्य में स्वय पेशवा ही स्वामी थे, अतः अमुक खर्च करने या न करने की आज्ञा देने वाला दूसरा कोई नहीं था। निजी खर्च और दरबारी खर्च का अनुमान अलग-अलग नहीं किया जाता था। लोगों का कहना है कि जब बड़े माधवराव पेशवा की मृत्यु हुई तब उनकी निजी सपत्ति २४ लाख रुपयों की थी परन्तु जब दूसरे बाजीराव पेशवा ब्रह्मावत को गये तब उनके पास एक करोड़ के सिर्फ जवाहिरात ही थे। यद्यपि माधवराव के पास निज के चौबीस लाख रुपये थे। तो भी उन पर कर्ज इतना अधिक हो गया था कि उसका चुकाना कठिन था। अत मृत्यु के समय उन्हें इसके कारण दुःख भी हुआ था। आज भी यद्यपि देशी राज्यों मे राज्य की आमदनी म से उसके निज व्यय के लिए रकम अलग कर दी जाती है तो भी उसे घटाने बढ़ाने का अधिकार उन्ह ही रहता है। मालूम होता है कि पेशवाई में भी यही

प्राप्त रही होगी। पेशवा की निजी आमदनी और जागीर होने पर भी वे राज्य के खजाने से भी खर्च के लिए रुपये लेते थे। बड़े माधवराव साहब की जागीर करीब तीन लाख की आमदनी की थी। ऐसी जागीरें दूसरे राज्य से भी मिला करती थी। उन्गीर के युद्ध के बाद जो संधि हुई थी उसमें निजाम ने प्रसन्न होकर करीब ६० लाख की जागीर दी थी। पुरन्दर की संधि के अनुसार पराजित होकर शरण में आये हुये रघुनाथराव को १२ लाख नगद देना निश्चित किया गया था। सालबाई की संधि में बाद रघुनाथराव की शर्तें यद्यपि कम हो गई थी, पर चार लाख से वह कभी कम नहीं हुई थी। जब द्वितीय बाजीराव अंगरेजों की शरण में गये तब उन्हें आठ लाख की जागीर देने का निश्चय किया गया था। इन सब अंकों पर से पेशवा के निजी खर्च की कल्पना अच्छी तरह की जा सकती है। कर्ज राज्य का भूषण माना जाता था और यह भूषण मराठाशाही में स्वयं पेशवा और उनके सरदारों को अच्छी तरह प्राप्त था। सरंजामी पद्धति के अनुसार सरदारों को सेना सदा तैयार रखनी पड़ती थी जिस पर उन्हें खर्च करना पड़ता था। इसके लिए उन्हें जो प्रदेश दिये जाते थे उसकी आमदनी तो अपने समय पर आती थी और फिर भी पूरी नहीं आती थी तथा सरकारी खजाने से भी मासिक वेतन समय पर नहीं मिलता था। इससे मराठे सरदारों पर कर्ज हो जाया करता था। शायद ही कोई सरदार होगा जिसका साहूकार न हो। पहले बाजीराव पेशवा का राज्य बहुत कुछ बढ़ गया था इससे उन्हें सदा बहुत बड़ी सेना रखनी पड़ती थी। अतः उन पर ऋण भी बहुत हो गया था। ब्रह्मेन्द्रस्वामी को लिखे हुए बाजीराव के बहुत से पत्र प्रकाशित हुए हैं जिनमें उन्होंने अपना ऋण सम्बन्धी रोना ही रोया है। उसे पढ़कर मन ऊब जाता है। एक जगह उन्होंने लिखा है कि "आजकल मैं बहुतों का देनदार हो गया हूँ। कर्जदारों के तकाजे मुझे नर्क यातना के समान मालूम होते हैं। साहूकारों और सिलेदारों के पाँव पड़ते मेरे कपाल का पसीना नहीं सूख पाता" बड़े माधवराव के समय तो राज्य पर इतना ऋण चढ़ गया था कि उन्हें मरते समय बहुत दुःख होने लगा था। तब उन्हें सन्तोष देने के लिए रामचन्द्र नायक परांजपे ने साहूकारों को उनके ऋण के बदले में अपने नाम के रुक्के लिखकर उन्हें ऋण मुक्त कर दिया था। परशुराम भाऊ, पटवर्धन और हरिपन्त फड़के के पत्रों में भी इसी ऋण का ही वर्णन पढ़ने को मिलता है। दूसरे बाजीराव के सेनापति बापू गोखले को कर्ज के कारण बहुत कष्ट उठाना पड़ा था। उसने अपने गुरु चिन्तामणि दीक्षित को जो पत्र लिखे हैं उसमें केवल एक इसी विषय के समाचार हैं। सरकार पर ऋण हो जाने से सेना का वेतन रुक जाता था अतः सरकार स्वयं सेना की ऋणी हो जाती थी और उसकी आज्ञा की प्रधानता में कमी आ जाती थी। चढ़ाई के समय रास्ते में लूटपाट करना और लोगों को कष्ट पहुँचाकर खूब खंडनी वसूल करना इसी स्थिति का एक साधारण परिणाम है और भी एक कारण है जिससे मराठे

लुटेरा के नाम से बदनाम हुए हैं। परन्तु ऐसी स्थिति होने पर भी धनिक साहूकारों का निरर्थक लूटने का उदाहरण कहीं नहीं मिलता। मराठा सरदारों पर ऋण हो जाने का और एक कारण है। वह मद की ऋण का कारण बतलाकर सरदार अपने सरंजामी राज्य का हिसाब और खडनी मुख्य सरकार को देने से टालमटोल कर सकता था। सिंधिया और नाना फडनवीस का हिसाब के सम्बन्ध में सदा झगडा बना रहता था। सरदारों के कर्मचारी सदा पेशवा के दरबार में बुलाये जाते थे और उन्हें पूना में रहकर प्रतिवर्ष हिसाब समझाना पडता था। परन्तु उसकी सफाई कभी नहीं होती थी। हिसाब की जाँच करने वाले पेशवा के कर्मचारी रिश्वत लेते थे और सरदारों के कर्मचारी देते थे। इससे राज्य को बहुत क्षति उठानी पडती थी।

सरदारों पर ऋण होने पर भी स्वयं सरदार घर के करीब नहीं होते थे। प्रत्येक सरदार की निजी आमदनी अलग होती थी तथा दूसरे दरबारों के लोग भी इनके महत्व के अनुसार इन्हें भीतर ही भीतर पैसे देते थे। इसके सिवा लड़ाई में जीत होने पर लूट में इन्हें हिस्सा मिलता था और जीता हुआ सरदार विजित राजा से, अपने लिए भी जागीर आदि अलग लेता था। अपना निजी खर्च और दरबारी खर्च हिसाब कागजों में स्पष्ट रीति से दर्ज किया जाता था। उस समय राजनैतिक कारणों से सरकारी नौकरी के निज के लिए कुछ न लेने की कड़ी आज्ञा न थी। और यह पद्धति मराठों ही में नहीं अंग्रेजों के कारबार में भी उस समय दिखलाई देती थी। क्लाइव, वारेन हेस्टिंग्ज, प्रभृति शासकों ने उस समय लाखों रुपये निजी तौर पर लिये थे और इन लोगों की सम्पत्ति देख देखकर विलायत के लोगों तथा कम्पनी के साझीदारों का पेट दुखता था। इसी का यह परिणाम था कि वारेन हेस्टिंग्ज के समान प्रतिष्ठित कर्मचारी की जाँच, कमीशन बैठाकर की गई। कम्पनी को जब बादशाह की दीवानगीरी की सनद मिली थी उसके पहले ही क्लाइव ने अपने निज की एक बड़ी जागीर कर ली थी। अन्त में, उसे कम्पनी के नाम पर कर देना पड़ा। लार्ड कार्नवालिस ने जो अनेक सुधार किये थे उनमें कम्पनी के नौकरों की निजी आमदनी न करने की मुमानियत भी एक बहुत बड़ा सुधार था। इस सुधार को व्यवहार में परिणत करने के लिए उन्होंने नौकरों का वेतन बहुत बढ़ा दिया था। मराठाशाही में वेतन की अपेक्षा, इतर आमदनी पर ही प्राय बहुत आधार रहता था। नाना फडनवीस का वेतन उनके अधिकार की दृष्टि से बहुत कम था, परन्तु *उनके पास निजी सम्पत्ति बहुत अधिक थी और वह इतनी कि दूसरे बाजीराव के समय* में जब उन्हें पूना छोड़ना पड़ा तब उन्होंने एक बड़े सैनिक सरदार के समान अपनी निज की सेना खड़ी की थी। इसके सिवा लाखों रुपये उन्होंने अन्य स्थानों के प्रसिद्ध साहूकारों के यहाँ अपने नाम से जमा कराये थे।

दफ्तर

पेशवा के कार्यालय में सब तरह की लिखावट होने से प्रत्येक विभाग की

से छोटी बात का भी उल्लेख मिलता है। आजकल "पेशवा का दफ्तर" पूना में इनाम कमीशन के अधिकार में है। इस दफ्तर में से स्वर्गीय रावबहादुर गणेश चिमणाजीवाड ने कुछ चुने हुए कागजों की नकल की थी, वे दस बारह खंडों में "डेक्कन वर्नाक्युलर ट्रांस्लेशन सोसाइटी" के द्वारा प्रकाशित हुए हैं। जिन्हें मराठी राज्य शासन के सम्बन्ध में कुछ परिचय प्राप्त करना हो वे इन्हें अवश्य पढ़ें, इनमें सेना, किले, जहाजी सैनिक बेड़ा जमीन की पैमाइश, जमीन का निरीक्षण, जमाबन्दी आमदनी, छूट, किस्तबन्दी मामलतदार और तहसीलदारों के काम, गाँवों के झगड़े, जमीन को आबाद करने और, बगीचा आदि लगाने में उत्तेजना का दिया जाना, फसल की नुकसानी का चुकाया जाना, गाँवों के थाने, जमीन की बिक्री, जमीनी महसूल का ठेका, जंगल कर, घास दाने के सम्बन्ध में, गाँवों के कर्मचारी जागीरदार, इनाम, वृत्ति जागीर, दीवानी दावे, कर्ज वसूली, पंचायत अपराध और न्याय तथा दंड, पुलिस तथा जेल की व्यवस्था, सरकारी कर्मचारी, और जागीरदारों के दुराचार, विद्रोह, दगा, कपट, राजद्रोह, दूसरे राष्ट्रों से व्यवहार, बकालत राजाओं से व्यवहार, डाक, वैद्यक्रिया, शस्त्रक्रिया, टकसाल सिक्के भाव और मजदूरी, गुलामगीरी, सरकारी ऋण, व्यापार तथा कारखानों का उत्तेजन, धर्म विषयक निर्णय, सामाजिक बातें, ग्रामीण धार्मिक और सामाजिक उत्सव शहर, बेड़े, अथवा इन दोनों की धमाहत जल मार्ग का व्यवसाय सार्वजनिक भवन, तालाब बावड़ी, इतर लोकोपयोगी कार्य, पागलों की व्यवस्था, पदवियाँ और सम्मान भूमिगत द्रव्य की व्यवस्था सरकारी दूकानों और खदानों आदि सैकड़ों बातों का मनोरञ्जक वर्णन देखने को मिलता है। यद्यपि इन खंडों में प्रकाशित लेखों के फुटकर होने से किसी एक विभाग के कारबार का पूरा विवरण इनसे नहीं जाना जा सकता, तो भी इस टूटी फूटी सामग्री के द्वारा यह अच्छी तरह से जाना जा सकता है कि पेशवा के समय में राज्य कार्य व्यवस्थित रूप से चल रहा था।

सनदें

पेशवा के यहाँ से जो सनदें दी जाती थीं वे सार्थक होती थीं। इनमें दिये हुये अधिकार, वृत्ति आदि का पूरा और नियमित उल्लेख रहता था तथा उनके द्वारा किले का अधिकार दिया जाता है, कौन अधिकार से मुक्त किया जाता है आदि का भी पूरा वर्णन रहता था। सनदों की कई प्रतियाँ की जाती थीं और उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक विभाग के अधिकारियों के पास वे भेजी जाती थीं ताकि उनका पालन अच्छी तरह से हो सके। यदि स्वयं छत्रपति सनद देते थे तो उसकी सूचना पेशवा और उससे सम्बन्ध रखने वाले मन्त्री से लेकर गाँव के अधिकारियों तक को दी जाती थी। इस प्रकार की एक सनद का हिन्दी अनुवाद यहाँ दिया जाता है।

" राजेश्री स्वामी जब गढ़ से उतरकर सिंहासनारूढ़ हुए उस समय ब्राह्मणों का इनाम जमीन अव्वल और दोयमी दो तरह बात स्वराज्य और मोगलाई

दोना ओर का इनाम, तिहाई और चौथाई एक ओर सरदेशमुखी, छठा हिस्सा और नाडगोंडी और धुलबाव और कुलकान मोकासपट्टी और पहले की पट्टी, जलतरु तृण काष्ठ पाषाण निधि निक्षेप हकदारों को छोडकर, ६ वेदमूर्ति राजेश्री जनादन भट्टोबन नारायण भट्ट उपनाम सातपुत्र, वशिष्ठ गोत्र, आश्वलायन सूत्र, ज्योतिषी, मुईज मौजा, धर्माधिकारी, कसबाबाई की समस्त हवेली परगना मजकूर से चावल १, मौजा पाँववड १/४ 'मोजा कलव, १/४ कुल १/२ व सम्बन्ध म चिट्ठियाँ १ मुख्य पत्र २ मुकद्दम को ३ चिट्ठनवीसी, १ देशमुख और देशपांडे १ राजश्री वेशाधिकारी और लेखक वतमान राजश्री नारो पंडित प्रतिनिधि कुल ६।'

किले

शाहू के समय करीब २००० किला की सूची दफतर मे थी। प्रत्येक किले पर किलेदार रहता था और उसके हाथ के नीचे पहरेदार थे। ये लोग प्राय किले के आसपास के प्रदेश के हुआ करते थे। इनके निर्वाह क लिए उसी प्रदेश की जमीन दे दी जाती थी। किले के ऊपर की अथवा किल क नाचे की नौकरी मे ब्राह्मण, मराठा, महार, माँग आदि अनेक जातियों के लाग रखे जाते थे। इस कारण किलो की रक्षा करने मे सब जातियो का कुछ न कुछ हित अवश्य रहता था। किले क महत्व की दृष्टि स पहरेदार लोगो क सहायतार्थ अरबी, गारदी अथवा कवायदी फौज थोडी बहुत अवश्य रहती थी। कितने ही किलो पर तोपे और गोलन्दाज भी रखे जाते थे। बहुत स किलो पर पानी के तालाब, टङ्की आदि बहुत होते थे और बहुत दिनो तक सामग्री तथा गोला-बारूद के लिए अन्न प्रबन्ध किया जाता था। किले का जमा खच रखने के लिये किलेदार के हाथ में नीचे कर्मचारी रहते थे। पहले माधवराव पेशवा के रोजनामचे म चन्दन वन्दन के किले के सम्बन्ध मे नीचे लिखे अनुसार वर्णन मिलता है —

"विट्ठलराव विश्वनाथ को सनद दी जाती है कि इस वर्ष चन्दनगढ किले और वन्दनगढ किले का तअल्लुका तुम्हारे सिपुर्द किया गया। उसके वार्षिक खच का ब्योरा इस प्रकार है :—

३६०) भोजन खच प्रतिदिन ५ व्यक्ति, प्रतिमास के ३०) रुपये जुमले बारह मास के।

१३५) ऊपर के हुकुम पाबन्दी के लिए मुसहरा खच प्रतिवर्ष।

७५ अस्वारी (रसोइया) १

६० ब्राह्मण

२१६) नीचे लिखे लोगो का सलाना खर्च

६०) मशालची १

७२) आबदागिरी उठाने वाला १

६०) लड़का १
२४) मसाला के लिए तेल मासिक २) रु० से
२१६)

कुल जोड़ ७११) रु०

जुमला ७११) रु० सालियाना देने का करार किया गया है। तुम सरकारी काम मे कमीबेशीन कर साल के अन्त मे आकर कच्चा हिसाब समझना।

बहुधा न किले की सालबन्दी की तफसील इस प्रकार मिलती है।

अच्छे होशियार आढ़ाव और बरकदाज ७५ नियत किये जाये, दर प्रतिमास व्यक्ति ७) मिले। कारकून की वार्षिक ६५० रु०, दो दस्तकारो को वार्षिक २५०) (कुटुम्ब व कपडे लत्ते के खर्च सहित), इमारते नवीन बनवाई और मराई १०००) रु० सब मिलाकर किले की सालबदी ७६७५)। किले की व्यवस्था इस तरह की जाय कि किले के खर्च के लिए जो गाँव इसके प्रबन्ध के लिये दिया गया है, उस गाव की सब व्यवस्था ठीक रखी जाय। आमदनी बढ़ाई जाने की कोशिश की जाय। जो लोग मुकर्रर किये गये उनकी हाजिरी ली जाय। बदले म लोग न रखे जाय। जो लोग रखे जावें उनकी तैनाती कायदे से हुजूर सिक्के के द्वारा की जाय। किले का चौकी पहरा व नौबत बजाना आदि सिरस्ते क अनुसार होगा। दवखाना, नन्दादीप (अखण्डदीप) कुत्ते जो किले पर हो इनके लिए पहन के मुताबिक खर्च किया जाय और वह खर्च मुजरा दिया जाय। इसके सिवा कोठारी, मसालची मेहतर आदि की आवश्यकतानुसार रखकर बन्दोबस्त किया जाय।

जमीन

चालू जमीन और गाव की सूची गाव के दफ्तरा म अच्छा तरह सभाल कर रखी जाती थी और उनकी कई नकलें रहती थी। एकाध फेहरिस्त के खो जाने पर सही सिक्के के साथ दूसरी फेहरिस्त की नकल भी जाती थी। उदाहरणाथ शाहू महाराज के रोजनामचे में लिखा है कि मौजे मजकूर की कुल कैफियत सही सिक्के के साथ दी जाय और फिर शिकायत न होने पावे।

गाँव की फसल नष्ट हो जाने पर छूट दी जाती थी और किस्तबन्दी भी होती थी। उदाहरण, शाहू महाराजा क रोजानामचे में लिखा है— 'मौजा रहिमनपुर के मुकद्दम को पाला पड़ने से गाँव की फसल मारी गई। इसलिये अभय पत्र दिया सो सन इहिदे समसेन (१७५-५३) की बाकी म से रुपय ३००) की रकम छूट म दी गई। अब आगे की जमीन जोती बोई जाय। लावनी क मुताबिक उगाही हायो।

"कसबा भी बडी क कुछ ब्राह्मणो ने १० बीघा जमीन की उपज का हिस्सा तोजी में देने की शर्त पर जोती। इनम जमीन की उपज को तोजी म देने की शक्ति नहीं थी, इसलिए इनसे तोजी क रूप में ली जाय। (रोजनामाचा माधवराव पेशवा)

"अहमदनगर किले के पास से रघुनाथराव की सेना निकली। सिपाहियों के लिये खेत काटा गया इसलिये खेत वालों की तोजी माफ कर दी गई। पर शत्रुओं की चढ़ाई होने से किसानों का जब बहुत नुकसान होता तो भी तौजी वगैरह की छूट दी जाती थी। चढाई के कारण पहले लोग भाग जाते थे तो नये आदमी बसाकर उनसे बहुत कम तौजी ली जाती थी।" (रोजनामचा माधवराव पेशवा)

"बागलाण प्रान्त से एक पानी के बाँध के बह जाने से उसे फिर बाँधने में जो १४०००) रु० खर्च होंगे उन्हें रायानार यश देकर बाँध की दुरुस्ती करेंगे, ऐसा उन्होंने वादा किया तब उन्हें १४ वर्षों तक बढ़ती तौजी को किस्तबन्दी दी गई। बागलाण प्रान्त में जो बाँध बाँधकर जो नई वस्ती करेगा, उसे प्रतिशत १० बीघा जमीन इनाम देकर लोग बाँध वगैरह ठीक रखते थे।"

"नसरापुर के पास ८००) रु० खर्च कर बाँध बाँधा जा सकता था इसमें से ४००) रु० सरकार ने दिये और ४००) रु० जिनकी जमीन उस बाँध से सींची जा सकती थी उन्होंने दिये।"

"पुङ्गमद्रा की एक नहर का बाँध फूट जाने के हानि होने लगी तब कमावीसदार की कोपल परगने की आमदनी में से २०००) रु० ही खर्च करने की मजूरी देकर जमाबन्दी में वह रकम मुजरा की गई" (रोजनामचा माधवराव पेशवा)

गावों का ठेका (इजारा) दिया जाता था। इजारे की रकम से कमावीसदार अगर ज्यादह मांगते थे तो उनको हिदायत दी जाती थी।

"गाव की अथवा निजी खेत की सीमा के सम्बन्ध में झगड़ा हो तो सरपंच के द्वारा अथवा कसम (शपथ) पर सीमा निश्चित की जाय।"

(रोजनामचा माधवराव पेशवा)

"गाव की जमीन वस्ती आबाद करने को दी जाय तो चालू जमीन के हिसाब में जमा खर्च कर उसकी तौजी जमाबन्दी में कम कर दी जावे।

गाँवों के कर्मचारी

गाँव में काम करने वालों को गाँव के लोगों की ओर से सालना जो बंधा रहता था, दिया जाता था और सरकारी कर के मुताबिक उसकी वसूली होती थी। शाहू महाराज के रोजनामचे में पटेल व पटवारी का मान और कर इस प्रकार लिखा हुआ है—

पटवारियों का मान —

(१) सिरोपाव,

(२) दुकान के लिये तेल प्रतिदिन ॥ टक,

(३) चमार के यहाँ से वर्ष में जूते का जोड़ा १,

(४) कोली पानी भरे,
(५) हर एक त्योहार पर लकड़ी की मोली १,
(६) स्याही के लिये कागज और कागज बाँधने के लिये कपड़े का रुमाल,
(७) तमोली के यहाँ के पटेल से आये पान,
(८) दिवाली और दशहरा को बाजा बजाने वाले बजावे
(६) माली के यहाँ से डाली और,
(१०) मंदिर की आमदनी का हिस्सा,

सरमुकद्दमा के वेतनक अधिकार इस प्रकार थे —

सरकारी नक्द तोलों पर १) रु० सैकड़ा और एक लड़ा, अनाज आदि पर १ घड़ी दी जाय। अलमाग से आने वाली वस्तुओं पर प्रति लड़ी तीन पायली तोल की लड़ी पर १० सेर। प्रत्येक लड़ी नमक पर तीन पायली नमक उस बैल के पीछे जगात का एक टक्का (सिक्का विशेष)। ग्वाले के यहाँ से प्रति भैंस पीछे सालाना आधा सेर मक्खन। तेली की घानी पर प्रतिमास आधा सेर तेल। चमार के यहाँ से एक जूती का जोड़ा मिले इसी प्रकार देशमुख, देशपांडे नाडगौंडा चौगुला आदि के भी हक निश्चित किये गये थे। एक दृष्टि से ये सब बातें झगड़े की दिखती हैं। परन्तु उस समय यह सब व्यहार गाँव में होता था और सबों को मालूम था तथा सब मानते भी थे। ये सब बिना किसी झगड़े के सालाना वसूल होते थे। यदि कोई झगड़ा होता भी तो गाँव के गाँव में तै हो जाता था। यदि पटेल और कुलकर्णियों के कारण प्रजा भाग जाती थी तो उन्हें फिर बसाने का हुक्म होता था।

प्रजा का संरक्षण

मराठाशाही में गाँवों और लोगों की रक्षा का तथा अपराधों की जाँच का और इन्साफ का बहुत सा काम प्रायः गाँव वाले अपने आप ही कर लेते थे। विशेष अवसर पर सरकार की ओर से रखवाली का प्रबन्ध कर दिया था। यदि किसी स्थान पर मेला उत्सव आदि होता तो वहाँ आवश्यकतानुसार पुलिस रख दी जाती थी। घाटी प्रदेश पर चोर लुटेरों के प्रायः उपद्रव हुआ करते थे। इस लिए वहाँ सदा के लिए या कुछ दिनों तक तहसीलदार की मार्फत चौकियाँ बैठा दी जाती थीं। अपराधियों को पकड़ने के लिए इनाम रखे जाते थे। विशेष अवसर पर यदि किसी गाँव पर पुलिस रखी जाती तो उसका खर्च गाँववालों से वसूल किया जाता था। इस कर से ब्राह्मण मुक्त नहीं होते थे। यदि यह मालूम हो जाता था कि चोर आदि लोगों की इच्छा धनिकों के यहाँ चोरी करने की है तो पुलिस का खर्च धनिकों से ही लिया जाता था, फिर गरीबों से नहीं लिया जाता था। पुलिस को शस्त्रास्त्र बिना रोकटोक दिये जाते थे। तहसीलदार की मातहती में पहरेदार और सवार सैनिक पुलिस का काम करते थे। बड़े

बडे शहरो म कोतवाल रखे जाते थे। अन्य स्थानो पर तहसीलदार ही कोतवाल का काम करते थे और उन्हें फौजदारी के थोडे बहुत अधिकार रहते थे।

जेल

पुलिस की व्यवस्था के समान जेल की व्यवस्था भी अच्छी थी। अपराधियों के पाँवो म बेडी डाली जाती थी परन्तु प्रतिष्ठित कैदी छुट्टे ही रखे जाते थे। कैदियों को उनकी स्थिति क अनुसार अन्न या सीधा दिया जाता था। जेल म अपराधियो को बेइज्जत न करने का भी प्रबन्ध रखा जाता था। ब्राह्मण कैदी को ब्राह्मण के हाथ की रसोई ही दी जाती थी। यदि कैदी छुट्टा रखा जाता था तो इस बात का प्रबन्ध रहता था जिससे वह खिडियो पर से कूदने न पावे, न विष प्रयोग कर सके। अथवा ब्राह्मण हुआ तो वह आततायी न होने पावे, ऐसी व्यवस्था की जाती थी। भोजन के समय राजनीतिक कैदियो की बेडियाँ निकाल दी जाती थीं। स्त्रियो को भी जेल मे रहने का दड दिया जाता था। जेल मे चाबुक मारने का भी दण्ड दिया जाता था। नजर कैद के अपराधियो को उन्ही के घर पर रख कर उनकी खबरदारी के लिये चौकी या पहरा नियत कर दिया जाता था। साधारणतया उस समय अपराधियों के साथ सरकार की नीति सौम्य व्यवहार रखने की थी। राजकीय अपराधो के लिये जो दड दिया जाता था, वह कठोर नही होता था। प्राण दड बहुत कम दिया जाता था। राजकीय इच्छा स जो व्यक्तिगत अपराध होते थे उन पर कडी नजर नहीं रहती थी परन्तु जो शस्त्र लेकर छापे मारते और लूटपाट करते थे उनके हाथ पाव तक काट डाले जाते थे। अपराधी पिता क भाग जाने पर उसे बुलाने का सरल उपाय यह किया जाता था कि उसके आने तक उसके पुत्र को कैद म रखते थे। इस प्रकार के बदले का दड, शिवाजी के लिए उनके पिता शाहजी महाराज ने भी बीजापुर के दरबार में भोगा था। उस समय के फौजदारी कानून के पालन और जेल के सम्बन्ध म जस्टिस रानाडे ने इस प्रकार उदगार प्रगट किये हैं कि "नाना फडनवीस के कार्य काल के सिवा अन्य समय मे फौजदारी कानूनो का पालन निर्दयता से या बदला लेने की नियत से न कर दयापूर्ण सौम्य रीति स किया जाता था और वह इस तरह कि जैसा पहले न तो कभी हुआ और न आगे भविष्य म होगा। अपराध के योग्य ही दड दिया जाता था। कठोर दड प्रायः कभी नही दिया जाता था।"

न्याय विभाग

मराठाशाही म फौजदारी और दीवानी कानूनो का पालन अच्छी तरह से किया जाता था। पूना म पेशवा क राजधानी ले आने पर सतारा के न्यायाधीश का महत्व कम हो गया था और पूना के न्यायाधीश का पद विशेष महत्व का माना जाता था। इस पद पर ४ विद्वान् और शास्त्री की नियुक्ति की जाती थी। पूना के न्यायाधीश

रामशास्त्री की योग्यता प्रसिद्ध ही है। पूने की मुख्य अदालत के समान प्रान्त प्रान्त भी छोटी छोटी अदालतें थीं। इसके सिवा मामलतदार और तहसीलदारों को फौजदारी दीवानी के कुछ थोड़े अधिकार रहते थे। तभी बहुत से झगड़ों का न्याय प्राय निजी तौर पर ही होता था। यदि शपथ लेने या कष्ट देने पर भी झगड़ा तय होता था अथवा साहूकार, कर्जदार से वसूली करने में किसी प्रकार असमर्थ होता तो सरकारी अमानत की शरण ली जाती थी। और यह हो जाने पर आपस में पंचों द्वारा, झगड़ा निपटाने का अवसर दिया जाता था। पंचों का फैसला अमान्य होने पर सरकारी अदालतों का उपयोग अपील के लिए किया जाता था। प्रारम्भिक जांच, गवाहियां, सुबूत आदि का काम प्राय सरकारी कचहरियों में नहीं होता था। कानून का स्पष्टीकरण करने का अवसर आने पर न्यायाधीश के सम्मुख प्रश्न उपस्थित किया जाता था। सरकारी अदालतों में दावा दायर करने का काम बहुत कम पड़ने के कारण कोर्ट फीस २५) रु० सैकड़ा ली जाती थी, परन्तु वह प्रजा को भारी नहीं होती थी। क्योंकि काम कभी-कभी पड़ता था। यद्यपि कानून के मुख्य ग्रंथ स्मृति ग्रंथ माने जाते थे तो भी उनकी अपेक्षा देशाचार, कुलाचार और लोकाचार के नियमों पर ही विशेष ध्यान दिया जाता था। इस कारण जो गांव के पंच कह देते वैसा ही काम किया जाता था। नदी में स्नान कर या शपथ लेकर दावों का निकाल हो सकता होता था उसमें वकील का कोई आवश्यकता नहीं रहती थी। मुद्दई मुद्दालह ही अपना काम करते और न्यायाधीश, न्याय का तथा दोनों पक्षों के वकील का काम करते थे। सरकार को यदि पंच फैसला मंजूर नहीं होता तो फिर दूसरे पंच नियत किये जाते थे। बड़े-बड़े दावों में प्रजा को पेशवा तक अपील आदि करने का अधिकार था। परन्तु यदि छोटे-छोटे दावे भी पेशवा तक पहुँच जाते तो फिर उनकी भी सुनाई हो जाती थी। अंतिम फैसले के अनुसार काम करने के लिए तहसीलदार को आज्ञा दी जाती थी तब सख्ती और शीघ्रता के साथ उसके अनुसार काम किया जाता था। मराठाशाही के अनेक फैसले प्रसिद्ध हुए हैं। उन्हें देखने से विदित होता है कि उस समय झगड़ों का विवरण सविस्तार लिखा जाता था।

कर और लगान

जमीन के लगान के सिवा और भी कई तरह के कर उस समय प्रचलित थे। भिन्न भिन्न पेशों पर कर लगता था और जकात प्रत्येक गांव में वसूल की जाती थी। जो व्यापार विशेष लाभदायक होते थे उन पर जकात माफ की जाती थी। जकात की वसूली बहुत शान्ति से होती थी। बिना मालों के परवाने के यदि पेशवा के लिए भी माल आता हो तो उस पर भी जकात ली जाती थी। कहा जाता है कि माधवराव साहब पेशवा की माता गोपिका बाई ने निजी मन्दिर बनवाने के लिए मनवरा ...

लकड़ी मगाई उसपर श्रीमन्त (पेशवा) के घर की लकड़ी होने के कारण जकात नहीं ली गई तब यह बात माधवराज साहब के कानो तक पहुँची। इस पर उन्होंने व्यवस्था की रक्षा के लिए अपने निजी द्रव्य म से जकात चुकाई।

व्यापार

इस सम्बन्ध मे हम अपना मत पहले ही प्रगट कर चुके हैं कि मराठों ने अंग्रेजों को अपने राज्य में व्यापार करने की छूट देकर कोई भूल नही की है। मराठाशाही में न केवल अगरेज ही वरन् अन्य विदेशी भी आकर बिना रोक टोक व्यापार कर सकते थे और उन्हें सब तरह से सुभीते दिये जाते थे। शाहू महाराज के रोजनामचे के एक उद्धृत अश से विदित होता है कि शिवाजी महाराज के समय से अरब लोग समुद्र के पश्चिम किनारे के बन्दरो पर आकर साहूकारी करते थे, परन्तु आगे जाकर अगरेज ने उन्हे रोका। तब 'मस्कत' के अरब मुखिया ने आकर शाहू महाराज से विनय की। इस पर शाहू महाराज ने उनके लिए राजापुर बन्दर नियुक्त कर दिया। १७३४ में शाहू महाराज ने अरब के मलिक मुहम्मद का सत्कार किया और जब वह मस्कत को जाने लगा तब उसके लिए जहाज आदि का प्रबन्ध कर दिया। नाना साहब पेशवा के रोजनामचा से विदित होता है कि विठोजी कृष्ण कामत नामक सारस्वत व्यापारी को बम्बई में व्यापार करने के लिए जकात माफी कर दी थी और पालकी, वस्त्र और रहने को तथा कोठी के लिए स्थान भी दिया गया था।

इसी प्रकार तीन वैश्य साहूकारो को बमई और साष्टी में घर और जमीन दी थी। तथा आधी लगान माफ की गई थी (१७२१) जमदुत्तुआर मुल्ला मुहम्मद फकरुद्दीन को अहमदाबाद में व्यापार बढाने म उत्तेजना के रूप से एक लाख रुपये की कीमत के माल पर जकात माफ कर दी थी। जल मार्ग के द्वारा बन्दरो पर व्यापार करने वालों को इसी प्रकार उत्तेजना दिया जाता था और जलमार्ग के चोर आदि से उनकी रक्षा की जाती थी। जो माल नदी आदि मे बहकर आता और किनारे से लग जाता था वह सरकार में जमा किया जाता था परन्तु खाली जहाज यदि बहकर आते तो वे उनके मालिकों को ही लौटा दिया जाता। उत्तर कोकन पट्टी के पारसी व्यापारी डच लोगों की ध्वजा अपने जहाजो पर लगाकर डच उपनिवेशों मे व्यापार करते थे और उन्हे इस सम्बन्ध म सुभीते दिये जाते थे। स्थानों पर सरकारी दूकाने खोली जाती और उनके द्वारा विशेष वस्तुओ का व्यापार किया जाता था, जैसे कि पट्टू आदि कपडा और सरकारी खादानो मे से निकले हुई हीरे आदि। हीरों की खदान का स्वतन्त्र तअल्लुका कर दिया जाता था। सरकारी व्यापारी दूकानो से आसामियो को कर्ज दिया जाता था। कागज कपडा, कला कौशल के पदार्थ आदि व्यापारी चीजों की आवश्यकता होने पर सरकार की ओर से कारखाने वालों को पहले पैसे दिये जाते और नमूने को देखकर

बनाने का ठेका लिया जाता था। नमूने के अनुसार माल बनवाने और सरकारी माल देने के पहले बनाया गया माल न बेचने देने के लिए सरकारी आदमी रख लिया जाता था। नवीन बाजार और गाँव आदि बसाने तथा नये हाट शुरू करने की ओर पेशवा का बहुत लक्ष रहता था। ऐसा हाट वगैरह शुरू करने का यदि कोई ठेका लेता तो उसे गाँव में रहने की जगह, गाँव का परवाना, हाटों की दुकानों से या गाँवों में रहने को आनेवाले नये मनुष्यों से जगह का उचित भाड़ा और वस्तुओं पर कर वसूल का काम या ठेका भी उसे ही दिया जाता था। इसके सिवा सरकारी रास्तों या इमारतों के लिए किसी की निजी जमीन की आवश्यकता होती तो उसे लेकर या तो उसकी कीमत दे दी जाती अथवा बदले में दूसरी जगह देकर सनद लिख दी जाती थी।

सरकारी कर्ज

दूसरे राष्ट्रों के समान मराठाशाही में भी आवश्यकता पड़ने पर सरकार ऋण लेती थी। यह ऋण साहूकारों को किसी प्रकार का भय न होने के कारण तथा व्याज का भाव बहुत अधिक होने के कारण उनका साहूकारी धंधा बहुत चलता था। साहूकारों के यहाँ प्राय सब तरह के सिक्कों के रुपये खूब रहते थे और आवश्यकता पड़ने पर चाहे जितने रुपये आधी रात को भी उनके यहाँ से सरकार के या सरदार के हुक्म से, गाड़ियों पर थैलियों में भर कर, लाये जाते थे। मराठाशाही में साहूकारों की एक बहुत बड़ी संख्या थी। शाहू महाराज के रोजनामचों में एक जगह उल्लेख है कि शिद्दी पर चढ़ाई करने को जब बाजीराव गये तब उन्होंने चढ़ाई के खर्च के लिए साहूकारों से कर्ज लिया। इस कर्ज की रकम पर तीन रुपया सैकड़ा माहवार ब्याज देने और वसूल न होने पर राज्य की वसूली का हक देने की शर्त ठहरी थी। नाना साहब पेशवा के समय में ब्याज की दर ज्यादह से ज्यादह २।।) रु० सैकड़ा और कम से कम १४ आना सैकड़ा होने का उल्लेख मिलता है। नाना साहब पेशवा के रोजनामचे में १७४० से १७६० तक सरकार ने जिन साहूकारों से करीब डेढ़ करोड़ का ऋण लिया था उनके नाम की सूची दी गई है। उस पर विदित होता है कि बड़े-बड़े साहूकार कौन लोग थे। उस रकम की ब्याज की दर १) रु० से १।।) रु० सैकड़ा मासिक थी। बड़े माधवराव पेशवा के समय में ब्याज की दर खूब बढ़ी हुई थी। सवाई माधवराव पेशवा के समय में भी सरकारी ऋण के ब्याज की दर का यही हाल था। दूसरे बाजीराव पेशवा के रोजनामचे में सरकारी ऋण का कोई उल्लेख नहीं है। मालूम होता है कि बाजीराव के समय में १८०३-४ में शान्ति होने के कारण सरकार को ऋण लेने की आवश्यकता नहीं हुई। इसके सिवा सवाई माधवराव के अंतिम समय तक सरकारी जमा खर्च की व्यवस्था उत्तम हो जाने से सरकारी कोष की स्थिति भी अच्छी हो गई थी।

टकसाल और सिक्के

मराठाशाही के समय मे महाराष्ट्र मे अनेक प्रकार के सिक्के चलते थे। किसी सिक्के का बदला यदि दूसरे सिक्को से करना होता तो ऊपर से बट्टा देना होता था। इनका भाव ठहरा लिया जाता था, इससे बड़ी गड़बड़ी रहती थी। सिक्को में असल धातु सोना, चांदी, तांबा रहती थी पर दूसरी कम कीमती धातु अवश्य मिलानी पड़ती थी। जहां का सिक्का वहां चलाने से चलती कीमत और वास्तविक कीमत का कोई झगड़ा खड़ा नहीं होता था। परन्तु दूसरी जगह के सिक्के चलाने में बड़े झगड़े उपस्थित होते थे। हम पुस्तक के पूर्वार्द्ध में हम एक जगह दिखला चुके हैं कि शिवाजी और अङ्गरेजो के व्यवहार में एक बार कुछ रकम निश्चित करने का मौका आया तो शिवाजी ने स्पष्ट कह दिया था कि—"मैं तुम्हारे सिक्का की चलती कीमत को नहीं मानूंगा, किन्तु सिक्कों की जो यथार्थ कीमत होगी उसे मैं मानूंगा।" अङ्गरेज भी मराठा के सिक्के लेते समय इसी प्रकार का हिसाब करते थे। सम्प्रति सम्पूर्ण भारत में एक छत्री राज्य होने से प्रायः सम्पूर्ण स्थानों पर एक ही प्रकार का सिक्का चलता है। परन्तु निजाम हैदराबाद के राज्य में निजामशाही सिक्का अभी भी चलता है। स्वतः के सिक्के चलाना स्वतन्त्र राजसत्ता का चिन्ह है और भारत में निजाम, सिंधिया, होलकर आदि राजाओं का वास्तविक स्वातन्त्र्य नष्ट हो गया था, तो भी अङ्गरेज सरकार ने उनके सिक्के के स्वातन्त्र्य को सख्ती से नहीं छीना था। किन्तु राजी खुशी से ही सिक्के बन्द किये गये। सत्रहवीं अठारहवी शताब्दी में बारा और राज्यों की अधिकता होने के कारण एक प्रकार का सिक्का चलना सम्भव नहीं था। दूसरे राजाओं के समान मराठो ने भी अपना सिक्का चलाया था, परन्तु सरकारी टकसाल एक भी नहीं थी। निजी टकसाल खोलने के लिये सरकार की ओर से परवाने दिये जाते थे। इस सम्बन्ध में पेशवा के रोजनामचे से उद्धृत किये हुये नीचे लिखे परवाना से निजी टकसाला की व्यवस्था किस तरह की जाती थी, यह हमारे पाठक जान सकेंगे।

(नाना साहब पेशवा के रोजनामचे से उद्धृत) बाला जी बापू जी नागोठणे टकसाल खोलें। १० मासे का पैसा बनावें। दस मासे का पैसा बना तो अच्छा ही है। यदि कम बना तो दड दिया जायगा। करार तीन वर्ष का किया है। ठेके की रकम प्रतिवर्ष क्रमशः ५०) ७५), और १०००) १२०) रु०।

बहिरो राम दातार रेवदण्डा टकसाल खोलें। पैसा १० मासे वजन का बनावें। तिमाही ठेके की रकम ६०) ६०) और १२०) रु०।

धारवाड में जमींदारो ने घर घर टकसाल खोलकर खोटे सिक्के चलाये हैं। इससे बहुत नुकसान होता है। इसलिये टकसालें तोड़कर सिक्का ढालने का ठेका एक को दो। होन का सिक्का पहले करार के ही मुताबिक रहे। होन का वजन ३॥ मासे ही रुपया अर्काटी फुलचरी के समान बने। माल खरा हो। तौल भी पूरी हो। मोहर

दिल्ली के सिक्के के मुताबिक बारीकसी बनाई जाय। इसके बदले मे सरकार को प्रत्येक हजार पीछे छ मोहर और छ रुपये दिये जाय। कर माफ किया जाता है। टकसाल वाले सिक्के तोल म रक्खें। पहले वर्ष के लिए सरकार की ओर से वैतनिक ढालने वाले सहायतार्थ दिये जावेंगे।

(माधवराव के रोजनामचे से उद्धृत) नाना साहब ने पहले जो करार किया था उसके अनुसार व्यवहार नहीं हुआ। दो वर्षों तक भ्रमण हुआ और मामलतदारो ने भी आज्ञा नहीं मानी इसलिये कृष्णा नदी से तुङ्गभद्रा तक सब टकसालें तोड कर धारवाड में एक टकसाल खोलने के लिए पांडुरङ्ग मुरार को परवाना दिया गया और ११ तहसीलदार, २१ जमींदार, १६ साहूकार २१ दफ्तार आपारकर और कारीगर आदि लोगो को सख्त हुक्म दिया जाय कि वे सिक्का न बनावें तथा सरकारी कचहरियो में इस टकसाल के सिक्के के सिवा दूसरे सिक्के न लिये जाय। टकसाल के लिये कोलसा के वास्ते सरकारी जङ्गल से टकसाल वाले लकडी वगैरह लावें तो लाने दी जाय। सन् १७६५।

इसी वर्ष नासिक के लक्ष्मण अप्पाजी को सरकारी टकसाल की सनद दी गई और सहायता के लिये १ कर्मचारी, २ सिपाही ५ कारीगर सुनार, १ लुहार, २ घन वाले, १ सिक्का ढालने वाला दिया जाय। १०००) मे ४५ रु० नफा लेने की आज्ञा हुई।

एक सुनार और मोराजी सुनार को आज्ञा दी जाती है कि बिचवड़ की टकसाल में रुपया और मुहर खरी नही बनतीं। इसलिए तुम्हें नवीन टकसाल खोलने का परवाना दिया जाता है। तुम सूरती सिक्का न बनाकर जयनगरी बनाना और मुहरें हर सनजी जयनगरी के सिक्के की बनी प्रतिवर्ष सिक्के पर सवत् बदला जाय। मुहर और रुपया में किसी प्रकार का यदि अन्तर पड़ेगा तो दण्ड दिया जायगा।

बडगांव, तलेगांव (इन्दूरी) तलेगांव (ढमढेरे) वगैरह के अधिकारियो को आज्ञा दी जाती है कि जगह जगह की टकसालो के घर सरकार में जप्त कर जो कागज वगैरह हो सो सरकार में हमारे (पेशवा के) पास भेज दिये जायें। सन् १७६७।

नसराबाद (धारवाड) मे टकसल खोलने की आज्ञा दी जाय। होन सिक्का १॥ मासे का हो जिसमें २॥ मासे आध रत्ती अच्छा सोना और दिल्ली की पुरानी मुहर की कसका सोना ५॥ रत्ती। मुहर दिल्ली के आलमशाही सिक्के की और वजन पौन तोला पौने दो मासा एक रत्ती हो। रुपये का वजन १॥ मासे हो। इसमें चाँदी दिल्ली छाप का डाली जाय। सनद के बदले में नजराना ५०१) रु० देना होगा। सन् १७६७।

(सवाई माधवराव के रोजनामचे से उद्धृत) धारवाड के रुपया और चाँदी में खाद चार रत्ती रहे। यदि ४॥, ५ रत्ती हो तो टकसाल तोड़कर खोटे रुपये म जो नुक-

मान बैठे वह और दड लिया जाय। जमखडी की टकसाल के लिए भी यही हुक्म है। सन् १७७७।

कोकनप्रात म पुर्दा (बिल्लड) बनाने की टकसाल का परवाना दुल्लभ सेठ वगैरह को दिया गया। इनसे १२००१) रु० नजराना लिया गया। इन्हे यह सुभीते दिये गये कि दूसरे को परवाना नहीं दिया जायगा और अलीबाग तथा अगरेजो के तालुको से दूसरा पुर्दा नही आने दिया जायगा और नजर व कर नही लिया जायगा। सन् १७८२

(बाजीराव दूसरे के रोज्नामचे से उदधृत) चोई बन्हाड और सतारा मे मलकापुरी खोटे रुपये बहुत चल गये हैं। इसलिये चांदोडी चालू किये जाय और सरकारी कामो में चादोरी सिक्के का ही व्यवहार किया जाय। सन् १८००।

मराठाशाही के सिक्को के नाम

पैसे—टब्बू (दो पैसे का पैसा) १८॥ मासे वजन का, आलमगीरी १३॥ मासे, शिवराई ६। मासे।

रुपये— जोधपुरी, चादोडी, गञ्जीकोटी, मिठे, खदार।

होन—ऐलोरी, हैदरी, सतगिरी हरपनहल्ली चकरपती।

महमशाही एकेरो धारवाडी नवीन धारवाडी।

मुहर—दिल्ली सिक्का अहमदाबादी, चलनी, मालखड और १४ रु० १० आना की, सूरती, औरङ्गाबादी, बनारसी, जहानाबादी, मछली बन्दरी, पट्टणी, लाहौरी, बुरहानपुरी, कीमत १३।।।)।

आबकारी

पेशवाई में आबकारी विभाग नाम मात्र का ही था। सरकार को शराब मे प्राय कुछ भी आमदनी नही थी। सवाई माधवराव के समय मे आबकारी विभाग की प्रवृति शराब न बनने देने की ओर थी। कोकन मे माड (एक प्रकार का वृक्ष) की शराब भी बन्द कर दी गई थी। जो फिरङ्गी गोरे कुस्तान सरकारी नौकरी में रखे गये थे उनका काम शराब बिना नहीं चलता था। इसलिए उन्हें शराब बनाने के लिए भट्टी चढाने की आज्ञा दी गई थी। बन्दूको की बारूद के लिए जो खलासी शराब की आवश्यकता होती थी वह सरकार के ही द्वारा तैयार की जाती थी।

दूसरे बाजीराव के समय में महुये के फूल पर बहुत थोडा कर था। सन् १८०० मे बलसाड के पारसी दारोबजी रतनजी को महुए के फूल खरीदने और बेचने का ठेका ५०) रु० साल का दिया गया था। इसका उल्लेख उनके रोजनामचे मे किया गया है। पेशवाई में आबकारी का ठेका प्राय पारसी लोग ही लेते थे।

बेगार और गुलामी

गुलामी की रीति मराठाशाही में भी चालू थी। सम्प्रति किसी से बिना उसकी

इच्छा के नौकरी नहीं कराई जा सकती थी, परन्तु पहले यह बात नहीं थी उस समय गुलामों को रख कर उन्हें भर पेट खाने को दिया जाता था और सख्ती से नौकरी कराई जाती थी। गुलामों तथा नीच जाति की स्त्रियों की खरीद तथा बिक्री भी होती थी। विदेशी व्यापारी जहाँ आवारा औरतें मिलती वहाँ से लाकर इस देश में बेचते थे, परन्तु गुलामों के साथ पाश्चात्य देशों सा निर्दयता का व्यवहार नहीं होता था। गुलामी से केवल स्वातन्त्र्य नाश और इच्छा विरुद्ध नौकरी करने का ही प्रयोजन था। गुलामों के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करने के बहुत से उदाहरण नहीं मिलते। आजकल भी खानदेश में वंश परम्परागत खानाना काम लेने वाले नौकर होते हैं। उस समय गुलाम भी प्रायः इसी तरह के रहे होंगे। स्वामी की नौकरी ईमानदारी से करने पर इनको इनाम दिया जाता था, अथवा जमीन आदि देकर सुखी और स्वतन्त्र कर दिये जाते थे। एक का गुलाम यदि दूसरे के यहाँ चला जाता तो सरकार के द्वारा वह जिसका होता उसी को दिलाया जाता था। लौंडियों की गिनती पायगा के जानवरों के साथ या मनुष्यों में की जाती थी और उनका हिसाब रक्खा जाता था। लावारिस अनाथ और अत्यन्त दरिद्रियों के ऊपर गुलामी की आपत्ति प्रायः सब देशों में और सब कालों में आती रही। अङ्गरेजी साम्राज्य में भी अभी गुलामी की इस प्रथा को नष्ट हुए पूरे सौ वर्ष भी नहीं हुए हैं। उपनिवेशों में तो यह रीति अप्रत्यक्ष रीति से आज भी चालू है। आज भी भारत में आसाम प्रभृति स्थानों और भारत के पास सीलोन में आजन्म वचन बद्ध के रूप में यह थोड़ी बहुत जारी ही है।

प्रवास और डाक

जिस राज्य में पैसा आदि साथ लेकर निर्भय रीति से राजमार्ग के द्वारा लम्बी लम्बी यात्रा की जा सकती हो उसे सुराज्य समझने की स्वाभाविक पद्धति सदा से चली आई है। आज भी शान्तिमय अङ्गरेजी राज्य का वर्णन करते समय यही कहा जाता है कि "सोना उछालते हुए रामेश्वर से काशी तक चले जाओ कोई पूछने वाला भी नहीं है।" पेशवाई में भी इस दृष्टि से सुराज्य था, ऐसा विदित होता है। सम्प्रति रेलवे हो जाने के कारण सोना उछालते हुए यात्रा करना सरल हो गया है परन्तु रेलवे में भी चोरी वगैरह हो ही जाती है। पेशवाई में भी एक बार ऐसा सुराज्य हो गया था। सवाई माधवराव साहब के शासनकाल के सम्बन्ध में इतिहासकार लिखता है कि "श्रीमन्त सवाई माधवराव के अख्तियार लेने के पश्चात् पूना से दिल्ली तक लाख रुपयों की चीजें सोना चाँदी जवाहिरात साथ में लेकर निर्भय रीति से यात्रा की जा सकती है। इस प्रकार इनके राज्य और प्रबन्ध में अब किसी को कोई भय नहीं है।' (राजवाड़े खण्ड ४)।

महाराष्ट्र में यद्यपि अङ्गरेजों के समान रेलवे और तार का प्रबन्ध न था तो भी डाक का प्रबन्ध अवश्य था और इस प्रबन्ध के बिना राज्य का कारबार और

प्रजा के लोगो का काम चल नही सकता था। यद्यपि उस समय समाचारो के साधन आज के समान सुधरे हुये नही थे, पर समाचार जानने की इच्छा आज से पहले कुछ नही थी। उस समय सरकारी डाक के सिवा निजी डाक का भी प्रबध था। कभी-कभी सांडनी सवार या घुडसवार के द्वारा पत्र भेजे जाते थे। पर साधारण रीति, मनुष्य के द्वारा डाक भेजने की थी। जो धधा पीढी दरपीढी से चला आता है उसे करने वालों की एक अलग जाति ही बन जाता है। इसी प्रकार उस समय ऐसे डाक लाने ले जाने वाले सैकडों और हजारो थे जिन्होंने इसी काम म अपना जन्म व्यतीत कर प्रवीणता प्राप्त की थी। डाक ले जाने वाल को 'जासूस हलकारा' अथवा काशीद (कासिद) कहते थे। पास की मजिल पर एक ही डाक वाला जाता था, परन्तु लम्बी मजिल पर या महत्व के पत्र होने पर दो हलकारे भेजे जात थे जिससे कि माग म एक के बीमार आदि हो जाने या किसी प्रकार की अडचन पड जाने से और निरुपयोगी होने पर दूसरा उस काम को कर सके। प्रत्येक सरकारी कार्यालय मे और व्यापारियो की दूकानों पर गत आगत पत्रों की बही रहती और बहुधा प्रत्येक सरकारी कार्यालय तथा व्यापारी दूकानो पर से प्रति दिन गाव गाव पत्र भेजे जाते थे। सामान्य स्थिति के लोग निजी डाक हलकारो के द्वारा नही भेजते थे। इसके लिये किसी किसी स्थान पर सरकारी डाक के साथ प्रजा की डाक भेजने मे भी थोडे बहुत सुभीते रहते थे और इसके लिये उनसे कुछ निश्चित रकम ली जाती थी।

डाक चमडे की थैली म बहुत बदोबस्त से भेजी जाती थी। यद्यपि डाक वाले के समान का वजन कुलिया के समान बहुत भारी नहीं रहता था तो भी भारी होता ही था। सरकारी डाकियो के लिए ठप्पे का प्रबध रहता था और ज्यो ही डाक वाला पहुँचता त्यो ही डाकिये का भार ठप्पे वाले को देकर तुरन्त रवाना करने का काम गावों के कर्मचारियो पर था और इसमे जरा भी भूल हो जाने से उन्हें दड दिया जाता था। डाकिये को सरकार की ओर से चपल, जूते और लकडी दी जाती थी। इस लकडी मे घुघरू बधे होते थे जिससे डाकियो को चलने म घुँघरू के स्वरपूर्ण शब्द के सुनने से कम परिश्रम पडे और जगली रास्ते म उस आवाज को सुनकर छोटे मोटे जानवर भाग जाय। इसके सिवा उस आवाज को सुनकर आगे के ठप्पे वालो को भी तैयार रहने की सूचना मिल जाती थी। घुघरू की आवाज सुनकर लोगो को चैतन्य हो जाने का अभ्यास हो गया था और डाक को रोकना एक प्रकार से सरकार के विरुद्ध अपराध समभा जाने लगा था। सरकारी डाक की मजिल का ठप्पा थोडा होने से सरकारी डाक तुरत पहुँच जाती थी, परतु निजी डाक वाले भी एक एक दिन मे तीस तीस पैंतीस पैंतीस कोस की मजिल मारते थे। कभी कभी तो सरकार के पहले बाजार मे समाचार फैल जाते थ। डाकिया से जो करार किये जाते थे उसका एक मिसाल इस तरह का मिलता है—"कि कासिद से इकरार किया गया कि वह पच्चीसवें रोज व्हां

(काशी) पहुँचे और वहाँ से पच्चीसवें रोज जवाब लेकर पूना आवे । मिहनताना रु० २५) और प्रतिदिन एक सेर अन्न दिया जाय ।" पर वर्षाकाल में भी कलकत्ते से दिल्ली को पन्द्रह दिनों के भीतर भीतर डाक पहुँच जाती थी। सरकारी डाकिये को नदी पर नाव या डोंगी तुरत मिलती थी और रास्ते में यदि जंगल होता तो नजदीक के गाँव के कर्मचारी उस जंगली रास्ते के लिए साथी और मसाल देते थे। ऊँटों डाक की अपेक्षा हलकारे की डाक और हलकारे की डाक की अपेक्षा कासिद की डाक अधिक जल्दी पहुँचती थी। सरकारी डाकिये को माहवार वेतन मिलता था और निजी डाक के लिये कामपुरता ठहराव कर लिया जाता था जो कि डाक पहुँचा देने पर उसे मिल जाता था। केवल रास्ता खर्च के लिए कुछ थोड़ा बहुत पहले दिया जाता था।

पदवियाँ

मराठाशाही में भी सम्मान सूचक पदवियाँ दी जाती थी। उनके मिलने पर लोग अपने को सम्माननीय समझते थे और यह एक स्वाभाविक बात है। मनुष्य स्वभाव सदा एकसा ही रहता है। कुछ पदवियों के नाम इस प्रकार हैं, हिन्दूराव हिम्मत बहादुर वजारतमाआब, सेनापति, सेनाखासखेल, सेना साहब सूब सेना, धुरन्धर, धुरन्धर समशेर बहादुर महाराव रुस्तमराव, फतहजंग बहादुर, सरलश्कर, सेनाबारा हजारी।

ये पदवियाँ छूछी नहीं होती थी, किन्तु इनके साथ जागीर अथवा वेतन आदि कुछ न कुछ मिलता ही था। पदवी दान का खर्च पदवी प्राप्त पुरुषों से नहीं लिया जाता था। उसके सम्मान में त्रुटि न आने और उसी योग्य कार्य होने की सम्हाल सरकार की ओर से की जाती थी। विट्ठल शिवदेव को अपने यहाँ घंटा बजाने की परवानगी दी गई थी और साथ में बजाने वाले की भी नियुक्ति सरकार की ओर से की गई। इसी तरह पालकी का खर्च और उठाने वाले कहारों की तनख्वाह सरकार से मिलती थी। सन् १७५३ ५४ में असराज नाइक बंजारी समाणा को नगाड़ा और निशान रखने की आज्ञा दी गई। इसका काम बैलों के टाके के द्वारा धान्य का व्यापार और माल की आमदरफ्त करने का था। किसी को आबदागीरी या मशाल रखने का मान मिलता तो साथ में आबादगीरी या मशाल रखने का जलाने वाला भी सरकार की ओर से ही दिया जाता था। इसी तरह चवर मिलते तो चवर वाला भी मिलता था।

विद्या वृद्धि और सुधार

विद्या वृद्धि और भौतिक प्रगति करना भी सुधरे हुए राज्यों का एक कर्त्तव्य है परन्तु उस समय यूरोपियन राष्ट्रों को देखते हुए इस सम्बन्ध में मराठों ने कुछ नहीं किया, यही कहना उचित होगा। मराठा का ध्यान विद्या की अपेक्षा राजकीय कार्यों में ही सदा रहता था। इसके सिवा पूर्ण शांतिमय काल भी उन्हें प्राप्त नहीं हुआ।

इन्हीं दो कारणों से मराठों के हाथ से विद्या वृद्धि और भौतिक सुधार के कार्य नहीं हो पाये। मराठों के समकालीन अङ्गरेज, मराठों की अपेक्षा शस्त्र, कला, और जगत के ज्ञान में बहुत ही आगे थे। तभी ६ हजार मील की दूरी पर से भारत में आये। यह कहना अनुचित न होगा कि मराठे गूलर के कीड़े के अथवा पानी के मेढक के समान थे। उनका ध्यान शास्त्र ज्ञान प्राप्त करने, कला कौशल सीखने, व्यापार बढ़ाने अथवा खेती सुधारने आदि धनोत्पादक कार्यों की ओर नहीं गया, इसका कारण राजकीय बातों में महत्वाकांक्षी होने पर भी भौतिक सुख के सम्बन्ध में उनका अल्प सन्तुष्ट होना है। उन्हें अपने तोप, बन्दूक आदि के लिए यूरोपियनों पर अवलम्बित रहना पड़ता था। जब इसी में यह दशा थी तो दूसरी कला के ज्ञान के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या था? यद्यपि अठारहवीं शताब्दी की भारतीय कला कुशलता की बहुत कीर्ति है, तथापि इस कीर्ति में मराठों का भाग बहुत ही कम है। मराठों का सादा रहन सहन एक प्रकार से गुण कहा जा सकता है, परन्तु इस सादेपन के कारण उन्हें आँखें खोलकर जगत को चारों ओर से देखने की इच्छा न होने से इस गुण को दोष ही कहना उचित है। इसी तरह मुसलमानों का विलासप्रिय होना उनका दोष कहा जाता है, परन्तु इस विलासिता की इच्छा के कारण उन्होंने उद्योग, धन्धे, व्यापार, कला कौशल आदि से बहुत कुछ परिचय बढ़ा लिया था। मुसलमानों का इतने देशों को लाँघकर भारत में आना ही यह सिद्ध करता है कि मुसलमानों को भूगोल का ज्ञान मराठों की अपेक्षा अधिक था। नाना फड़नवीस बहुत चतुर थे तो भी उनके दफ्तर से रावबहादुर पारसनीस ने जो भूगोल वर्णन का एक पत्र प्रसिद्ध किया है उसे देखकर हँसी आये बिना नहीं रहती, ग्राण्टडफ के इतिहास को कोई इतर कारणों से भले ही कुछ कहे पर यह निश्चित है कि उनका मराठों सम्बन्धी ज्ञान किसी भी मराठे से सौगुना अधिक था। मराठों का भूगोल सम्बन्धी ज्ञान प्रायः 'दण्डकारण्य महात्म्य' पर से बना हुआ था और उनके ऐतिहासिक ज्ञान का उद्गम स्थान 'भविष्य पुराण' कहा जा सकता है। मराठी इतिहास में एक जगह वर्णन है कि सदाशिव भाऊ ने दिल्ली लेने के बाद रूम शाम का सिंहासन लेने का विचार कह सुनाया था, परन्तु मालूम होता है 'रूम शाम की बादशाहत' इन चार शब्दों के सिवा उन्हें वहाँ का और कुछ ज्ञान नहीं था। फराशी अर्थात् फ्रेन्चों को वे प्रत्यक्ष जानते थे, परन्तु उनके पूर्व इतिहास को जानने की मराठों ने कभी इच्छा प्रगट नहीं की। टीपू ने अपना वकील पेरिस फ्रांस की राजधानी में भेज कर वहाँ अपने वकील के निवास स्थान पर कुछ दिनों तक अर्द्धचन्द्र चिह्नित ध्वजा उड़ाई थी। इससे विदित होता है कि मराठों की अपेक्षा टीपू को परदेश का ज्ञान बहुत अधिक था। कहा जाता है कि पेशवाओं के समय में दो ब्राह्मण विलायत गये थे, परन्तु मराठी दफ्तरों में इतिहास संशोधकों को ऐसा कोई कागज नहीं मिला जो अङ्गरेजों के ही हाथ का लिखा हो और जिससे यूरोप का परिचय मिलता हो। मराठी कागजों में इस

समाचार का उल्लेख मिलता है कि फ्रांस की प्रजा ने अपने राजा को मार डाला, पर इस पर से यही सिद्ध होता है कि तत्कालीन फ्रांस राज्यक्रांति का भी परिचय उन्हें नहीं था जो कि उस समय सहज ही प्राप्त किया जा सकता था। श्रयुक्त राजवाडे लिखते हैं कि—'उस समय के यूरोपियन दरबारों में अर्थात् पंद्रहवें लुई महान् फ्रेडरिक और द्वितीय जार्ज के दरबारों में और राज्य में भूगोल का जो ज्ञान था उनकी अपेक्षा पेशवाई दरबार का भौगोलिक ज्ञान बहुत क्षुद्र था, ऐसा स्वीकार करना उचित है।'' कपिल कणाद प्रभृति रचित शास्त्र, मुनि प्रणीत शास्त्रों से अतिरिक्त यूरोप को जिन जिन शास्त्रों का ज्ञान था, पेशवा से राज्य में उनकी गंध भी नहीं थी। और न केवल पाठशाला विद्यापीठ, विद्वत सभा, कौतुकालय, वादसभा, वाधसभा, पृथ्वी पर्यटन आदि यूरोपियन संस्थाओं के समान संस्थाएं ही पेशवा के राज्य में कहीं थी, किन्तु दुनिया में कहीं ऐसी संस्थाएं हैं, इसका भी पता महाराष्ट्र में किसी को नहीं था। इन सब बातों का सार इतना ही है कि अठारहवीं शताब्दि में मराठों की संस्कृति यूरोप के प्रगतिशील राष्ट्रों का अपना कम दर्जे की थी। राजवाडे ने इस सम्बन्ध में बड़ा आश्चर्य प्रकट किया है कि पेशवा ने अंगरेजों से मुद्रणकला क्यों न ली? परन्तु जहां वैदिक विद्या ही में सम्पूर्ण विद्या की समाप्ति मानी जाती थी वहां छापखाने की क्या जरूरत? उस समय वेदविद्या केवल अधिकारी लोगों को ही दी जाती थी और वेदों का पढ़ना यही वैदिकों का काम था। वेदों की भाषा का यदि अभ्यास था तो बहुत ही थोड़ा था ऐसी स्थिति में छापेखाने की आवश्यकता ही न थी। उस समय यही कल्पना थी कि धर्म ग्रन्थों के सिवाय स्वतन्त्र वाङ्मय कोई हो ही नहीं सकता, आजकल महाराष्ट्र मोरोपन्त की कविता को वाङ्मय में स्थान दिया जाता है। उस समय पेशवाई काल में उसकी गणना धर्म ग्रन्थों में शायद ही की जाती हो। उनके ग्रन्थों में महाभारत, रामायण, भागवत आदि के विषयों का वर्णन और भक्ति प्रधान स्फुट कविता होने के कारण उन्हें धर्म ग्रन्थों में ही स्थान देना उस समय के लोग अच्छा समझते थे। उनकी भी पोथियां लिखी जाती और ब्राह्मण लोग उनका स्पर्श अब्राह्मणों को नहीं करने देते वेद वेदांग पुराण तो धर्म ग्रन्थ हैं ही, परन्तु प्रत्येक विद्या को, धर्म की परिधि में खोंचने की प्रवृत्ति उस समय बहुत अधिक थी। धर्म विचार की यह एकलौती दिशा को छोड़ दें और व्यावहारिक शिक्षा ही पर विचार करें तो उस समय वह शिक्षा भी बहुत कम थी। साधारण अक्षर ज्ञान सरल गणित, हिसाब और थोड़ा सा संस्कृत का ज्ञान ही उस समय के श्रेणी के गृहस्थ की शिक्षा का पठन क्रम था।

भौतिक सुधार के लिए जिस प्रकार साहित्य प्रसार आवश्यक होता है। उसी प्रकार व्यवहार चातुर्य प्राप्त करने के लिए परदेश गमन भी आवश्यक है, परन्तु मराठों ने परदेश गमन को वर्जनीय माना था और स्वदेश में भी इधर उधर यात्रा कर सृष्टि निरीक्षण करने और दूसरों की कला कुशलता सीखने की ओर ध्यान दिया था।

अतएव उपयोगी वस्तुओं के लिए उन्हें दूसरों पर अवलम्बित रहना पड़ता था। यद्यपि राज्य सत्ता की धुन में उन्हें स्वदेशी वस्तु व्यवहार की आवश्यकता नहीं दिखाई दी होगी, पर आगे जाकर वे अपना परावलम्बितपन खूब अच्छी तरह समझ गये होंगे, पल्लेदार तोपें, बंदूकें, पानीदार तलवारें कटारी, होलायन्त्र, दूरबीन आदि युद्धोपयोगी पदार्थ इसी प्रकार घड़ियाँ, काँच के झाड़ (झूमर), काँच, उत्तम रेशमी कपड़ा, बारीक मलमल आदि व्यवहारोपयोगी पदार्थों के लिए मराठों को अंगरेज, चीनी, मुसलमान प्रभृति लोगों पर अवलम्बित रहना पड़ता था। परदेशी व्यापारी मराठों की खरीद से मालदार बने थे। विलासी अथवा उपयोगी पदार्थों को न लेने की मराठों के मन में इच्छा नहीं थी। ऐसा समझना भूल है, परन्तु यह सत्य है कि इन पदार्थों को स्वयं उत्पन्न करने की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं थी।

मराठाशाही की शिक्षा पद्धति आज से बहुत भिन्न प्रकार की थी। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि उस समय सार्वजनिक शिक्षा संस्था थी नहीं। व्यावहारिक शिक्षा के लिए गुरू के और वेदादि का शिक्षा के लिए शास्त्रियों के घर में पाठशाला होती थी। गुरूजी को अमावस पुनो और त्योहार पर कुछ दान की प्रथा थी और पाठशाला में सब शिक्षा धमार्थ दी जाती थी। इतना ही नहीं, किन्तु जो घर की दाल रोटी से खुश होते थे उन्हें भी शास्त्रियों के यहाँ से भोजन दिया जाता था और पढ़लिखकर विद्वान हो जाने वाले शिष्य अपने गुरू का नाम अभिमान पूर्वक लें और गुरू के घराने की परम्परा का स्मरण करते रहे, यही गुरू के विद्यादान का बदला होता था। सरकार ने यद्यपि पाठशालाएं नहीं खोली थी, परन्तु सरकार की ओर से वार्षिक वृत्ति और जागीर आदि दी जाती थी और उससे अप्रत्यक्ष रीति से शिक्षा को सहायता मिलती थी। पेशवा के रोजनामचे और अन्य स्थानों पर भी वैदिक शास्त्री पण्डितों को जमीन आदि इनाम में देने का प्रमाण मिलता है। उनसे विदित होता है कि केवल सुख से रह कर स्नान सन्ध्या करने और राज्य का अभीष्ट चिन्तन करते हुए आशीर्वाद देते रहने के लिए ही इनाम दिये जाते थे। उस समय केवल और धर्माचरण करने वाले और स्नान सन्ध्या, पठन पाठन आदि में ही अपना सम्पूर्ण समय व्यतीत करने वाले बहुत से लोग थे। वेदशास्त्र का अध्ययन और पण्डिताई की शिक्षा देने वाले विद्यापीठ मुख्य मुख्य तीर्थ स्थानों पर होते थे और आद्यपीठ काशी में थे। कर्म, धर्म संयोग से काशी, प्रयाग, गया आदि उत्तर प्रान्त के तीर्थ स्थान विजातीय लोगों के शासन में रहे। मराठों ने अपनी सत्ता के बल उन पर अधिकार करना चाहा, पर उनका प्रयत्न सफल न हो सका। तो भी विद्या की दृष्टि से महाराष्ट्र और काशी का प्रबन्ध तीन चार सौ वर्षों तक आबाधित बना रहा। काशी में जो विद्वान प्रसिद्ध प्राप्त कर चुके थे उनमें दक्षिणी पंडित बहुत प्रसिद्ध थे। सन १९११ में "संस्कृत विद्या पुनरुजीवन इस विषय पर केशरी में इस ग्रन्थ के मूल लेख प्रकाशित हुए थे जिसमें

काशी मे दक्षिण के पडितो के घराने पर भी एक लेख लिखा था। उसे पढ़ने पर पाठकों का इस सम्बन्ध मे बहुत कुछ परिचय प्राप्त होगा।

वेद शास्त्रो का शिक्षण ब्राह्मणो ही तक था और यह बात शिवाजी महाराज को भी मान्य थी। अगरेजी शिक्षा और अगरेज लोगो से परिचय हो जाने से आज मे चातुर्वर्ण्य व्यवस्था मान्य नही है। जन्मसिद्ध चातुर्वर्ण्य व्यवस्था और उसके ठहराये हुए अधिकार तो आजकल के विद्वानो मे से बहुत कम मानते हैं। उन्हे अपने आज के मत निर्विवाद दिखते है परन्तु कोई भी विचार त्रिकालाबाधित नही जचती उनमे के बहुत से लोग यदि पूर्वकाल मे होते तो उन्हे आज का मत उचित नहीं दीखता। नदी के वेग मे जिस तरह पत्थर के टुकडे भिन्न भिन्न रूप के बन जाते हैं उसी तरह काल के वेग से विचार भी भिन्न भिन्न बनते है। शिवाजी यदि ब्राह्मणो को नि सत्तान करना चाहते तो कर सकते थे और रामदास के पास जाकर उन्हें गुरू बनाने का आग्रह भी किसी ने शिवाजी से नही किया था, परन्तु शिवाजी ने स्वयम् ही नैतिक कर्म करने का इच्छा की और तदनुसार राज्याभिषेक के पहले उन्होंने अपना मोजी बन्धन करवाया। यद्यपि आज की विचारसारणी के अनुसार उन्हे इस प्रकार के कर्म करने की कोई आवश्यकता नही थी, परन्तु उन्होने ऐसा किया और इसका कारण यही है कि उनके मन पर वैदिक सस्कृति का प्रभाव पड़ा था और इसीलिए राज्यारोहण की विधि शास्त्र सम्मत करने के लिए उन्होंने विचार किया हो, इसमे कोई आश्चर्य है। साराश यह नही हैं कि शिवाजी ने जो कुछ किया वह तन मन धन से किया और इस विषय मे वे भीतर बाहर से एक थे। अर्थात् आजकल जिस तरह कुछ क्षत्रिय ऊपर से बहुत काम करने की अभिलाषा रखते और भीतर [illegible] ब्राह्मणो की निन्दा करते हैं। ऐसा [illegible] ही व्यवहार शिवाजी ने इस सम्बन्ध मे नही किया क्षत्रिय और ब्राह्मण शब्द एक प्रकार के अनुयोगी सम्बन्धो के कारण स्थायी रीति से एक दूसरे से जकडे गये हैं। इसलिए यदि कोई चाहे तो चातुर्वर्ण्य व्यवस्था सारी की सारी अमान्य कर सकता है। जिस चातुर्वर्ण्य व्यवस्था मे क्षत्रिय भूषण रूप माने गये हैं इसी मे ब्राह्मणो को भी विशेष स्थान दिया गया है और इसीलिए मराठाशाही मे क्षत्रिय लोग अपने को क्षत्रिय प्रगट करते हुए भी ब्राह्मणो को उचित सम्मान देना चाहते थे। एक दृष्टि से उनका ब्राह्मणों को इस प्रकार गुरुत्व का सम्मान देना चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अनुसार ठीक हैं। *मराठाशाही के समय मे मराठा के द्वारा ब्राह्मणो का सम्मान* वर्ण व्यवस्था के अनुसार होने के ही प्रमाण प्राप्त होते है और ऐसा सम्मान करने वालों मे शिवाजी सबसे आगे थे। इस प्रकार जब मराठाशाही मे क्षत्रियो ने ही ब्राह्मणों का अभिमान रक्खा तो पेशवाई मे ब्राह्मणो के अपने अभिमान करने मे क्या आश्चर्य है ?

इस विवेचन पर से यह सिद्ध होता है कि उस समय मराठाशाही म यही मान्यता जोरा पर थी कि चातुर्वर्ण व्यवस्था के कारण पढ़ने लिखने का काम ब्राह्मणा का ही था उन्होंने अपना यह काम सम्हाल लिया था, अत उन्हे शिक्षा के अर्थ धर्मादाय की रकम में से बहुत कुछ मिल जाया करती थी। इस सम्बन्ध म पशवा ने भिन्न-भिन्न जातियों के अन्तर भेदो का अभिमान कभी नहा किया। काशी [illegible] रामेश्वर तक पेशवा के धार्मिक दान पहुँचते थे। श्रावण मास मे सम्पूर्ण भारत म पचद्राविडो ही नही, किन्तु पचगौडा का भी सम्मान किया जाता था। वेद विद्या की शिक्षा के सिवा जाति भेद का प्रश्न उस समय अन्य बातो म नहीं दिखलाई दता था था। क्योंकि मराठाशाही म मुसलमानो के फकीर औलिया आदि साधु, सन्तो तथा देवस्थानो को दान दिये जाने के उदाहरण मिलते हैं। इसी तरह धर्मार्थ वैद्यकी करने वालो, शस्त्र क्रिया करने वालो, अथवा बावडी बनाने वाला या मार्ग म छाया करने के लिये पेड लगाने वालो और पानी की टकी बढाने वाला को उनकी जाति का लक्ष्य न देकर इनाम दिया जाता था। शाहू महाराज क राजनामचे म असई क रण छोड नामक वैद्य, राजे मुहम्मद हकीम, बागलाण वाले नरहर के पुत्र नारोराम वैद्य, भवानीसकर वैद्य गुजरात, पीरमाहजीग वैद्य, रेवडण्डा, मीरअपुतलब आदि लोगो के नाम मिलत हैं, जिन्हे सरकार की ओर स दिये गये थ। इस पर स हमारे अनुदान जाति भेद सम्बन्धी उक्त मत की सत्यता प्रगट हो जायगी। साराश यह कि व्यवहार की किसी भी बात म जाति भेद का विद्रोह अधिक नही था और जाति के अनुसार व्यापार की बैठनी होने के कारण व्यापार को जो उत्तेजना दिया जाता था वह प्रकारान्तर से उन्हीं के जातियो को मिलता था।

दसवाँ अध्याय

मराठों की बादशाही नीति

किसी भी राष्ट्र की कार्य परम्परा के आरम्भ में एक निश्चित नीति रहती है। इसी तरह मराठों का इतिहास देखने से भी विदित होता है कि उनके शासन काल के भिन्न भिन्न भागों में भी उनकी निश्चित नीति अवश्य कार्य कर रही थी। स्थूल दृष्टि से कहा जा सकता है कि सन् १६४६ तक मराठों की नीति मुसलमान बादशाहों के आश्रय में अपनी-अपनी जागीर का उपभोग करते हुए यथासंभव सुखपूर्वक, किन्तु सुख से, रहने की थी। शिवाजी के समय में मराठों की नीति, एक छोटी ही क्यों न हो, किन्तु स्वतन्त्र स्वराज्य स्थापित करने की हुई। फिर शिवाजी महाराज की मृत्यु के बाद शाहू महाराज के दक्षिण में लौटने तक शिवाजी द्वारा स्थापित राज्य की रक्षा मुगलों के आक्रमणों से करने की मराठों की नीति रही। फिर शाहू महाराज से सवाई माधवराव पेशवा तक स्वराज्य को सम्हालते हुए सम्पूर्ण हिन्दुस्थान पर सत्ता स्थापित करने और दिल्ली के बादशाहत को औपचारिक रीति से बनाये रख कर प्रत्यक्ष व्यवहार में हिन्दू बादशाहत का उपयोग करने की मराठों की नीति हुई। दूसरे बाजीराव के समय से मराठी नीति फिर संकुचित हुई और अङ्गरेजों आदि से राज्य की रक्षा करते हुए, बन पड़े तो नवीन राज्य प्राप्त करने की नीति, मराठों ने स्वीकार की। सन् १८१८ से मराठा नीति ने फिर अपना वही मूल क्रम पकड़ा और आज तक मराठे रजवाड़ों ने यही नीति ग्रहण कर रक्खी है कि अङ्गरेज सरकार के आश्रय में रहकर येनकेन प्रकारेण अपने वैभव की रक्षा की जाय और बादशाह से सम्मान प्राप्त करके बादशाहत की रक्षा की जाय।

मराठों की यदि कोई बादशाही नीति रही है तो वह सन् १७०७ ई० से १७८४ तक रही और इसी नीति के वास्तविक स्वरूप का विचार करना यहाँ आवश्यक है। 'बादशाही नीति' इस पद के दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि दिल्ली के बादशाहों के साथ मराठों की नीति। दूसरा यह कि अपने को बादशाह समझने या बनने की नीति, परन्तु अठारहवीं शताब्दी में दिल्ली की बादशाहत ही मराठों की नीति मध्यवर्ती आधार वस्तु थी। दिल्ली की बादशाही हड़प कर मराठी बादशाहत स्थापित करने की नीति ग्रहण करने के विचार मराठों के मन में भले ही उठे हों, परन्तु इस सम्बन्ध में उन्होंने एक शब्द भी अपने मुँह से बाहर नहीं निकाला। राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा की मर्यादा नहीं हो सकती और वह होना भी क्यों चाहिए? 'अहम्ब्रह्मास्मि' और 'ब्रह्म हूँ', ऐसी जो भावना धर्म में उचित है उसी प्रकार यदि कोई जगत् का राजा होने की भावना करे तो राजनीति की दृष्टि से उसे नाम नहीं रक्खा

जा सकता। सम्पूर्ण जगत् का राज्य यदि मिले तो उस लेने की इच्छा कोई भी कर सकता है। अथवा जिसके शरीर में बल हो वह प्रयत्न भी कर सकता है। यह बात दूसरी है कि वस्तु स्थिति ही इस प्रकार की हो कि सम्पूर्ण जगत् का राज्य न तो आज तक किसी को मिला और न भविष्य मे किसी को मिलेगा। इसी दृष्टि से मराठो की बादशाही महत्वाकाक्षा का न्याय हमे करना चाहिए।

अङ्गरेजो को और उनके पहले मुसलमानो को भारत मे अपनी साम्राज्य सत्ता स्थापित करने का जितना अधिकार था, उतना ही मराठों को मराठा साम्राज्य स्थापित करने का था। यह बात अलग है कि किसी का अधिकार सिद्धि को प्राप्त हो सका और किसी का न हो सका। इसलिये इन सबा मे मराठो का अधिकार ही अधिक ठहरेगा। क्योंकि मराठे हिन्दू थे और इस दृष्टि से हिन्दू बादशाहत इनके पूर्वजोपार्जित थी। न्याय और नीति तत्वज्ञान की दृष्टि से कार्य सिद्धि पर अवलम्बित नहीं हो सकती, क्योकि प्राय यह देखा जाता है कि अन्याय अथवा अनीति पूर्ण काय सिद्ध हो जाता है और न्याय एव नीतिपूर्ण या ही रह जाता है। अठारहवी शताब्दी म मराठो ने जो भारतवर्ष भर म मराठी सत्ता स्थापित करन का नाम तक नही लिया उसका कारण केवल परिस्थिति थी, जा बात सर्वथा असम्भव दिख रही है उसे कहो कर दिखाने में कोई चातुर्य नही है। क्याकि अशक्य बात कहने वाले के धैर्य का सत्कार न कर लोग उसकी हसी ही करत हैं। अठारहवी शताब्दी मे मराठो के मन की जो बात छिपी हुई थी उस पर हम विचार करता नही है, किन्तु व्यवहार मे उन्होने जिस नीति स काम लिया उसी का यहा विचार करना है। अत दिल्ली क बादशाह के साथ उनको जो नीति थी उसे ही उनकी "बादशाही नीति" का अथ समझ कर यहाँ विचार करना उचित है। उनकी यह नीति एक शताब्दी क लगभग रही। उसी पर से उसके महत्व, व्यापकत्व और विस्तार की कल्पना की जा सकती है।

दिल्ली की बादशाहत के सम्बन्ध मे मराठा की नीति क्या थी इसका सक्षिप्त उत्तर वह है कि मराठे दिल्ली की सत्ता को नष्ट न कर उसकी दीवानगीरी या उसका सनापतित्व अपन हाथ म लकर सयुक्त (मराठों के और बादशाह के) अधिकारो के बल पर अपने राज्य की रक्षा और वृद्धि करन क साथ-साथ भारतवष के सब राजा महाराजाओ पर अपना प्रभाव जमाना चाहते थ। अर्थात् नाम से नही, परन्तु काम स हिन्दू राज्य स्थापित करन को उनकी नीति थी। इस पर स यदि कोई यह कहे कि स्वत अपने नाम का राज्य स्थापित करने और केवल काय राज्य का अधिकार भोगने मे कुछ विशेष अन्तर नही है तो यह कथन ठीक न होगा, क्याकि दिखाव को भी बहुत महत्व प्राप्त होता है। शक्याशक्य का विचार करने म दिखाऊपन को भूल जाने से काम नही चलता। कानूनीपन म न्याय का नव दशमाश रहता है, परन्तु कानूनी व्यवहार के लिय दिखावे की ही बहुत सहायता रहती है। मराठा न दिल्ली का राज्य नष्ट

करने का ही निश्चय क्यो नही किया ? इसका सरल उत्तर यह है कि उस समय वे वैसा कर ही नही सकते थे और यदि उनके प्रबल का लोगो को सशय हो जाता तो जो काम कर सके वह भी न कर पाते। साथ ही उन पर उनके राज्य से नष्ट होने का प्रसङ्ग भी आ गया होता।

पहले तो भारतवर्ष भर म हिन्दुओ का राज्य स्थापित करने का काम ही कठिन था। उसमे भी केवल मराठी राज की सत्ता स्थापित करना और भी अधिक कठिन था। शिवाजी की एकतन्त्री राज सत्ता जो महाराष्ट्र म स्थापित हुई और दो सौ वर्षों तक उनके घराने मे रही इसका कारण एक तो मराठी राज्य का अधिक विस्तृत न होना था, दूसरे अपने राज्य काय भार म दूसरो को सम्मिलित करने के लिए शिवाजी महाराज ने अष्ट प्रधान की रचना कर राज्य को सङ्गठित कर लिया था। फिर भी शिवाजी महाराज की तीसरी पीढी म ही वास्तविक सत्ता उनके घराने म न रहकर पेशवा के हाथ म आ गई और पहले बाजीराव पेशवा के समय से यह विश्वास होने लगा कि केवल अपने घराने म यह सत्ता न टिक सकेगी। अत उन्होने यद्यपि शिवाजी महाराज का अनुकरण कर अष्टप्रधानो का पुनर्निर्माण नही किया तो भी राज्य के आधार भूत बड बडे सरदारो का निर्माण किया। शिवाजी महाराज के समय म राज्य विस्तार अधिक नही था, अत स्वयम् महाराज अष्टप्रधानो के कामो की ओर अपने हाथ मे रख अपनी जगह पर बैठे-बैठे हाथ की रेखाओ के समान अपने राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था को देख सकते थे, परन्तु यदि राज्य का विस्तार दिन पर दिन उन्ही के सामने बढा होता तो फिर उन्हे भी एकतन्त्री राज्य सत्ता चलाना कठिन होता और लाचारीवश सरदारो को न्यूनाधिक स्वतन्त्रता देना ही पड़ती।

पेशवा की स्थिति स्वयम् शिवाजी महाराज की स्थिति से भी अधिक विकट थी। क्योकि शिवाजी महाराज के उत्तराधिकारियो मे कर्तृत्व शक्ति न रहने के कारण उन्हे राज्य का उत्तरदायित्व पूना म अपने ऊपर लेना पडा था। इसके लिए यद्यपि वे एक दृष्टि से निर्दोष भी माने जा सकते हैं तो भी जो लोग उनके इस काय को अधिकार लालसा का रूप देते थे। वे पेशवा से स्पर्द्धा और ईर्ष्या करते थे। पेशवा का घराना इतिहास प्रसिद्ध घराना न था। ये तो कोकण प्रान्त से आये हुए थे। जो लोग सैकडो वर्षों स महाराष्ट्र के खानदानी रईस थे वे यही समझते थे कि शाहू महाराज को भुलावे म डालकर षडयन्त्रकारी पेशवा ने राज्य सत्ता अपने हाथ म ले ली है। भले ही पेशवा यह कहे कि 'मराठी राज्य सत्ता की धुरी हमने अपने कन्धो पर ली है।" पर प्रतिस्पर्द्धियो का यही कहना था कि ब्राह्मणो ही को पेशवा पद क्यो मिले और उसमे भी इन कोकणस्थ-ब्राह्मणो को ही क्या दिया जाय, परन्तु पेशवा के घराने मे दो तीन पीढ़ियो तक, एक के बाद एक कर्मण्य, पुरुष उत्पन्न होने से प्रति पक्षी उनका कुछ न कर सके और उनके हाथ से सत्ता छीनना कठिन हो गया। पहले पेशवाई पद पर

परम्परा गत नही था परन्तु इनके जमाने में वह भी ऐसा ही हो गया अत: पेशवा के शत्रु मन ही मन और भी अधिक जलने लगे। उनकी जलन कम नही हुई केवल एक इसी कारण से दाभाडे, गायकवाड, भोसले, आदि अनेक सरदार पेशवा म शत्रुता रखते थे। पेशवा हर समय यह जानते थे कि राज्याधिकार हरण करने का आरोप हमारे ऊपर लगाया जाता है, अत जो बात शिवाजी को न करनी पडी वह पेशवा को करनी पडी अर्थात् सरदारो को स्वतन्त्र जागीर और सरञ्जाम देकर उनकी महत्वाकाक्षा का समाधान करना पड़ा।

हम ऊपर दिखा चुके हैं कि पेशवा के समय म शिवाजी की अपेक्षा राज्य का विस्तार अधिक बढ गया था, अतः उन्हें अधिक विभाग के साथ साथ सत्ता विभाग करना पड़ा। क्योंकि पेशवा पूना मे रहते थे। वहाँ से बैठे बैठे दिल्ली कलकत्ता और त्रिचनापल्ली के आस पास का प्रात जीतना कठिन था और यदि जीत भी लिया जाता तो फिर उसकी व्यवस्था करना और भी कठिन था। अतएव यह काम सरदारों के द्वारा ही प्राय: कराना पडा और जो काम करता है उसे अधिकार और सत्ता कुछ न कुछ अपने आप ही मिल जाती है। इसी न्याय से मराठा सरदारो को थोडा बहुत स्वातन्त्र्य लाभ अनायास ही प्राप्त हो गया था। पेशवा का राज्य इतना बडा था कि उसके अन्त भाग मे प्राय कर वसूली ही नही हो पाती थी। यदि प्रजा नियमानुकूल दे देती थी तो तहसील और जिले के अधिकारी उसे चुकाने म चाल चलते थे और जहाँ की प्रजा जाट राजपूत आदि अप्रसन्न और शूर होती उससे वसूल करने तथा निजाम जैसे बलिष्ठ सूबेदारो से चौथ वसूल करने का अवसर पडता तब मारामारी और सैनिक चढाई की नौबत आती थी। इन चढाइयो के लिए ही सिंधिया, होलकर प्रभृति सरदारो की आवश्यकता के कारण ही उनका महत्व भी बढा।

यदि कानूनी भाषा मे कहा जाय तो सिंधिया और होलकर राज्य नौकर थे और राज्य दुमाले सरदारो से जागीर और सरञ्जाम का हिसाब लेने का अवसर पडने पर अर्थ विभाग का एक साधारण कर्मचारी भी हिसाब समझने के लिए इन पर आँखें लाल पीली कर सकता था, परन्तु इन सरदारो का महत्व इतना अधिक बढ गया था कि पेशवा का सरञ्जामी और जागीरी हिसाब माँगना ही उन्हें अपमानजनक प्रतीत होता था और इस प्रकार सरदारो का प्रभाव अधिक बढ जाने के कारण पेशवा को इन सरदारो की सम्मति के बिना राज्य की व्यापक नीति निश्चित करना कठिन हो गई थी। भोसले राजघराने की मूल सत्ता पेशवा का सर्वाधिकार फडनवीस (अर्थसचिव) की सम्मति और सरदारो की तलवार इस प्रकार मराठा राज्य के चार विभाग हो जाने से एकतन्त्री राज्य चलना कठिन हो गया था। सरदार लोग युद्ध में विजय प्राप्त कर शत्रु को सन्धि के लिये विवश करते थे। अर्थसचिव राजकीय पद्धति पर विचारकर शत्रु के साथ होने वाली संधि की शर्तें रचते थे, पेशवा इन सब बातो पर विचार

करते थे और सतारा के महाराज की मुहर उस पर लगाई जाती थी। इस प्रकार चौतन्त्री राज्य पद्धति चल रही थी। इसमे प्रत्येक तन्त्र को अपने से भिन्न तीन तन्त्रों का भी ध्यान रखना पडता था। जब तक ये चारो तन्त्र परस्पर आदरपूर्ण व्यवहार करते रहे तभी तक मराठाशाही मे अन्तस्थ बल बना रहा। अङ्गरेज लोग मराठाशाही का वर्णन करते हुये मराठी राज्य न कहकर "मराठा सघ" कहा करते हैं और यही कहना उपयुक्त भी है। यह सघ जब तक रहा तब तक सारे भारत म सत्ता स्थापित करने की सम्भावना भी रही और इसके नष्ट होने ही वह सम्भावना भी नष्ट हो गई।

अस्तु अब इस पर विचार करें कि सघ के अस्तित्व के समय मराठों ने जो सम्पूर्ण भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया तो किस प्रकार किया। उस समय एक ओर तो मराठो की मूल राजगद्दी सतारा मे जीवित थी और उसे पूना मे लाना पेशवा को इष्ट और शक्य नही था। दूसरी ओर से सतारा ही के समान निर्धन और निर्बल मुसलमानों की गद्दी दिल्ली में थी। ऐसे समय म पेशवा को, और व्यापक भाषा मे कहा जाय तो सम्पूर्ण मराठो को अपनी सत्ता भारतवर्ष भर म स्थापित करना कठिन था। इसलिये सतारा की गद्दी नष्ट करने मे जितने विघ्न थे उनसे मुगलो की गद्दी नष्ट करने मे कही अधिक थे। कुछ अशों मे राजनिष्ठा की भावना से पेशवा सतारा की गद्दी नष्ट नही करना चाहते थे, पर मुसलमानो की गद्दी के सम्बन्ध मे यह बधन नही था। क्योकि प्रतिरोधी होने के कारण वे उसे नष्ट करना ही उचित समझते थे तो भी उसे नष्ट करना उनके लिए कठिन था। अतः गद्दी नष्ट न कर उनकी सत्ता अपने हाथ म किस तरह ली जाय यही एक प्रश्न उनके सम्मुख था और शीघ्रता न कर धीरे धीरे उन्होंने उस प्रश्न को हल कर लिया। यह तो प्रसिद्ध ही है कि शाहू महाराज की मृत्यु के समय नाना साहब पेशवा ने उनसे राज्य का सर्वाधिकार पत्र प्राप्त किया था। इस तरह सतारा की गद्दी के अधिकार हस्तगत करने मे भी इन्होने इसी युक्ति का अवलम्बन किया था। यह ध्यान मे रखने योग्य बात है कि सतारा की सत्ता पूना में आने के बहुत वर्ष पहले दिल्ली की सत्ता रायगढ म लाने का प्रयत्न किया गया था। यह प्रयत्न स्वय शिवाजी महाराज ने किया था और यह कहना उचित होगा कि इसी साध्य को अर्थात् दिल्ली की बादशाहत की सत्ता की सिद्धि प्राप्त करने के साधन के रूप में सतारा की सत्ता पूना लाई गई थी जिस समय पहले बाजी राव ने अपनी मराठी बादशाही पद्धति का विवेचन पूर्ण रीति से किया उस समय उसे समझने वाला राजा स्वय शाहू महाराज सतारा की गद्दी पर था, परन्तु जब शाहू के बाद इस मर्म को समझने वाला राजा या चतुर नीतिज्ञ शासक सतारा मे नही देखा गया होगा तभी नाना साहब को पूना म सत्ता लाने की सूझी होगी। शाहू का मृत्यु पत्र सच्चा हो या झूठा परन्तु मुगलों की कार्यकारी सत्ता मराठों के हाथ म लाने का जो शिवाजी महाराज का विचार था, उसे ही सिद्ध करने के लिए उन्हें यह सब करना

पड़ा। यद्यपि उन्होंने निजी महत्व बढ़ाया, तो भी साथ ही प्राचीन बादशाही पद्धति को भी आगे चलाया यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस बादशाही नीति की कल्पना का यश शाहू महाराज के समय में करने वाले बालाजी विश्वनाथ पेशवा को प्राय दिया जाता है, परन्तु इस नीति की मूल कल्पना बालाजी विश्वनाथ को न होकर महाराज शिवाजी ही की थी।

शिवाजी यह अच्छी तरह जानते थे कि कोई एक हक प्रतिपक्षी दूसरे हकों से अच्छी तरह मारा जा सकता है। मुगल शत्रु तो थे, पर वे जानते थे कि अपने स्वराज्य का और उनके राज्य में सत्ता प्राप्त करने का अधिकार भिन्न है। भेद विवेक उनके मन में भले ही न रहा हो, पर प्रगट में यही उन्होंने किया था। उनका पहला अर्थात् स्वराज्य का अधिकार निसर्ग सिद्ध था, अत उसके लिए शिवाजी मुगलों से लड़े। इस अधिकार के सम्बन्ध में आपस में समझौता होना असम्भव था। शिवाजी के पिता का भी मुगलों और मराठों में आपसी समझौते का ही व्यवहार रहा। इसके दो कारण कहे जा सकते हैं कि या तो शाहजी तक महाराष्ट्रीय राजा शिवाजी के समान ढीठ, साहसी अथवा प्राणपन से चेष्टा करने वाले नहीं रहे होंगे, दूसरे या उसके समय की परिस्थिति अधिक विकट रही होगी। कुछ भी हो, यह बात ठीक है कि शिवाजी के पहले के राजाओं ने छोटे से राज्य का ही क्यों न हो परन्तु स्वतन्त्र राजा बनने का हठ प्रत्यक्ष रीति से नहीं किया। अतएव मनसबदारी अथवा सरदारी के सम्मान से ही उन्हें सन्तोष होता रहा, परन्तु शिवाजी इस बहुमान से सन्तुष्ट न हो सके और अपने असन्तोष को यशस्वी बनाने की उनमें हिम्मत भी थी। अत उन्होंने युद्ध में उतर कर स्वराज्य प्राप्त किया। शिवाजी की महत्वाकांक्षा यद्यपि इतने में ही तृप्त होने वाली नहीं थी, तो भी ऐसा दिखाई देता है कि जिस प्रदेश पर पहले मराठों का किञ्चित भी अधिकार नहीं था और मुगलों ने उस पर अपनी सत्ता स्थापित कर रक्खी था उसे अपने हाथ में लेने के लिए वे युद्ध करना उचित नहीं समझते थे।

मालूम होता है कि इनके लिए वे दोनों मराठे और मुसलमानों के समझौते से ही चलना उचित समझते थे। अर्थात् मुगलों के राज्य में उनकी सत्ता अस्वीकार न कर उनकी सत्ता का अंश मात्र, उनके प्रतिनिधि बनकर प्राप्त करना ही इस समझौते की नीति थी। शिवाजी महाराज मुगलों के अनेक अथवा अनन्त अधिकारों में से चौथ या सरदेशमुखी के हक प्राप्त कर उसी के बल पर अन्त में सम्पूर्ण रूप से, या बहुत अंशों में, सत्ता प्राप्त करना चाहते थे। सम्भव है कि इस युक्ति की स्फूर्ति शिवाजी महाराज को ही मस्तिष्क में प्राचीन इतिहास के परिशीलन से प्राप्त हुई हो। क्योंकि राजनीति और राजकरण कुशलता मनुष्य जाति के इतिहास में समान ही सनातन है इतिहास में भी 'धाता यथा पूर्व मकल्पयत्' का न्याय ही बारम्बार दृष्टिगत होता है और तो क्या, न्यायमूर्ति रानडे के, मराठी इतिहास के निबन्ध में, यह **शिवाजी** के समान

कि—उपाधिकारियों की सहायता से राज्य प्राप्त किया जाता है और एक अधिकार से दूसरा अधिकार मारा जाता है।' अङ्गरेजों ने भी शिवाजी के सौ सवा सौ वर्षों के बाद इसी युक्ति का अवलम्बन किया अथवा उन्हें करना पड़ा। रानाडे महाशय कहते हैं कि—"मुसलमान बादशाही के हाथों से निकलकर जो सर्वसत्ता अन्त में मराठा मण्डल के हाथ में आई उसकी समता का उदाहरण भारत के प्राचीन इतिहास में शायद ही दिखाई पड़ता हो, परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मार्क्विस आफ वेलेस्ली ने जो एक बहुत बड़ा काम किया उस इस घटना का महत्व कम हुआ दिखाई पड़ता है। मार्क्विस आफ वेलस्ली ने भारत के राजा महाराजाओं के साथ सब मिलकर सेना की सहायता देने की सन्धियाँ कर, उनसे यह ठहराव किया था कि प्रत्येक संस्थानिक अपने खर्च से अपने सहायतार्थ अङ्गरेजी फौज रक्खे। इस प्रकार की सन्धियों के कारण अन्त में ब्रिटिश कम्पनी ने सम्पूर्ण भारत पर स्वामित्व प्राप्त किया।

रानडे इस सम्बन्ध में एक और उदाहरण दे सकते थे। अर्थात् इस सन्धि के भी चालीस वर्ष पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने दिल्ली के बादशाह से जो दीवानगीरी प्राप्त की थी उसका क्या यह हेतु नहीं था कि कनिष्ठ अधिकारों द्वारा वरिष्ठ अधिकार प्राप्त किये जायँ? यदि रानडे के शब्द में ही कहा जाय तो अङ्गरेजों की यह कल्पना शिवाजी की कल्पना की पुनरावृत्ति ही थी। मुगलों के दास अथवा नौकर कहलाते ही अङ्गरेजों को स्वामित्व प्राप्त हो गया था इस कल्पना में शिवाजी की कल्पना से केवल इतना ही अंतर था कि यह अधिक सुधरे हुए स्वरूप पर प्रारम्भ की गई थी, पर अङ्गरेजों ने जो बात सरंजामी फौज रखकर सिद्ध करनी चाही थी वही बात मराठों ने चौथ और सरदेशमुखी की सनदों से सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। यह बात अलग है कि इनमें से एक का प्रयत्न सिद्ध हुआ और दूसरे का न हो सका परन्तु दोनों के प्रयत्नों की मानसिक भूमि एक ही थी दोनों के साध्य साधन की योजना भी एक ही स्वरूप की थी और दोनों की पद्धति भी भिन्न नहीं थी। चौथ तथा सरदेशमुखी का वास्तविक स्वरूप क्या था, इन अधिकारों को प्राप्त करने के लिए मराठों ने किस प्रकार प्रयत्न किया तथा उसका फल क्या हुआ इस पर अब यहाँ विचार करना उचित होगा।

चौथ के अधिकार का पूर्ण विवरण इस प्रकार है कि मुसलमानों के आने के पहले समस्त देश हिन्दुओं के अधिकार में था। दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के बाद इस देश पर मुसलमानों की चढ़ाइयों का प्रारम्भ हुआ। पहले ही पहल उन्होंने पंजाब प्रान्त पर अधिकार किया। उसके बाद गंगा और यमुना नदियों के किनारे पूर्व की ओर जाकर बंगाल प्रान्त सहित सम्पूर्ण उत्तर भारत पर अधिकार कर लिया। फिर मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों को क्रमश लेकर सम्पूर्ण भारत पर अपना सिक्का जमाया। परंतु इतने प्रान्तों पर सैनिक शक्ति द्वारा अधिकार बनाये रखना उनके लिए कठिन था। ऐसी दशा में वे सदा के लिए राजकीय व्यवस्था भी नहीं

कर सकते थे इसलिए उन्होंने व्यवस्था के लिये सूबेदारों को भेजना प्रारम्भ किया। समय पाकर ये सूबेदार लोग स्वयं स्वतन्त्र नवाब बन गये। ये लोग बीच-बीच में कभी कभी राज्य कर वसूल करके भेज देते थे और बाकी खर्च में बतलाते थे, परन्तु बादशाही सत्ता को अस्वीकार कोई नहीं करता था। बादशाही अधिकारों का इस प्रकार उपमर्दन करने वालों को दंड देने की शक्ति दिल्ली के दरबार में नहीं रही थी। इसके सिवा दिल्ली में जो राज्य क्रान्तियाँ होती थीं, उनके कारण बादशाह को राज्य के अन्य प्रदेशों का शासन करने की ओर लक्ष्य देने का अवसर ही नहीं मिलता था। औरङ्गजेब के बाद कोई भी बादशाह सेना लेकर प्रान्त के अधिकारियों का विद्रोह नष्ट करने अथवा प्रान्त जीतने के लिए दिल्ली से बाहर नहीं निकला। यह कहना अनुचित न होगा कि अङ्गरेजों के बाद दिल्ली में अराजकता ही उत्पन्न होती रही।

मुसलमान सूबेदारों को स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने का हक नहीं रहा होगा परन्तु जिनका राज्य मुसलमानों ने जीता था उनको अर्थात् शिवाजी प्रभृति मराठों को अपना राज्य जीतकर या अन्य रीति से वापिस लेने का अवश्य अधिकार था, और शिवाजी ने ऐसा किया भी। अर्थात् बीजापुर और दिल्ली के मुसलमानों से अपना स्वराज्य शिवाजी ने जीत लिया। परन्तु शिवाजी की इतने से ही तृप्ति नहीं हुई और यह है भी ठीक। क्योंकि जब हिन्दू बादशाहत पर हिन्दू राजाओं का निसर्ग सिद्ध हक था तो भला शिवाजी अपने राज्य की मर्यादा महाराष्ट्र तक ही संकुचित कैसे कर सकते थे? परन्तु शिवाजी की यह महत्वाकांक्षा उनके समुख सिद्ध न हो सकी। क्योंकि उनके मरण समय तक दिल्ली के बादशाह का शासन जोरों पर था। इसलिये बड़े कष्टों से वे स्वराज्य के छोटे से प्रदेश पर ही स्वतन्त्र राजा हो सके यद्यपि औरङ्ग-जेब के जीते जी शिवाजी का स्वतन्त्र राज्याभिषेक करवाना अपने नाम के सिक्के चलाना अपना सम्वत् शुरू करना छत्रपति कहलाना कुछ कम पराक्रम की बात नहीं थी तो भी वे समस्त देश पर सन् १६७४ तक सत्ता प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा को पूरी करने में समर्थ न हो सके।

१ स्वराज्य के सिवा शिवाजी ने जो अहमदनगर और बीजापुर के बादशाहों के किले और प्रदेश जीते थे, उन पर अधिकार करने की मनाई औरङ्गजेब नहीं कर सकता था। क्योंकि ब्राह्मणी राज्य पर दिल्ली के बादशाह का क्या अधिकार था? परन्तु सन् १६६५-६६ में औरङ्गजेब ने जयसिंह को भेजकर जब शिवाजी को रण-कुण्ठित किया तब शिवाजी ने वे किले और प्रदेश दिल्ली के बादशाह की आज्ञा से अपने अधिकार में रखने का विचार किया। मुगलों का जो प्रदेश शिवाजी ने ले लिया था वह तो शिवाजी को वापिस करना ही पड़ा, साथ ही अहमदनगर राज्य के ३२ किले तथा अन्य प्रदेश शिवाजी ने बादशाह की दी हुई जागीर के नाते से रखना चाहे साथ ही आठ वर्ष की अवस्था के सम्भाजी (शिवाजी के पुत्र) का बादशाह की

पांच हजार की मनसबदारी और बीजापुर राज्य के कुछ हिस्से से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार भी प्राप्त करना चाहा और वह मिला भी। अन्तिम अधिकार के लिये शिवाजी ने बादशाह को ४० लाख रुपये १३ किस्तों में देना स्वीकार किया। अर्थात् अपने राज्य के स्वतन्त्र राजा, बादशाह के जागीरदार तथा बादशाही मनसबदार के पिता इस प्रकार तीन नाते शिवाजी में एक जगह एकत्रित हुए थे। इससे विदित होता है कि उनका मुख्य लक्ष्य राज्य प्राप्त करने पर था और ये नाते उसके साधन थे ये शर्तें कर शिवाजी बादशाह के पास गये और वहाँ वे कैद कर लिये गये, परन्तु वहाँ से लौटकर अब वे आये तब उन्होंने मुगलों के किले जीते।

बादशाह से सनद लेने का प्रयत्न शिवाजी ने १६५० में प्रारम्भ किया। इस वर्ष शिवाजी ने सरदेशमुखी के बदले में ५ हजार सेना रखकर बादशाह की नौकरी करने की प्रार्थना शाहजहाँ से की, परन्तु उसका कुछ उपयोग नहीं हुआ। सन् १६५७ में यही प्रार्थना जब औरङ्गजेब दक्षिण में आया तब फिर शिवाजी ने की। औरङ्गजेब ने एक सेना रखकर दाभोल आदि कोंकन के बीजापुर राज्य के थाने जीतने और दिल्ली की ओर कोई झगड़ा होने पर दक्षिण की ओर का मुगलों का राज्य सम्हालने की शर्त पर शिवाजी को शाहजहाँ से सरदेशमुखी की सनद दिलाने का भरोसा दिया और इसके लिये शिवाजी की ओर से रघुनाथ पन्त और कृष्णाजी पन्त बातचीत करने के लिये दिल्ली भेजे गये परन्तु उसका भी कुछ फल नहीं हुआ। इसके बाद सन् १६६६ में शिवाजी ने जयसिंह की मध्यस्थता में सरदेशमुखी के साथ साथ हक भी माँगा, परन्तु यह प्रयत्न भी निष्फल हुआ। इसके बाद सन् १६६७ में शिवाजी को बरार में एक जागीर और राजा की पदवी देकर बादशाह ने गौरवान्वित किया और इसे लेकर चौथ की सनद मिलने के पहले ही शिवाजी ने बीजापुर और गोलकुण्डा में मुसलमानी राज्यों में चौथ वसूल करने का प्रारम्भ भी कर दिया और राज्याभिषेक के बाद पोर्तुगीजों के देश में भी शिवाजी ने इस अधिकार का उपयोग किया। इसके दो वर्ष बाद शिवाजी ने कर्नाटक पर चढ़ाई की और वहाँ भी यह हक वसूल करना प्रारम्भ किया। शिवाजी ने हिन्दू तथा मुसलमान राजाओं से खण्डनी लेकर बदले में उनकी रक्षा करने की पद्धति को भी प्रारम्भ कर लिया था। शिवाजी ने सनद मिलने की बाट न देख यही कहना शुरू कर दिया था कि ऐसी सनद का मिलना हमारा अधिकार है और उसे बादशाह अस्वीकार नहीं कर सकते।

यद्यपि बीजापुर के राज्य से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने और इस प्रकार मुसलमानी राज्यों में अपनी सत्ता का बोजारोपण करने की पद्धति शिवाजी के समय में प्रारम्भ न हो सकी थी तो भी मराठे इसे भूल नहीं थे और जो अधिकार शिवाजी को बीजापुर के राज्य में न मिल सका था उसे वंशज शाहू महाराज ने मुगलों के राज्य में प्राप्त किया। सन् १७०९ में औरङ्गजेब ने शाहू महाराज को मार्फत दक्षिण के छः

सूबों मे से प्रतिशत दसवाँ हिस्सा को देने की शर्त पर युद्ध बन्द करने की बातचीत शुरू की। शाहू महाराज पहले दिल्ली म कैद थे। परन्तु उन्होंने उस कैद से लाभ उठाया। अर्थात् मुगल दरबार से अपना सम्बन्ध जोड लिया। सन् १७०७ से शाहू महाराज ने दिल्ली के दरबार में अपना वकील भेजना प्रारम्भ किया। इसी वर्ष मुगलो के सूबेदार दाऊदखाँ ने मराठे सरदारो से सन्धि कर कुछ प्रान्तों म चौथ का हक दिया। १७०६ से १७१३ तक शाहू महाराज क अधिकारियो ने इस चौथ को वसूल भी किया। सन् १७१५ मे मुगलो की ओर से शाहू महाराज को दस हजारी मनसबदारी मिली और अन्त मे १७१८ म स्वय बालाजी विश्वनाथ पेशवा दिल्ली गये और बादशाह से चौथ, सरदेशमुखी और स्वराज्य की सनद लाये। वहाँ से आते समय दिल्ली मे मराठो के वकील को सदा के लिये नियत कर आये। यही सनद, आगे जाकर, मराठो ने जो भारतवर्ष को जीता और खण्डनी वसूल की उसको नियमानुकूल बना दी।

चौथ की सनद से (१) औरङ्गाबाद, (२) बरार, (३) बीदर, (४) बीजापुर, (५) हैदराबाद, (६) खानदेश—इन छ सूबा की एक चतुर्थांश आमदनी का हक शाहू को मिला। इसके बदने म बादशाह के रक्षार्थ १५ हजार फौज रखने का अधिकार था। शाहू के वकील ने बादशाह को जो अधिकार पत्र लिख दिया था उसका अनुवाद इस प्रकार है कि—"स्वामी की सेवा मे लवाजम सहित मन, वचन, कार्य से तत्पर रहकर प्रजा की वृद्धि करने और सरकारी राज्य की सवाई बात रखने के साथ साथ शत्रु और विद्रोहियो का नाश करेंगे और १५ हजार सेना सूबेदार के पास रखकर प्रजा को आप के प्रति भक्त बनाये रखेंगे। उजाड गाँवों को तीन साल मे बसा देने का प्रबन्ध करेंगे और दुष्टों का उपद्रव न होने देंगे। यदि किसी के घर मे चोरी होगी और किसी का माल चोरी जायगा तो चोर को दड दिया जायगा। तथा जिसका माल होगा उसको दिलाया जायगा। चोर को दड हो जाने पर चोरी का माल नहीं मिलेगा तो हम उसका पता लगायेंगे। सरदेशमुखी से अधिक और किसी प्रकार का कर नही लेगे। यदि इससे अधिक ले लें भी तो जितना अधिक लेने का हुक्म होगा उतना सरकार मे जमा कर देंगे। चौथ की सनद के दस दिन बाद सरदेशमुखी की सनद दी गई। यह सनद वश परम्परागत थी। अब इस सनद की भेंट म पौने बारह करोड रुपये देना शाहू महाराज की ओर से स्वीकार किया गया था जिसमे से २ करोड ६३ लाख रुपये पहले देने का करार था बाकी के आठ करोड ८२ लाख रुपया की किस्तब दी की गयी थी। सरदेशमुखी की वार्षिक आय अनुमानत १ १ करोड ८० लाख था। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि यह अक कागज ही में थे वास्तव म आमदनी इससे बहुत कम था।

बालाजी विश्वनाथ के बाद बाजीराव पेशवा हुए। उनकी नीति पहले से ही उत्तर की ओर राज बढाने की थी। १७२४ मे उन्होंने मालवा म फौज भेजी।

बाजीराव पेशवा अपने पिता के साथ दिल्ली हो आये थे अत उन्हें वहाँ के दरबार की परिस्थिति का ज्ञान अच्छी तरह हो गया था। इसके सिवा वे नीतिज्ञ शासक होने के साथ साथ तलवार रण कुशल बहादुर भी थे। इसलिये शाहू के दरबार मे जब बादशाही नीति के सम्बन्ध में विवाद उपस्थित होता, तब बाजीराव का कहना शाहू महाराज के सहित अन्य बहुत से दरबारियों को मान्य होता, इस विवाद का वर्णन इतिहासकार ने अच्छी तरह किया है।

शाहू को निजाम हैदराबाद के सूबे से भी चौथ वसूल करने का अधिकार था। बादशाह से मिलकर उसने इस बात पर बहुत दुःख प्रगट किया और वह सदा इस बात के प्रयत्न में रहने लगा कि किसी तरह भी पेशवा को मौका निकालकर अपना राज्य चौथ की वसूली के हक से छुड़ा लूँ, अत प्रतिनिधि की सहायता से निजाम ने शाहू को इन्द्रापुर की जागीर देकर चौथ माफ कराने का षड्यन्त्र रचा और यह कह कर कि शाहू के समान सम्भाजी भी चौथ वसूल करने का अपना अधिकार प्रगट करते हैं, अत वास्तविक अधिकारी का निर्णय होने तक वसूली को बन्द कर दिया और वसूली के लिये आये हुये शाहू के कर्मचारियों को भगा दिया तब युद्ध कर बाजीराव ने निजाम को पराजित किया और चौथ तथा सरदेशमुखी का अपना अधिकार निजाम से स्वीकार कराया। सन् (१७७२)। इस घटना के तीन वर्ष पश्चात सर बुलन्दखाँ ने सूरत छोड़कर सम्पूर्ण गुजरात प्रान्त के लिए चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार पेशवा को दिया। इन अधिकारों के बदले में पेशवा ने बादशाह की रक्षा के लिए २५०० सेना रखना स्वीकार किया। इस प्रकार निजाम और कोल्हापुर वालों से युद्ध कर तथा बादशाह से एक पर एक नवीन सनदें प्राप्त कर कायदा और बल के भरोसे चौथ का महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त किया और उसे सम्पूर्ण भारत से स्वीकार कराया। १७३० मे बाजीराव ने महम्मदखाँ को पराजित किया और बुन्देलखण्ड के राजा छत्रसाल को मुक्त किया। अत छत्रसाल ने उन्हें झाँसी के समीप सवा दो लाख की जागीर देना स्वीकार किया तथा अपने राज्य का तीसरा हिस्सा भी दिया। इसके आगे के वर्ष मे आगरा और मालवा प्रान्त के नये सूबेदार जयसिंह ने बाजीराव को मालवा प्रान्त की सूबेदारी देना स्वीकार किया और इसके अनुसार बाजीराव ने मालवे मे चौथ वसूल करना प्रारम्भ किया। इतना ही नही किन्तु बाजीराव ने मालवा प्रान्त पर अपना स्वतन्त्र अधिकार जमाने का निवेदन करना आरम्भ किया और इस समय दौरानखाँ ने बाजीराव को सरदेशमुखी की सनद गुप्त रीति से भेजी थी, परन्तु जब बाजीराव को यह मालूम हुआ तो उसने और भी अधिक माँग बादशाह के सम्मुख उपस्थित की। बाजीराव ने मांडू और धार के किले चम्बल नदी के दक्षिण प्रदेश की जागीर फौजदारी के अधिकार और खर्च के लिये पचास लाख रुपये मांगना प्रारम्भ किया। परन्तु बादशाह ने छ लाख रुपये नकद देकर पेशवा का सूबों की सरदेश-

मोडगीरी ही दी। निजाम ने जब देखा कि खान दौरान ने अपना शत्रुत्व सिद्ध करने के लिए ये सब बातें की हैं, तब वह बाजीराव से लड़ने के लिए सेना के साथ दिल्ली पहुँचा और बाजीराव से लड़ने का विचार करने लगा। बाजीराव भी अस्सी हजार सेना के साथ लम्बी लम्बी मंजिलें मारते हुए दिल्ली पहुँचे। मुगल भी सेना सहित बाहर निकले, परन्तु उनकी पराजय हुई। बाजीराव दिल्ली में इससे अधिक न रह सके और जरूरी कामों के आ पड़ने से वे दक्षिण को लौट आये और वह कार्य सिद्ध न हो सका। १७३८ में बाजीराव फिर नर्मदा उतर कर गये और भोपाल के युद्ध में निजाम को पराजित किया। तब अन्त में दोराईसराई नामक गाँव में दोनों की संधि हुई और निजाम ने बाजीराव को ५० लाख रुपये नकद तथा चम्बल और नर्मदा के बीच का प्रदेश बादशाह से दिलाना स्वीकार किया। सन् १७३९ में मराठों ने पोर्तुगीजों से युद्ध कर बसई प्रभृति किले छीन लिए। उनकी यह बात भी बादशाही नीति ही की द्योतक है।

इसी वर्ष ईरान के बादशाह नादिरशाह ने दिल्ली लेकर वहाँ कत्ल किया। उसी समय यह अफवाह भी उड़ी कि वह १ लाख सेना लेकर दक्षिण पर चढ़ाई करने वाला है। इस सङ्कट के समय दिल्ली में बादशाह को बाजीराव के सिवाय अन्य किसी का आश्रय नहीं था। अतः बाजीराव एक बड़ा भारी सेना के साथ दिल्ली के लिए निकले। इस सेना में हिन्दुओं के समान मुसलमान भी शामिल हुए। सिंधिया और होलकर उनसे आते ही मिल गये तथा बसई को ले लेने के बाद चिमाजी अप्पा भी उनसे जाकर मिलने वाले थे, परन्तु इतने में ही नादिरशाह, बादशाह को तख्त पर बैठाकर दिल्ली से चला गया। तब बाजीराव ने बादशाह को पत्र लिखकर उनका अभिनन्दन किया और १०१ मुहरों का नजराना भेजा। बादशाह ने भी बाजीराव के लिए हाथी, घोड़ा, जवाहिरात और पोशाक सहित आभार-प्रदर्शन पत्र भेजा, परन्तु बादशाह की इस भेंट में भी मालवा की सनद पेशवा को नहीं मिली। यह देखकर और इसमें निजाम का कपट समझ कर उसको दक्षिण में पराजित करने का विचार बाजीराव ने किया। परन्तु इतने ही में नर्मदा के तट पर सन् १७४० में उनकी मृत्यु हो गई।

नादिरशाह ने काबुल, मुल्तान आदि प्रदेश अपने अधिकार में कर लिये और इस तरह दिल्ली के बादशाह का तेज फीका पड़ गया। दिल्ली से सौ-सौ मीलों पर मुसलमानी राज्यों का उदय होने लगा। खान दौरान मारा गया और कमरुद्दीन खाँ प्रभृति तूरानी मुसलमानों के जाल दिल्ली के आसपास फैलने लगे। राजपूत भी धीरे धीरे स्वतंत्र होने लगे। जाट, मराठों के स्नेही बन गये और रुहेला ने स्वतंत्र सूबा स्थापित करने का विचार किया। अङ्गरेज और फ्रेंच इस समय अशक्त थे। वे मराठों से युद्ध कर अपना निर्वाह करना कठिन समझते थे। अतः व्यापारी पद्धति से आरजू मिन्नतों के द्वारा अथवा रिश्वत देकर अपना काम निकालते थे। इन कारणों से बाजीराव के पुत्र नाना साहब पेशवा को अपनी बादशाही नीति का उपयोग करने का अवसर मिला।

इसी समय के लगभग भोसले ने बंगाल पर चढ़ाई की और नाना साहब ने इलाहाबाद पर चढाई करने का विचार किया। बंगाल में अलीवर्दीखां और मराठा की सेना का परस्पर युद्ध हुआ और भोसले के कारभारी भास्कर पन्त ने हुगली शहर पर अधिकार कर लिया। तब अलीवर्दीखां ने बादशाह और पेशवा से सहायता मांगी। भास्कर पन्त के पीछे भोसले बंगाल में घुसने लगे। तब उनके पंजे से बंगाल को छुड़ाने के लिए बादशाह ने नाना साहब पेशवा को पत्र लिखकर प्रार्थना की कि मैं खर्च के लिए कुछ नकद रुपये और मालवा की सनद तुम्हें देता हूँ, तुम किसी भी तरह भोसले के संकट से बंगाल को मुक्त करो। यह बिनती स्वीकार कर नाना साहब इलाहाबाद से मुर्शिदाबाद गये और वहां से नीचे जाकर राघोजी भोसले को पराजित किया। पेशवा का यह कार्य देखकर तथा पूर्व इतिहास पर ध्यान देकर मुहम्मदशाह को मालवा की सनद पेशवा को देना आवश्यक हुआ। परन्तु इतना भारी प्रदेश देने से अपनी अप्रतिष्ठा समझ बादशाह ने ऊपर से दिखाने के लिए अपने पुत्र शहजादा अहमद को मालवा का सूबेदार बनाया और पेशवा को उसका दीवान अथवा मुतअल्लिक नियत किया। नाना साहब ने चार हजार के बदले १२ हजार सेना रखना स्वीकार किया। इस आठ हजार सेना का खर्च बादशाह पर था। यह सन्धि इस प्रकार करा देने में पेशवा को राजा जयसिंह और निजाम की सहायता थी। इस सन्धि की शर्तों का पालन करने के लिए मुहम्मदशाह बादशाह की जामिनी राजा जयसिंह ने ली और पेशवा की ओर से मल्हारराव होलकर, राणोजी सिन्धिया तथा पिलाजी जाधव जामिनदार बने।

इसके बाद अहमदशाह की भोसले और पेशवा की काम चलाऊ मैत्री शाहू महाराज की अध्यक्षता में हुई और उसमें यह ठहरा कि बङ्गाल भोसले को दिया जाय। । पेशवा को सतारा के महाराज ने सनद दी तथा पेशवा को उनकी पहले की दी हुई जागीर, कोकण तथा मालवा प्रान्त का आधिपत्य, इलाहाबाद, आगरा और अजमेर की खण्डनी, पटना प्रान्त के तीन ताल्लुके, अर्काट जिले की खण्डनी में से २० हजार रुपये और भोसले के राज्य में से कुछ गांव दिये। लखनऊ, पटना, दक्षिण बंगाल, बिहार और बरार से कटक पर्यन्त की खण्डनी वसूल करने का अधिकार भोसले को दिया गया। इसके बाद शाहू महाराज का मृत्युकाल नजदीक आ गया। उस समय महाराज ने नानासाहब पेशवा के नाम पर इस प्रकार सनद दी कि "अब से सम्पूर्ण मराठी राज्य का कारबार पेशवा करें। परन्तु सतारा की गद्दी का पूर्ण सम्मान सब तरह से रक्खें।" मराठाशाही में इस प्रकार सदा के लिए दीवानगीरी की सनद पेशवा को मिल जाने से उनको बादशाही नीति की ओर भी अधिक बल प्राप्त हुआ।

इसके पश्चात् बादशाह के शासनकाल में उनके वजीर सफ्दरजंग ने उन्मत्त रुहेला का दमन करने के लिये शस्त्र उठाये। इस कार्य में मल्हारराव होलकर और जयप्पा सिन्धिया ने मराठों को गंगा और यमुना नदी के बीच का प्रदेश पारितोषक

में दिया (१७४८)। इसी समय के लगभग अहमदशाह अब्दाली ने भारत पर चढ़ाई करने का फिर प्रारम्भ किया और बादशाह से मुलतान तथा लाहौर शहर छीन भी लिये। इसलिये वजीर सफदरजंग को मराठी सेना की आवश्यकता हुई। तब रुहेलो से युद्ध करने म जो खर्च पड़ा उसके बदले ८० लाख रुपयो का कागज लिखवाकर मराठी फौज ने सहायता दी। दिल्ली के अधिकारी लोगो म वैमनस्य उत्पन्न हो गया था अतः दिल्ली के आसपास वजीरो म परस्पर युद्ध होने लगा। तब होलकर दिल्ली गये और उनकी सहायता से दूसरे आलमगीर बादशाह सन् १७६४ म गद्दी पर बैठे। सन् १७५६ मे नाना साहब ने रघुनाथराव को बडी भारी सेना देकर उत्तर भारत म भेजा। इनकी सहायता से वजीर शहाबुद्दीन ने दिल्ली शहर और आलमगीर बादशाह को अपने कब्जे में कर लिया। तब अब्दाली के प्रतिनिधि नजीबुद्दौला को भाग जाना पडा। रघुनाथराव बहुत दिनों तक दिल्ली के पास पडे रहे। फिर लाहौर स आदिनावेग न इन्हे बुलाया और वहाँ जाकर इन्होंने उनकी सहायता स लाहौर ले लिया (१७५८) तथा आदिनावेग के सहायतार्थ कुछ सेना रखकर आप दक्षिण को लौट आये। इस चढाई मे रघुनाथराव ने ७० लाख का कर्ज कर लिया था। अत राज्य कार्य सम्हालने वाले सदा सिवराव भाऊ और रघुनाथराव म झगडा हुआ तब यह ठहरा कि आगे से सदा शिवराव भाऊ ही चढाई पर जाया करें। मराठो के लाहोर ले लेने के समाचार जब अब्दाली को मिले तब उसने फिर भारत पर चढ़ाई की। इधर दिल्ली म भी राज्य क्रान्ति हो गई और उधर अब्दाली की फौज ने लाहौर छीनकर मराठी सेना को भगा दिया। इसके बाद वह जमुना नदी उत्तर कर रुहेलो की सेना मे मिलने को चला। उस समय होलकर और सिंधिया के साथ थोडी ही सेना थी। अत वे भी पीछे हट गए। जब ये समाचार दक्षिण पहुँचे तब मराठो ने फिर उत्तर पर चढ़ाई करने की तैयारी की। उदयगिरि के युद्ध में विजय पाये हुए सदाशिवराव सेनापति, नाना साहब पेशवा के पुत्र विश्वासराव को साथ सेना लेकर, उत्तर भारत की ओर रवाना हुए और १७६१ मे प्रसिद्ध पानीपत की लडाई हुई जिसमे मराठो को बडी भारी हार हुई और उस समय यह दीखने लगा कि दिल्ली के बादशाह स मराठो का जो सबध हो गया है वह सदा के लिये टूट जायगा और उनकी बादशाही नीति का अत भी यहा होगा।

परन्तु यह स्थिति भी बहुत दिनों तक नही रही। पानीपत में अपनी पराजय से यद्यपि मराठो की बहुत हानि हुई थी पर जिसके लिये वह युद्ध हुआ था वह कारण था दिल्ली के बादशाह की निबलता और दिल्ली। दरबार के षडयन्त्रकारी अमीर उमरावो मे परस्पर की अनबन। दिल्ली की ओर मराठो का सेना लेकर जाना बालाजी विश्वनाथ पेशवा के समय म प्रारम्भ हुआ था। परन्तु उस समय भी और पानीपत के युद्ध के समय मे मराठे निज के लिए नही, किन्तु बादशाह की प्रार्थना से उनके रक्षार्थ दिल्ली गये थे। दिल्ली मे पानीपत क युद्ध के ५० वर्ष पहले से दो पक्ष

थे। यदि स्थूल शब्दों में कहा जाय तो इन दोनों का नाम मुसलमान अभिमानी और हिंदू अभिमानी कहना उचित होगा। इनमें से पहले पक्ष का कहना था कि हिन्दू, विशेषतः मराठों को उत्तर भारत में बिलकुल आश्रय नहीं देना चाहिये। दूसरा पक्ष कहता था जैसे हो सके वैसे भारतवासियों के हाथ से ही बादशाहत की रक्षा करनी उचित है चाहे बादशाह के महायक भले ही मित्र हिंदू ही क्यों न हो।

स्वयं दिल्ली की बादशाहत के विचार भी इस दूसरे दल के विचारों के अनुसार थे। उन्हें ईरान और अफगानिस्तान के स्वधर्मियों की अपेक्षा हिन्दू लोगों की सहायता अधिक ग्राह्य प्रतीत थी। इसका कारण यह हो सकता है कि अफगानिस्तान और ईरान के मुसलमान राजाओं को दिल्ली हस्तगत कर अपना राज्य स्थापित करने की इच्छा का होना बहुत सम्भव था, परन्तु हिंदुओं के संबंध में बादशाह को यह संशय नहीं था कि वे प्रबल हो जाने पर भी दिल्ली की बादशाहत नष्ट कर हिंदू बादशाहत स्थापित करने की आकांक्षा करेंगे, शाहजहां बादशाह के समय से हिंदुओं की सहायता लेना प्रारम्भ हुआ था और सब हिंदुओं में मराठों को प्रबल देखकर अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से बादशाहत की रक्षा का कार्य मराठों को दिया गया था। अफगानिस्तान के राजा के समान हिंदुस्थान के मुसलमानी नवाबों को भी स्वार्थी समझ कर उन पर विश्वास करना उचित न समझा गया और दक्षिण के छः सूबे की चौथ का अधिकार मराठों को देकर संकट के समय बादशाहत की रक्षा का भार मराठों को दिया गया। इस इसी अधिकार के बल पर मराठे सेना लेकर दिल्ली की ओर जाने लगे।

नादिरशाह और अबदाली ने मुसलमानाभिमानी पक्ष के उसकाने से दिल्ली पर चढ़ाई की थी। परन्तु वे लोग दिल्ली में न तो स्वयं स्थायी रीति से रह सके और न अपनी सेना ही रख सके। इसलिए पानीपत के बाद फिर दिल्ली से मराठों को आमन्त्रण आने लगा। यद्यपि पानीपत में मराठों का पतन हो गया था और उनकी एक पीढ़ी की पीढ़ी मारी गई थी और न मराठा संघ ही टूट पाया था। पर आगे की पीढ़ी में पानीपत के अपयश को धोने की मराठों की प्रबल आकांक्षा भी थी अतः उनकी शक्ति क्षीण नहीं हुई थी। इधर १७६१ के बाद भी दिल्ली में अराजकता दिन पर दिन बढ़ ही रही थी और इसलिए कितने ही दिनों तक दिल्ली के बादशाह को भी दिल्ली छोड़कर इधर उधर भटकना पड़ा था। बादशाह के दीवान और उमरावों का दिल्ली में तुमुल युद्ध हुआ और पानीपत के युद्ध से वर्ष के भीतर ही बादशाह ने अङ्गरेजों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानगीरी देकर मराठों के समान और दूसरा मित्र बना लिया, परन्तु अङ्गरेजों में अभी इतना आत्म-विश्वास उत्पन्न नहीं हुआ था कि वे अपने को दिल्ली के राज काज में हाथ डालने के योग्य समझते तथा बङ्गाल, अयोध्या और रुहेलखण्डों में इनका दबदबा भी नहीं जमा था, इसलिए आत्मरक्षा के लिए बादशाह को मराठों के सिवा अन्य किसी से आशा

नहीं थी और मराठों को भी पानीपत में संकट देने वाले नजीबखाँ प्रभृति शत्रुओं को पराजित करना था। अतः शाहआलम के अपनी रक्षार्थ प्रार्थना करने पर मराठों ने बड़े आनन्द से उसे तुरंत स्वीकार कर लिया।

१७६९ में दक्षिण में शान्ति हो जाने पर सिंधिया और तुकोजीराव होलकर उत्तर भारत में आये। १७७० में नजीब खाँ के मर जाने से मराठों का प्रबल शत्रु कम हो गया, तब महादजी सिंधिया ने शाहआलम बादशाह को दिल्ली के तख्त पर बैठाया। शाहआलम इस समय अङ्गरेजों के सैन्य समूह में ठहरा हुआ था और वहाँ से वह बड़े प्रभाव के साथ सिंधिया के सैन्य समूह में आया था। यह बात यहाँ ध्यान में रखने योग्य है क्योंकि इससे उस समय के मराठों और अङ्गरेजों के बलाबल का पता लगता है। बादशाह का मराठों के पास जाना अङ्गरेजों को सहन नहीं हुआ, इसलिए उन्होंने बादशाह को मराठों की संगति न करने का उपदेश भी दिया, परन्तु बादशाह ने उसे मान्य नहीं किया, क्योंकि एक तो मराठों की सहायता लेने की परम्परा बादशाही घराने में चली आती रही, दूसरे अङ्गरेज उन्हें तख्त पर बैठने का उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर लेने को तैयार नहीं थे। फिर स्वयं भी सहायता न देकर दूसरों की सहायता लेने को मनाई करने वाले स्वार्थी अङ्गरेजों की बात, दिल्ली जाने के लिए तत्पर बादशाह को कैसे पसंद हो सकती थी।

महादजी ने शाहआलम को दिल्ली ले जाकर तख्त पर बिठला दिया। परन्तु स्वयं महादजी वहाँ अधिक दिनों तक न रह सके, क्योंकि पूना में (१७७३) नारायण-राव का खून हो जाने से नानाफड़नवीस को महादजी की आवश्यकता हुई और सालबाई की संधि होने तक पेशवाई राजकाज में लगे जाने से दिल्ली की ओर ध्यान देने का महादजी को अवसर नहीं मिला, परन्तु इन आठ वर्षों में ही महादजी ने दिल्ली में अपना पाँव अच्छी तरह जमा लिया था और वह इस तरह कि अङ्गरेज और पेशवा के परस्पर के सम्बन्ध में महादजी ने अगुवा का मान प्राप्त कर अङ्गरेजों से यह स्वीकार करा लिया था कि हम दिल्ली के राजकाज में हाथ न डालेंगे और केवल सिंधिया को ही बादशाह की व्यवस्था करने का अधिकार रहेगा। १७७४ में वारेन हेस्टिंग्ज गवर्नर जनरल हुआ। इसका और महादजी का परस्पर में प्रेम बहुत कुछ हो गया था और वह प्रेम उसके विलायत वापिस जाने तक अबाधित बना रहा। यद्यपि इस बीच में अङ्गरेजों ने भी दिल्ली के एक शाहजादे को अपने हाथ में कर लिया था, परन्तु वे इस मोहरे का उपयोग यथेष्ट रीति से न कर सके।

सालबाई की संधि के बाद दक्षिण से अवसर मिलते ही महादजी फिर दिल्ली को गए और वहाँ की स्थिति देखकर वर्तमान अधिकारों से अधिक अधिकारों के प्राप्त किये बिना काम चलना कठिन देख बादशाह से उन्होंने और अधिक अधिकार माँगे।

तब बादशाह ने पेशवा के नाम पर 'वकील मुतलकी' देकर पेशवा की ओर से सिंधिया को काम काज करने का अधिकार देने का निश्चय किया। परन्तु इस समय दक्षिण के विरुद्ध उत्तर की स्पर्द्धा उत्पन्न हुई अर्थात् राजपूत, जाट और मुसलमानों ने एका कर महादजी से युद्ध प्रारम्भ किया। सन् १७८५ में लालसोट के युद्ध में राजपूतों ने महादजी को पराजित किया। इस समय महादजी बादशाही सेना को लेकर बादशाही सरदार के नेता से लड़ते थे परन्तु उन्हें तुरन्त ही यह विश्वास हो गया कि सेना पर विश्वास करना उचित नहीं है क्योंकि एक दो बार ठीक मौके पर यह सेना विश्वास घात कर शत्रु से जा मिली थी तब अपनी विश्वास मराठी सेना के आये बिना दिल्ली जाना उचित न समझ महादजी ने पेशवा से सेना की सहायता माँगी और इस सहायता के आने तक आप मथुरा के आस पास रहे। कई लोगों का कहना है कि बादशाह के कई बार आग्रह पूर्वक बुलाने पर भी महादजी बादशाह के सहायतार्थ नहीं गए। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इतिहास संग्रह में जो दिल्ली के राजकरण सम्बन्धी पत्र व्यवहार प्रसिद्ध हुआ है उससे विदित होता है कि स्वयं बादशाह का उस समय महादजी को दिल्ली में टिकना कठिन प्रतीत होता था और वे महादजी को उस समय न आने के लिए लिखते थे। इसके सिवा दिल्ली दरबार के पेशवा वकीलों का भी यही मत था कि महादजी के साथ बिना दूसरे मराठा सरदारों के आये काम नहीं चलेगा।

सन् १७८८ में गुलाम कादिर के अत्याचार ने हद कर दिया। उसने बादशाह शाहआलम की आँखें निकाल लीं और बादशाही स्त्रियों की बेइज्जती की। तब महादजी सिंधिया ने अपने सरदार राणा खाँ को भेजकर गुलाम कादिर को पकड़ बुलाया और उसका शिरश्छेद किया। इस समय भी दिल्ली की स्थिति डाँवाडोल थी क्योंकि महादजी को पूना जाना था। १७९२ में महादजी पूना आये और १७९३ में पूना ही में उनकी मृत्यु के कारण दिल्ली दरबार से मराठों के पाँव उखड़ने का भय नाना फड़नवीस को होने लगा था परन्तु वह भय इतनी शीघ्रता से सत्य न हो सका। महादजी की मृत्यु के बाद अङ्गरेजों ने दिल्ली में अपना प्रवेश करने की तैयारी की और दौलतराव सिंधिया की मूर्खता तथा निर्बलता के कारण अङ्गरेजों को सफलता प्राप्त हुई। सन् १८०३ में अङ्गरेजों ने देहली ले ली। इस प्रकार प्रायः दो सौ वर्षों तक मराठों की बादशाही नीति दिल्ली में चलकर अन्त में समाप्त हुई।

दिल्ली के राज कार्यों में अङ्गरेजों का हाथ इससे भी पहले घुसने वाला था, परन्तु वारेन हेस्टिंग्ज के धैर्य के कारण वह घुस न सका। बहुत से अङ्गरेज टीकाकारों ने इस सम्बन्ध में हेस्टिंग्ज को दोष दिया है और कितनों ने तो उस पर महादजी से एक बड़ी भारी रिश्वत लेने का अभियोग भी लगाया है। वह अभियोग झूठा हो या सच्चा पर इतना अवश्य है कि वारेन हेस्टिंग्ज का यह पूर्ण विश्वास था कि पूना

दरबार से राजनीतिक बातचीत में महादजी का उपयोग बहुत अच्छी तरह हो सकेगा और वह सहायता देगा और ऐसी समझ होना भ्रमपूर्ण भी नहीं कही जा सकती क्योंकि उन्हीं के प्रयत्न से सालबाई की सन्धि हुई थी। यह प्रत्यक्ष है कि सन् १७७१ से १७८६ अर्थात् १२ वर्ष तक हेस्टिंग्ज ने देहली की ओर ध्यान ही नहीं दिया। १७७१ में जब कि अङ्गरेजों के विश्वासी मित्र नजीबखाँ की मृत्यु हो गई थी। अङ्गरेजों ने तुरन्त ही मेजर ब्राउन और मेजर डेवी नामक अपने वकीलों को बादशाह से गुप्त रीति से मिलने को भेजा, परन्तु इस मुलाकात से कुछ लाभ नहीं हो सका। १७८४ में शाहआलम बादशाह का लड़का वारेन हेस्टिंग्ज से मिला और अपने पिता की गद्दी पर बैठाने के लिए सहायता देने को कहा, परन्तु उन्होंने शाहजादे को उत्तर दिया कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टर और कलकत्ते के अन्य कौंसिलर देहली के राजनैतिक झगड़ा में पड़ना नहीं चाहते इसलिए तुम फिर महादजी सिंधिया से मिलकर सहायता माँगो। परन्तु यह ठीक है कि हेस्टिंग्ज ने यह उत्तर महादजी के वकील से गुप्त भेंट करने के बाद दिया था। उनकी इस गुप्त भेंट में क्या बातचीत हुई, यह हमें विदित नहीं है।

जब महादजी की ओर अंगरेजों ने भी अंगुली दिखाई तब महादजी ने फिर एक बार बादशाह का पक्ष लिया। इसमें महादजी का कोई अपराध नहीं था। तो भी अङ्गरेज इतिहासकार महादजी को ही दुष्ट और स्वार्थी कहते हैं। इस बार महादजी ने पहले से एक बात ज्यादा की और वह उनकी चतुरता को प्रगट करती है। यह बात यह थी कि महादजी ने बादशाह से पेशवा के लिए वकील मुतलकी और अपने लिए 'मुख्तारुल्मुल्क' की पदवी ली और यह पदवी लेना ठीक भी था क्योंकि जिसके बल पर बादशाह, तख्त पर बैठने वाले थे उसे वजीर की अपेक्षा श्रेष्ठ अधिकार मिलना ही चाहिए, ऐसी हालत में तो अवश्य ही मिलना उचित है जब कि वजीरों ने ही बादशाह के विरुद्ध सिर उठा रक्खा हो। ऐसी दशा में वजीरों को कहने में रखने के लिए तलवार के साथ साथ अधिकारों की आवश्यकता भी बहुत होती है। अङ्गरेजों को सिंधिया का इतना अधिकार प्राप्त करना सहन नहीं था, परन्तु उस समय अङ्गरेज स्वयं ही दिल्ली के राजकाज झगड़ा में पड़ने के लिए तैयार नहीं थे। फिर पीछे से अङ्गरेज इतिहासकारों का महादजी पर कोप प्रगट करना उचित नहीं है। महादजी को मिले हुए अधिकारों का वर्णन अङ्गरेज इतिहासकार मिल ने इन शब्दों में किया है—"मिले हुए अधिकारों के कारण महादजी सिंधिया, स्वयं दीवान पर भी हुकूमत करने लगे और इस तरह मराठों के हाथों में भारतवर्ष के अधिराज्य की नियमानुकूल सत्ता पहुँच गई।"

हेस्टिंग्ज ने जब बादशाह को सिंधिया से सहायता लेने के लिए कहा था तब हेस्टिंग्ज को आशा नहीं थी कि सिंधिया इस प्रकार अधिकार प्राप्त कर लेंगे, परन्तु

जब उन्होंने अधिकार प्राप्त कर लिए तब इसी कारण पर से मराठों से युद्ध करना हेस्टिंग्ज ने उचित नहीं समझा होगा।

अपनी सफाई देते समय हेस्टिंग्ज ने इस सम्बन्ध में यह कहा था कि— "यह बात असत्य है कि हमारी और महादजी की गुप्त सलाह हो जाने के बाद हम बादशाह को सहायता देना अस्वीकार किया परन्तु हमने बादशाह को आश्रय देने और उसके बाद बादशाह से सर्वाधिकार प्राप्त करने पर हम मराठों से इसके लिए युद्ध नहीं कर सकते थे।' इसमें सच्ची बात तो यह है कि महादजी दिल्ली के राजकार्यों को अपने हाथ में लेना चाहता था और अङ्ग्रेज इस काम का खर्चीला न कर सकने के योग्य समझकर अपने ऊपर नहीं लेते थे। अतः महादजी ने इसे लिया और उसमें उनके बादशाह का कल्याण भी था। मिल के इतिहास पर टिप्पणी करते हुए विल्सन ने कहा है कि 'बादशाह का स्वास्थ्य, सुख और मान सम्मान देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ता है कि बादशाह का महादजी के आश्रय में जाना अच्छा ही था, क्योंकि दरबार में वंश परम्परागत वजीरों और उमरावों ने बादशाह को कष्ट ही दिये थे।"

अस्तु, सर्वाधिकार मिलने पर महादजी ने बादशाह के विरुद्ध अंगरेजों से बंगाल की चौथ माँगी। यदि इसमें बादशाह की इच्छा न होती तो भी वजीर से उच्च अधिकारी होने के कारण यह माँगने का अधिकार उन्हें था। महादजी की इस माँग से अङ्ग्रेजों को बहुत दुःख हुआ और महादजी ने भी इस सम्बन्ध में स्नेह भाव से काम नहीं लिया। इधर अङ्ग्रेजों के समान दिल्ली के अमीर उमरावों को भी बादशाह का महादजी को सर्वाधिकार देना असह्य हुआ। परन्तु सहन हो या न हो महादजी ने तो अधिकार प्राप्त कर ही लिये। शिवाजी के समय में चौथ के हक रूप से बादशाह ... ति का जो वृक्ष विस्तृत हो गया था उस पर महादजी के अधिकार प्राप्त कर लेने से बौर लग गया। परन्तु दुर्दैव से दौलत राव सिंधिया के समान नादान व्यक्ति के सिंधिया की गद्दी का उत्तराधिकारी बनने से तथा उधर बाजीराव जैसे व्यक्ति को पेशवा की गद्दी मिलने से यह बौर झड़ गया और बौर के साथ साथ वृक्ष भी नष्ट हो गया। लेकिन यह बात दूसरी है। क्योंकि जगत् में यश अपयश सबके हिस्से में समान रीति से बँटे हुए नहीं है। इस प्रकरण में हमने जो बादशाही नीति का वर्णन किया है उसमें हमें यही दिखाना था कि बादशाही सत्ता को जिस रूप से कायम रख वास्तविक सत्ता अपने हाथ में लेने की नीति शिवाजी ने प्रारम्भ की थी वह राजनीतिक पुरुषों के एक के बाद एक के उत्पन्न होने से मराठों ने किस तरह कायम रक्खा और उसकी वृद्धि की। हमें आशा है कि यह प्रकरण पूरा पढ़ने पर पाठकों को हमारी मीमांसा उचित प्रतीत होगी।

अन्त में, हमने जिस विषय की चर्चा की है उस पर कुछ और प्रकाश डालना उचित समझकर कुछ प्रमाणों को यहाँ उद्धृत कर इस लम्बे प्रकरण को पूरा करेंगे।

यह अंश, अंत के दिनों में दिल्ली में रहने वाले, मराठा के वकीलों के उन पत्रों के हैं, जो उन्होंने नानाफडनवीस को पूना भेजे थे। इनका महत्व पाठकों के ध्यान में अच्छी तरह आ जायगा।

दिल्ली में रहने वाले मराठा के वकील गोविन्द राव पुरुषोत्तम १७८३ में, सितम्बर मास की २६ वीं तारीख को उत्तर भारत की परिस्थिति के सम्बन्ध में नाना फडनवीस को लिखते हैं, कि—"इस समय उत्तर भारत खाली पड़ा है। अफ़रासियाब खां और नजबकुली खां, ये दोनों सरदार नजब खां की ओर हैं जो कोई सरदार सेना सहित यहां आवेगा, उसे काम सिद्ध करने का अच्छा मौका है। हिन्दुस्तान में तलवार की लड़ाई अब नहीं रही। इसलिये इधर सेना भेजना आवश्यक है। नहीं तो सिक्ख अथवा अङ्गरेज आकर दिल्ली, पर अधिकार कर लेंगे। फिर बड़ी कठिनाई पड़ेगी।' फिरंगियों की इच्छा है कि दिल्ली जाकर बादशाह को अपने प्रेम से वश में कर लें और सर्वोपरि हो जावें। इसलिये शीघ्रता से अपनी सेना दिल्ली आवेगी तब ही बादशाह और हिन्दुस्तान अपने काबू में रहेगा। यदि इसमें देरी होगी तो फिर बात भारी पड़ेगी। अतः प्रार्थना की गई है।'

(१७८४) "आपने अपने पत्र में बादशाह के इलाहाबाद में रहने के समय और उसके पहले तथा उसके बाद अङ्गरेजों से और बादशाह से क्या-क्या करार हुये हैं और किन प्रदेशों की सनदें किस किस प्रकार दी हैं तथा अन्तर्वेद में कितनी आमदनी का राज्य दिया और उनकी सनद दी या नहीं आदि बातों का पता लगाने की आज्ञा दी है। अतः इस आज्ञा के अनुसार हमने बादशाही दफ्तर में पता लगाया तो विदित हुआ कि जिस समय बादशाह इलाहाबाद में थे, उस समय अङ्गरेज तोपों आदि के सिवा २६ लाख रुपये प्रति वर्ष देते थे और इलाहाबाद का सूबा तथा कड़ा प्रान्त ये दोनों स्थान सुजाउद्दौला से छुड़ा कर बादशाह को दिलाये गये थे। उनने बादशाह को प्रतिवर्ष ३१ लाख रुपये की आमदनी होती थी। बादशाह ने अङ्गरेजों को जो सनद दी हैं। जिसमें से एक बदमान और इस्लाम नगर की कमाबीसदारी की सनद है और दूसरी सनद बंगाल तथा पटना के सूबे की दीवानगीरी की है। इनके अलावा अन्तर्वेद वगैरह कहीं की भी सनद बादशाह ने नहीं दी। बादशाही दफ्तर की फारसी में लिखी फेहरिस्त दफ्तर के पेशकार राय सिद्ध राय से लेकर आपके पास भेजी है। उससे सब ध्यान में आवेगा। यहां के दफ्तर में इतना उल्लेख है कि बंगाल और पटना की दीवानगीरी की सनद अङ्गरेजों को दी गई और अलीवर्दी खां के नाती मुबारक जङ्ग बहादुर को सूबेदारी दी गई तथा बदमान और इस्लाम नगर का प्रबंध कमावीसी के द्वारा करने को कहा गया है। इसके सिवा जिस समय बादशाह उनके आश्रय में थे उस समय क्या लिखा पढ़ी हुई इसका पता नहीं चलता। कार्यालय में इसके विशेष उल्लेख नहीं हैं। इसके सिवा पठान मुहम्मद खां प्रभृति भी बादशाह को दिया करते थे। दफ्तर

मे मिली हुई फारसी फेहरिस्त भेजी है, उस पर ... होगा अधिक क्या।''

(१७८४) आस्टिन मा व बादशाह जादे ... तब यह समाचार बिलायत पहुँचते ही कम्पनी ने उ ... शाहजादे को ले जाने से तुम्हारा क्या प्रयोजन था? दक्षिण ... मारी मैत्री हो गई है। ऐसी दशा मे उनकी सम्मति के बिना ... तुम बादशाह-जादे को ले गये सो यह अच्छा नहीं किया। इस लिए ... ही बादशाह जादे को तुरन्त पाटिलबाबा के पास वापस भेज दो। व बादशाह से प्रार्थना कर बादशाह-जादे का अपराध क्षमा करवा देंगे और शाहजादे को बादशाह के सुपुर्द कर देंगे। तुम्हे लिखा गया था कि तुम इन झगड़ों मे मत पड़ना, कम्पनी की इस आज्ञा पर से आस्टिन साहब ने दो पल्टन के साथ शाहजादे को श्रीयुक्त सदाशिवपन्त बक्शी और श्रीयुक्त पाटिलबाबा के पास भेजा है और वे लखनऊ आ गये हैं।

''आस्टिन साहब की इच्छा हिन्दुस्तान मे बादशाहजादे को लाने की है और पाटिलबाबा और आस्टिन मे खूब मेल है। ... मेन साहब और मेजर ब्राउन साहब इन्ही के पास हैं। इनके और सदाशिवपन्त बक्शी की उपस्थिति मे मुलाकात होने पर क्या सलाह होती है यह देखना है।''

(१७८५) ''इन दिनो मेजर ब्राउन के यहाँ दो बार गये थे और उनके पास जो मौलवी वकील है उससे भी बहुत सलाह होता है, परन्तु उसका भेद मिला नहीं, क्योंकि कोई कुछ नहीं कहता।'

''बादशाह ने जब श्रीयुक्त पाटिलबाबा के विचारानुसार श्रीमान् पन्त प्रधान साहब को 'मुल्लारुलमुल्क' की पदवी दी तब श्रीमन्त की ओर से १०१ मोहरें बादशाह को नजर की गई। श्रीमन्त की खिलत पूना को भेज दी गई। चन्द्र २१ (१ मई, १७८५) के दिन श्रीमन्त पन्त प्रधान स्वामी के मुख्तारी के यहाँ ले लिए गए हैं। बादशाह ने चारकुबा और नालकी दी है। चारकुबा एक अङ्गरखा होता है। इसमे बाहें नहीं होती। केवल कन्धे तक का आगा पीछा होता है। इसमे आगे और कन्धे पर मोती की झालर लगी रहती है। चारकुबा खिलत कहते हैं। यह खिलत और ''मुख्तारुल्मुल्क'' अर्थात् वकील मुतलक का पद जिसे मिल जाता है उसके घर बादशाह-जादे को भी अपने काम के लिए आना पड़ता है। चिन्ता की कोई बात नहीं। राज्यश्री पाटिलबाबा (महादजी सिंधिया) के पास सेना बहुत कम है और काम सारे हिन्दुस्थान भर का है। मुख्तयार बादशाह का प्रतिनिधि होता है वह वजीर और मीर बख्शी तक की नियुक्त और बर्खास्तगी कर सकता है। ऐसी दशा में इनके पास जो सेना है वह इनके अधिकारों के अनुरूप नहीं है।

(१७८६) पाटिलबाबा की कार्य शीलता और हिन्दुस्थान की परिस्थिति के

सम्बन्ध मे गोविन्दराव पुरुषोत्तम दिल्ली से १७८६ म लिखता है कि 'यहाँ की दशा देखकर कहना पड़ता है कि हिन्दुस्थान क्षत्रिय शून्य हो गया है। सिक्खो म भी फूट है। कोई किसी के अधीन नही है। यदि दबाव पड़ता है तो जमीदारी करने लगते हैं, नही तो लूटपाट तो करते ही हैं, यह सिक्खो की दशा है। वजीर की यह हालत है कि अङ्गरेजो पर ही उनका भरोसा है। उन्हें वतमान के अङ्गरेजो की दशा हीन दीखती है। आस्टिन साहब विलायत को गये। उनकी जगह बड़े साहब आये हैं। इनका प्रबन्ध आस्टिन के समान नहीं है और न खजाने ही की पहले जैसी दशा है। पहले जैसा कुप्रबन्ध था उससे बढकर आज है। बादशाह की हालत देखी जाय तो वह तो एक लाख तीस हजार रुपये मासिक का नौकर है। इतना पैसा उसे बराबर मिलता रहे तो फिर उसे एक गाँव और बीता भर जमीन की भी आवश्यकता नही है। यह तो हिन्दुस्थान की दशा है। और ऐसे समय मे हिन्दुस्थान के प्रबन्ध का सम्पूर्ण भार अकेले पाटिलबावा महादजी सिन्धिया पर ही है। जितना यह प्रबन्ध कर सकते थे किया और जो करने योग्य है वह करेंगे परन्तु इनके आश्रय मे कोई भी ऐसा मनुष्य नही है जो उनकी सरदारी की आड में रहकर मुल्क का प्रबन्ध कर सके और आमदनी बढाकर राज्य को सम्हाले। इसलिए सूचनार्थ स्वामी की सेवा मे विनती की गई है कि जो बातें प्रत्यक्ष मे देखी गई हैं और जिनका अनुभव हो चुका है उन्हीं के सम्बन्ध मे यह पत्र लिखा जाता है।''

(१७१७) *पाटिलबाबा, सम्पूर्ण हिन्दुस्थान का सब कारभार चलाने के योग्य* नहीं है। अत किसी चतुर सरदार की नियुक्ति इस स्थान पर कराने की सूचना देते हुए गोविन्दराव लिखता है कि—''बादशाह की इच्छा है कि पेट के लिए केवल लाख डेढ़ लाख रुपया मासिक मिलते जाय तो फिर हमे राज्य और उसके कारभार की कोई आवश्यकता नही है। इसका ऐसा ही स्वभाव है। इनके पुत्रादि मिलाकर घर म सौ, डेढ सौ आदमी हैं, परन्तु उनमें भी कोई हिम्मत वाला और भाग्यवान नही दिखता जो बादशाहत और राज्य को सम्भाल कर सके। श्रीमन्त राजश्री रावसाहब (पेशवा) प्रारब्धवान और प्रतापवान हैं, सुदैव से बादशाह की मुख्तारी आपको प्राप्त हुई है। इसलिए हजार उत्तम, तैयार सेना श्रीयुक्त त्र्यम्बकराव मामा अथवा बीसाजीपन्त बिनी वाले के समान चतुर और कार्य कुशल सरदार के साथ भेजी जाय और उत्तर भारत में जितने छोटे बडे हैं, उन्हें पेट से लगा कर प्रेम पूर्वक उनका यदि पालन किया जाय तो जिस प्रकार सतारा का राज्य आपके हाथ मे है उसी प्रकार दिल्ली का राज्य भी आपके हाथ म आ जाय। इस राज्य के पीछे दो रोग हैं। एक अबदाली और दूसरा अगरेज। इनमे अबदाली तो दूर है और उसका यहाँ आना भी कठिन है, रहे अगरेज सो भी अभी दिल्ली के काम काज मे मुख्तार नही बनना चाहते। विलायत को पत्र दिया गया है। उसका उत्तर आने पर फिर वे उसके अनुसार चलेंगे। परन्तु

अगरेजों का पाँव यदि दिल्ली मे जमा तो फिर आने ना र मे हिन्दुस्थान निकल जायगा। जब तक जो आपकी इच्छा हो उसके अनुसार प्रबन्ध करें। यदि यह राज्य और अधिकार अपने हाथ म रहा तो बङ्गाल आदि अङ्गरेजी राज्य पर भी अपनी मातहियत और हुकूमत रह सकेगी। इधर बहुत बडा राज्य है पर गत तीन वर्षों म दुष्काल पडने के कारण पाँच छ सेर के भाव से अन्न बिका है अत प्रजा बहुत मर गई और चारों ओर उजाड हो गया है। कुछ दिनो तक यदि उत्तम प्रबन्ध किया जाय तो करोडों रुपयो की आमदनी हो सकती है। धन की कमी नही है। अभी तो फौज भी चाहिए और कुछ थोडा धन भी चाहिए। तब तो जो यहाँ रहेगा उसकी प्रतिष्ठा होगी, और बन्दोबस्त होने से अन्त मे बादशाहत श्रीमन्त की हो जायगी। ऐसा समय फिर नही आवेगा।''

बादशाह की निर्बलता का वर्णन करते हुए ता० २६ अप्रल सन् १७८८ को गोविन्दराव ने लिखा था कि—''यहाँ यह हालत है कि जो बादशाह के पास रहता है उसी के मन के अनुसार प्रबन्ध किया जाता है। बादशाह म खमीर (आत्मज बल) नहीं है। उनकी नाक मोम की है जो जबरदस्त पास आकर रहता है उसी के कहने के अनुसार बादशाह चलते है।''

१७८८ के जुलाई मास मे दिल्ली की परिस्थिति तथा पाटिल बाबा के गुण दोष के सम्बध म गोविन्दराव ने लिखा था कि—''बादशाह की इच्छा है कि यदि हरिपन्त तात्या के समान एक सरदार के अधिकार म पच्चीस हजार सेना यहाँ आकर रहे और राज्य का प्रबन्ध करे तो हम सुख से रोटी खा सकते हैं। पाटिलबाबा ने जिस प्रकार हिन्दुस्थान प्राप्त किया था उसी प्रकार थोडे ही दिना मे उन्होंने अपने हाथ से निकाल भी दिया, परन्तु यदि अब भी जब तक किले आदि हैं तब तक अर्थात् दो तीन माह मे अपनी सेना आ जायगी तो अपनी सरकार का अधिकार हो जायगा। पर सरदार दूसरा आये बिना बादशाह सन्तुष्ट नही होंगे। क्योंकि पाटिलबाबा का स्वभाव खुद पसन्द और खुशामद पसद है, उनके पास कोई वजनदार आदमी काम करने वाला नहीं है। वे हर एक काम स्वत करते हैं, उन्हें किसी का भी विश्वास नही है। छोटे दरजे के मनुष्यों को मुँह लगा लिया है। उन लोगो ने लोभ के वश होकर सब काम बिगाड रक्खा है। बादशाह उनके कारण दिक हो गये हैं। इनम से एक रत्ती भर बात भी यदि पाटिलबाबा के वकील या उनके प्रेमी मनुष्यो मे से किसी को विदित हो जायगी तो वे हमारा प्राण ले लगे, क्योंकि वे अपने सिवा किसी दूसरे का हिन्दुस्थान के सम्बन्ध में लिखना और कहना सहन नहीं कर सकते और ऐसा करने वाले को मार डालने का उनका विचार रहता है।

सन् १७९४ मे उस समय यह बात कितने ही दूरदर्शी व्यक्तियो के ध्यान में आ गई थी कि पाटिलबाबा की सेना अन्य देशी सेना से कितनी ही बढ़ी चढ़ी है। तो भी

डिय इन सरीखे विदेशी मनुष्य पर अवारण विश्वास करने से अगरेजों से प्रसग पडने पर उसका उपयोग कुछ न हो सकेगा और यह बात पाटिलबाबा की मृत्यु के बाद तुरन्त ही सन् १७९४ के सेप्टम्बर मास में सत्य सिद्ध हुई। डिवाइन का वास्तविक स्वरूप प्रगट हो गया। इसका वर्णन करते हुए गोविंदराव लिखते हैं कि—

"जब पाटिलबाबा ने डिवाईन के अधिकार मे अपनी सेना दे दी तब शाह जी ने दूरदर्शिता से विचार कर यह प्रगट कर दिया कि डिवाईन का विश्वास न किया जाय। क्योंकि अन्य स्थानों पर तो यह नौकरी बजाने में नही भूलेगा, परन्तु अगरेजो से काम पडने पर तुरन्त पीठ फेर खड़ा हो जायगा। तीन कैम्प (सेना की पलटने) देने से सब राजे रजवाडे इसके पेट मे घुस कर विद्रोह करने को खडे हो जायेंगे और फिर उन्हें सम्हालना कठिन होगा। इसका कुटुम्ब आदि सरजाम अगरेजो के शामिल मे है। पाटिलबाबा का अकस्मात देहान्त हो गया और आठ ही महीने में डिवाइन आदि सब लोगो की नियत बदल गई। डिवाइन ने जयपुर वाले, माचेडी के बख्तावरसिंह, भरतपुर के रणजीत सिंह जाट तथा अगरेज आदि से भीतर ही भीतर साजिश कर सबको अपने वश म कर लिया है और सरदारों मे परस्पर झगडा पहले से ही हो गया है।" इस समय दिल्ली का स्वामित्व हरण करने के लिये कौन कौन लोग मुह फाडे [illegible] हैं। इसका वर्णन स्वय बादशाह ने इस प्रकार किया है कि—"हम फकीर हैं। कही भी बैठकर अपना निर्वाह कर लेंगे। चिंता नही है। इस राज्य के लेने की इच्छा विलायत वाले अङ्गरेज रुहेल आदि राजा रजवाडा की है। इसस पाटिलबाबा के पीछे आपस के झगडे से राज्य बर्बाद कर देना अप्रतिष्ठा का कारण है।'

सन् १७०० के लगभग। दिल्ली के राजकार्यों पर मराठो का बहुत प्रभाव पडा था, उस समय बा शाह के निबल हो जाने के कारण मराठे, अङ्गरेज और नजीब खां ऐसे तीन की कैंची म फसा था। इनमें मराठो के तो वह अनुकूल था और अङ्गरजो से प्रतिकूल था परन्तु असल मे बादशाह था नजीब खां के अधीन और वह जिस तरह नाचता उस तरह उसे नाचना पडता था। मराठो या अङ्गरेजा के हाथ से बादशाह का जाना नजीब खां पर ही अवलम्बित था। इस महत्व के राज्य कार्य क सम्बन्ध के कुछ पत्र रजवाडा खड १२ मे प्रकाशित हुए हैं वे बहुत ही मनोरञ्जक हैं। उदाहरण देखिये, एक पत्र मे वकील पेशवा को लिखता है कि "स्वामी की आज्ञानुसार बादशाह को उत्तेजना देकर अङ्गरेज और बादशाह का सम्बन्ध छुडा दिया है। सेवक से बादशाह और नवाव नजीब खां ने शपथ पूर्वक कहा है कि नाना ने जो लिखा है वही हमारे मन म है" वजीर की फौज बादशाह के पास रहती थी। पेशवा का वकील पेशवा की सेना भी इसी तरह रखना चाहता था और अङ्गरेज भी फौज और पैसा देने का प्रयत्न कर रहे थे। इस सम्बन्ध मे वकील ने लिखा है कि "हमने स्वामी के आज्ञानुसार बादशाह को अङ्गरेजों का धन नहीं लेने दिया। दिल्ली और आगरा मे आपका प्रबन्ध होने से

बादशाह को सुख होगा। बादशाह नजीब खाँ को नहीं चाहता। अत सेवा में प्रार्थना है कि राजश्री हरिपन्त अथवा राजश्री महादजी सिंधिया को दिल्ली में रखा जाय। वे दो लाख रुपये मासिक बादशाह को देते रहें और करोड़ की आमदनी का स्थान हस्तगत करे। यदि अङ्गरेज ने हस्तगत कर लिया तो फिर हिंदुस्तान गया। फिर किसी का भी लाभ नहीं है। ईश्वर ने जिसे बड़ा बनाया है उसे महत्व के और कीर्ति के योग्य कार्य करना उचित है। इस बात को यदि आप गई गुजरी कर देंगे तो टोपी वालों के हाथ में बादशाहत चली जावेगी। फिर पश्चाताप होगा और फल कुछ न निकलेगा।" पेशवा के मुत्सद्दियों के इस प्रकार के विचार थे। १७८० के अक्टूबर मास में अङ्गरेजों ने दिल्ली और आगरा में कोठी खोलने के लिये जगह माँगी और बादशाह को दो लाख रुपये मासिक देने का प्रयत्न किया इस विषय में वकील लिखता है कि पहले से ही अङ्गरेज कोठी के लिए जयपुर देहली, आगरा आदि स्थानों पर जगह चाहते थे। ग्वालियर उनके हाथ में चला ही गया है। यदि इन स्थानों पर भी अङ्गरेजों का शासन हो गया तो समझना चाहिये कि परमेश्वर की इच्छा बलवान है।'

सन् १७८१ में बोरघाट का युद्ध हुआ। इसमें अङ्गरेजों का पतन हुआ। जब ये समाचार दिल्ली पहुँचा तो पेशवा के वकील और नजीब खाँ ने पत्र का भाषान्तर फारसी में करके बादशाह को समझाया। इस सम्बन्ध में वकील ने लिखा है कि —"पढ़कर बहुत सन्तोष हुआ और कहा कि ईश्वर की कृपा से श्रीमन्त की इस प्रकार विजय होती रहे और अङ्गरेजों का पाँव बादशाहत से निकल कर बादशाहत बनी रहे, ऐसा आशीर्वाद प्रेम पूर्वक दिया और नजफ खाँ को आज्ञा दी कि तुम भी कुछ उद्योग करोगे या नहीं। अङ्गरेजों के पराभव करने की तजवीज नवाब बहादुर कहते तो बहुत है? परन्तु वह सुदिन होगा जब उन्होंने आपको जो कुछ लिखा है या मुझसे लिखाया है वह सत्य ठहरेगा।"

सन् १७८० के अगस्त मास के एक पत्र में पेशवा का वकील नाना को लिखता है कि "बादशाह पेशवा के कारभारियों पर बहुत प्रसन्न है और उन्हें बारबार आशीर्वाद देते हैं। बादशाह के स्तुति शब्द इस भाँति है कि आज आठ वर्ष हुए कि एक तो स्वयम् मालिक अज्ञान बालक है और दूसरा घर का एक घाती विद्रोह कर रहा है। अङ्गरेजों का पराभव करने के बाद भी वे लड़ने को उद्यत ही हैं। ऐसी दशा में ठहरे रहना यह दक्षिण के सरदारों ही का काम है। ईश्वर राज्य में यदि सरकार और कारभारी हो तो ऐसे ही हो। अङ्गरेजों का सर्वनाश करने में ही सब की प्रतिष्ठा है। नहीं तो जलचरा (अङ्गरेजों) के पृथ्वी पति हो जाने से पगडी की प्रतिष्ठा नहीं रहेगी। पगडी की इज्जत छोड़ कर जब टोपी पहनोगे तब तुम्हारा प्रभाव जम सकेगा।' तो भी अङ्गरेजों से मन ही मन डरते सब थे। परन्तु दिल्ली के वकील के मतानुसार जब तक 'सिंधिया के द्वारा अङ्गरेज का पतन नहीं होता तब तक उनसे दुश्मनी करने से डरते हैं।" इसी

महीने मे वकील ने फिर नाना को लिखा था कि नवीज खाँ केवल शर्म से अब तक नहीं मिला, नही तो वह पहले से ही अङ्गरेजो से मिल गया होता।

मराठो ने एक मात्र चौथ की सनद पर सारे भारतवर्ष मे धूम मचा दी थी। इस सनद मे उन्हें कर्नाटक, गुजरात, मालवा, राजपूताना, बुन्देलखण्ड आगरा, दिल्ली, बङ्गाल, रुहेलखण्ड आदि सब प्रान्तो पर चढाई करने का अधिकार मिल गया था। यह अधिकार उन्हे बादशाही नीति की दृष्टि से स्वराज्य की सनद से दिये हुए अधिकार से भी अधिक मूल्यवान प्रतीत होता था। इसी से स्वराज्य की सनद के पहले इस सनद के अनुसार काम किया। श्री पुनखरे शास्त्री ने एक स्थान पर कहा है कि "मराठो ने १७४१ मे त्रिचनापल्ली और १७५२ में त्र्यम्बक का किला लिया। सन् १७५८ मे उनका लाहौर में शासन हुआ और १७५९ में अहमद नगर हाथ में आया। स्वराज्य की सनद उन्होने बादशाह के पास से ली थी। उनका यह स्वराज्य दक्षिण मे खानदेश के पास बागलाण, मध्य महाराष्ट्र और उत्तर कर्नाटक तक फैला हुआ था। इन्हें तुरन्त लेने का उन्होंने प्रयत्न नही किया। परन्तु मौका मिलने ही स्वराज्य और उसके साथ परराज्य भी उन्होंने ले लिया।" मराठो का स्वराज्य प्रान्त पहले मुगलो ने लिया। उसके बाद वह उनके नवाब के अधिकार मे चला गया। तब उसे मुगलों और नवाब से लेने के लिये मराठो को युद्ध करना पडा और उन्हे यश प्राप्त हुआ। ऐसी दशा मे केवल स्वराज्य पर ही सन्तुष्ट होकर कैसे रह सकते थे? यद्यपि उन्हे स्वराज्य तो प्राप्त करना ही था। परन्तु परराज्य को न लेने की उन्होंने प्रतिज्ञा नही की थी। बहुत दिनों तक तो उन्हें स्वराज्य का थोडा भाग भी नही मिला था, जैसे तन्जोर। और ऐसे प्रान्तो में अर्थात् एक दृष्टि से स्वराज्य ही में महाठो को चौथ वसूल कर उसी पर सन्तुष्ट रहने का अवसर था।

चौथ के सूबे के आधार पर मराठों ने सम्पूर्ण राज्य सत्ता प्राप्त करने की जो आकांक्षा की थी उसके उदाहरण भारत वर्ष के सब प्रान्तों मे मिलते हैं। दूसरे के घर के झगडे में पडने की प्रवीणता मराठों में अङ्गरेजों ही के समान थी। कही तो उनका यह दाँव सिद्ध हुआ और कही-कही असफल। परन्तु रीति सब एक ही थी। मुगलों से चौथ का अधिकार न मिलने पर भी मराठे अपने को जहाँ तहाँ चौथ का हकदार बताते थे। इसका एक उदाहरण मैसूर राज्य का है। मैसूर मे हिन्दुओ का राज्य था। उसे मुसलमानो ने जीता न था। इसलिए नियमानुकूल मुसलमानों की ओर से इस राज्य से चौथ वसूल करने का हक मराठो को नही था। फिर मैसूर में मुसलमानी राज्य हुआ क्योंकि हिन्दू राज्य के एक नौकर मुसलमान ने बेइमानी कर राजा को पदच्युत किया और आप उसके पद पर बैठ गया। इस मुसलमान से दिल्ली के मुसलमानो का कुछ भी सम्बन्ध नही था। ऐसी दशा मे भी मराठों ने इस राज्य से चौथ माँगने मे कमी नही की। कर्नाटक मे चौथ वसूल करने का उन्हें हक था। इसके

सिवाय उस प्रान्त म उनका स्वराज्य भी था परन्तु मैसूर मे खडनी लेने का कुछ अधिकार नही था। १७५७ म सदाशिवराव भाऊ एक बडी सेना के साथ कर्नाटक गया और श्री रङ्गपट्टम् को घेर कर मैसूर के राज्य मे बेशुमार खडनी मांगी। तब लाचार हो मैसूर के कारभारी और सेनापति नन्दराज ने राज्य के १४ महाल जो कि अच्छी पैदावारो वाले थे मराठो को दिये। फिर हैदरअली के प्रबल होने पर नन्दराज न उसकी सहायता स फिर मराठो से छीन लिये। इसके बाद नन्दराज और हैदरअली म मनमुटाव हो गया। तब मराठो ने अपना घोडा फिर आगे बढ़ाने का विचार किया। इस समय मैसूर के दरबार म जो पेशवा का वकील था उसने पेशवा को एक पत्र लिखा था। यह पत्र १९१० के अप्रल मास के इतिहास सग्रह म प्रकाशित हुआ है। इस पत्र से मैसूर सम्बन्धी मराठो के कार स्थान का पता लगता है। वकील लिखता है कि "स्वामी ने आज्ञा पत्र भेजकर लिखा था कि नन्दराज सर्वाधिकारो और हैदराबाद मे मनमुटाव हो गया है सो इस समय उससे मिलकर एक करारनामा लिखा लो कि चौथ और सरदेशमुखी का शासन उसे स्वोकार है। इस मुताबिक एकरारनामा दे अपनी मुहर के साथ लिख देने पर हम हैदर नायक का पारिपत्य कर न दराज को गद्दी दिला देंगे। आज्ञानुसार आदमी भेज कर उससे करारनामा लिखा लिया है और मुहर लगवा ली है। वह हमारे पास रक्खा है। उसकी नकल और भुक्त सेवक को दिया हुआ नन्दराज का पत्र इस प्रकार दो पत्र भेजे हैं। हैदर ने नन्दराज क यहाँ बातचीत चलाई थी कि एक लाख होन लेकर वह (नन्दराज) सुख से रहे परन्तु सेवक ने यहाँ से उन्हें पत्र पर पत्र लिखे और धर्य दिलाया। तथा आपका अभय-पत्र दिखलाया। तब धीरज आया और उसने हैदर नायक की बात स्वीकार नही की कि तु आप के प्रति श्रद्धा रख आप के कहे अनुसार करारनामा लिख दिया। अब इस बात को ध्यान मे रख हैदर नायक के पारिपत्य करने का आप प्रयत्न करें। साराश यह कि आज का सा समय फिर नही आवेगा क्योकि अभी तो थोडे कष्ट से न दराज की स्थापना ही कर चौथ सरदेशमुखी का अपना शासन जमाना है, फिर आगे राज्य भी अपना हो जायगा। इसलिए इस समय आप कृपाकर पाँच हजार सेना तुरन्त भेजें।" इस पत्र पर स विदित होता है कि इस वकील के मन म यह बात अच्छी तरह समा गई थी कि चौथ रूपी पीपल क वृक्ष की जड एक बार जिस राज्य म जमी कि फिर वह बलवान होकर उस राज्य को उखाड फेंकने म समर्थ हो जाती है। इसस यह स्पष्ट मालूम होता है कि चौथ और सरदेशमुखी का अधिकार प्राप्त करना और आगे राज्य ले लेना ही मराठा की बादशाही नीति का महामन्त्र था।

ग्यारहवाँ अध्याय

उपसंहार

मराठों ने मुगल बादशाहत नष्ट तो की, पर सम्पूर्ण भारत पर राज्य चलाने की उनकी महत्वाकांक्षा सिद्ध न हो सकी, प्रत्युत उन पर स्वतंत्रता का राज्य गवाने की भी बारी आई, यह बड़े ही आश्चर्य का कारण है। मराठों के जिन कारणों से मराठाशाही नष्ट हुई उसका वर्णन हम पहले कर आये हैं, परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि केवल मराठों के दोषों के कारण ही अङ्गरेजों को सफलता मिल सकी, किन्तु उसमें अङ्गरेजों के निज के अनेक गुण भी कारणीभूत थे। अङ्गरेजों का भारत में आने का मूल हेतु व्यापार था। जिस तरह बादशाही नौकरी करते करते मराठों ने राज्य सत्ता प्राप्त की उसी तरह अङ्गरेजों ने व्यापार करते-करते राज्य प्राप्त किया। मूल में उनका उद्देश्य भले ही राज्य प्राप्ति करना न रहा हो परन्तु धीरे धीरे जब व्यापार वृद्धि के लिए राजकीय शक्ति की आवश्यकता प्रतीत हुई तब उन्होंने राज्य प्राप्त करने का उद्योग प्रारम्भ किया। इस काम में परिस्थिति उनके बहुत प्रतिकूल थी। क्योंकि एक तो उनका मूल स्थान ठहरा इङ्गलैंड, जहाँ से हजारों मील के समुद्र मार्ग द्वारा हिन्दुस्तान में आना पड़ता था, आज के समान शीघ्र गति से आने के उस समय यन्त्र भी नहीं थे, इसके सिवा रास्ते में अन्य यूरोपियन सामुद्रिकों के द्वारा बाधा पहुँचने का भी भय था, इधर भारत में मुसलमान और मराठा के समान उनके प्रबल सैनिक शत्रु भी थे जिन्हें फ्रेंचों की सहायता भी थी। ऐसी स्थिति में भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के वृक्ष की जड़ यहाँ बङ्गाल में जमाई गई और कालांतर में उसने भारत के राजा महाराजाओं की सत्ता रूपी भव्य इमारतें धड़ाधड़ ढहाकर धराशायी कर दी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पहले पहल भारत में व्यापार करना शुरू किया। फिर केवल सौ वर्षों के भीतर ही राज्य स्थापित करने की उनकी आकांक्षा बढ़ने लगी। भारत की उस समय की परिस्थिति के अनुसार अङ्गरेजों को अपनी कोठी आदि की रक्षा बिना स्वतन्त्र सैनिक शक्ति के करना कठिन था और न वे व्यापार ही बढ़ा सकते थे। क्योंकि बिना सेना के मुगलों के अधिकारियों से रक्षा नहीं की जा सकती थी। यह बात कम्पनी के यहाँ के अधिकारियों के ध्यान में अच्छी तरह आ चुकी थी। साथ ही वे यह भी जानते थे कि यदि सेना रक्खी जाय तो उसके लिये स्थायी आमदनी की आवश्यकता है और जबकि भारत में चाहे जो आकर स्वतन्त्र राज स्थापित करता है, तो फिर हम इससे वञ्चित क्यों रहें ?

१६६० में एक मशीन में कम्पनी के अधिकारियों ने इस प्रकार लिखा था कि "हम व्यापार के समान ही प्रजा से कर वसूल करो और भी सम्प देना चाहिये और बिना राज्य सत्ता स्थापित किये कर वसूल हो नहीं सकता। मान लो कि अपना व्यापार बन्द हो गया तो फिर ? व्यापार रुक जाने पर भी भारत में आना अच्छा नहीं है। इसलिए हम मजबूत नींव पर चिरकाल तक टिक सकने योग्य राज्य ही स्थापित करना आवश्यक है।' राज्य स्थापित करने के लिए सैनिक शक्ति की अधिक आवश्यकता है। बिना सैनिक के एक बार व्यापार तो सम्हाला जा सकता है, पर राज्य प्राप्ति और उसकी रक्षा बिना सैनिक शक्ति के नहीं हो सकती। और यह शक्ति, मनमें राज्य करने का निश्चय कर सैकड़ों वर्षों तक अंग्रेज सम्पादित करते रहे। फ्रेंच और अंग्रेजों में जो बैर था वह एक प्रकार से अंग्रेजों की सैनिक शक्ति बढ़ाने में उत्तेजक हुआ। भारत वर्ष में अठारहवीं शताब्दी के पहले सैकड़ों वर्ष तक में अंग्रेजों ने फ्रेन्चों से युद्ध करने में जो परिश्रम किया वह आगे जाकर भारतीय राजा रजवाड़ों से हुड़ने लड़ने में उपयोगी हुआ। इस समय अंग्रेजों ने केवल इस बात की बहुत सम्भाल रखी थी कि अपनी पूरी तैयारी होने के पहले भारतीय राजा महाराजाओं से युद्ध न हो जाय। सर अल्फ्रेड लायल कहते है कि हम अंग्रेजों के भाग्य अच्छे है जिससे हमारी तैयारी होने के पहले मराठों और हममें युद्ध नहीं हुआ। आगे जाकर जो युद्ध हुआ उनमें अंग्रेजों को पीछे हटने का अवसर कभी नहीं आया। मराठों से पहले ■ सात वर्षों के युद्धों के अन्त में जो संधि हुई उस सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि उसमें अंग्रेजों का लाभ ही अधिक हुआ। जिस प्रकार एक के उपद्रव के भय से दूसरा उसे चुप बैठा रखने के लिए कुछ देता है उसी प्रकार मराठों ने भी किया था। इतना ही नहीं किन्तु १७७५ में अंग्रेजों ने मराठों के ठीक मध्याह्न काल में भी निर्भयता से चढ़ाई कर साष्टी द्वीप ले लिया और मराठे उसे वापिस न छीन सके। ऐसी दस पाँच लड़ाइयाँ ही गिनाई जा सकेंगी, जिनमे अंग्रेजों की बहुत भारी हानि अथवा पराभव हुआ हो और ऐसे उदाहरण तो दो एक ही मिल सकेंगे जिनमें अंग्रेजों को बदनामी से भरी हुई संधियाँ करनी पड़ी हो। इतिहास के पाठकों को यह विदित ही है कि एक बार भारत के राजा महाराजाओं से युद्ध प्रारम्भ कर देने पर अंग्रेजों को एक पर एक लगातार विजय किस प्रकार मिलती गई और किस प्रकार वे राज्य प्राप्त करते गये ?

भारत में अंग्रेजों को ले दे कर सबसे बलिष्ट प्रतिस्पर्द्धी मराठा थे। जब अठारहवीं शताब्दी के अन्त में मराठों को भी अंग्रेजों के आगे नीचा देखना पड़ा तो औरों की तो बात ही क्या। अंग्रेजी सत्ता की प्रखर ज्योति फूट निकलने पर उसमें भारतीय राजा महाराजा काँच के समान पिघलने लगे। बंगाल, अवध, कर्नाटक आदि स्थानों के नवाब, जाट राजपूत आदि उत्तर भारत के राज्य बहुत थोड़े परिश्रम से

उनके आश्रय मे जाने लगे। कितनो के ऊपर तो हथियार उठाने की आवश्यकता ही नही हुई और वे स्वयम ही स्नेह की याचना करते हुये अङ्गरेजो के आश्रय मे आये। अङ्गरेजो को प्राय तीन ने अर्थात मराठे, हैदर व टीपू तथा सिक्खो ने ही अधिक त्रास दिया। किन्हीं किन्ही बातो म तो मराठो की अपेक्षा हैदर और सिक्खो ने ही अधिक त्रास दिया था। नही तो बाकी के सस्थानिको के साथ तो अङ्गरेजो ने इसी प्रकार का खेला कि पकडकर के नीचे पटक दिया और अपने तई सिर झुकवाया था। न झुकाने पर गदन तोड दी अथात राज्य नष्ट कर दिया। लाड डलहौजी के समय मे जो अनेक राज्य दत्तक लेने की इजाजत न मिलने के कारण खालसा किये गये, वे अङ्गरेजो ने कुछ जोडे थे। मालूम होता है कि राज्य सत्ता स्थापित करने के लिए यह बात की गई थी परन्तु इस का अर्थ यह भी हो सकता है कि लाड डलहौजी के समय के पहले ही अगरेजो के आगे भारतवर्ष ने ऐसा करना निश्चय कर लिया था।

अगरेजो को बिना प्रतिबध के जो यश मिलता गया उसमे उनका भाग्य तो कारण है पर यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि उसके साथ साथ उनके कुछ विशेष गुण भी कारण हुए हैं। इतिहास की चर्चा ऐतिहासिक बुद्धि से ही करना उचित है। उसमे अभिमानादि अन्य बातो की मिलावट करना उचित नही। शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि म देखने पर भी कई ऐसी बाते हैं जिनके कारण हम मराठाशाही के सम्बन्ध मे अभिमान कर सकते है। उनका हम आगे वर्णन करेंगे ही, परन्तु अगरेजो के चरित्र के सम्बन्ध म बोलने का अवसर उपस्थित होने पर भी हमे उनके चरित्र की परीक्षा पक्षपात रहित होकर ही करनी चाहिए। तब ही यह कहा जा सकेगा कि हममें शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि है।

अगरेजो के सुदैव के तीन उदाहरण दिये जा सकते है। पहला उदाहरण यह है कि मराठा और अगरेजो मे जो प्रत्यक्ष युद्ध पहले पहल हुआ यह उससे बहुत पहले होना चाहिए था पर न हो सका और महादजी सिंधिया तथा नानाफडनवीस को अङ्गरेजो के सम्बन्ध म जैसा सन्देह हुआ वैसा शिवाजी को नही हुआ, नही तो वे अङ्गरेजो को बम्बई म नही टिकने देते। इसके सिवा अङ्गरेजो का मुख्य केन्द्र बङ्गाल म था जहाँ कि उस समय मराठों का हाथ पहुँचना कठिन था। दूसरा उदाहरण यह है कि अङ्गरेजो और फ्रेन्चो का युद्ध उस समय होकर समाप्त भी हो गया जिस समय कि भारत मे नरेशो का अङ्गरेजो के राज्य योग का स्पष्ट रूप से ज्ञान भी नही हुआ। तीसरा यह है कि उन्नीसवी शताब्दी म भारत के पश्चिमोत्तर मे सिक्ख जैसे सैनिक लोगो का राष्ट्र उदय हो आया और उन्होने उस ओर सीमा प्रात का द्वार बन्द कर दिया। इन तीनो मे से यदि एक भी बात विरुद्ध हुई होती तो अङ्गरेजी राज्य के लिए भय ही था। परन्तु स्वय काल ही अङ्गरेजो का पक्षपाती हुआ और उसने बडी सहायता की। अस्तु सुदैव के साथ यदि गुणवान की प्रोढ मिले तो फिर पूछना ही क्या?

और तभी युद्ध का भी वास्तविक उपाय हो सकता है। जब मनुष्य की सहायता दैव भी वहीं तक करेगा। अङ्गरेजों में दुर्गुण के साथ साथ गुण भी थे और तभी वे सफलता प्राप्त कर सके। उनके गुण इस प्रकार गिनाये जा सकते हैं —

१—नियमितता और व्यवस्था से प्रेम।

२—धीरज।

३—कर्तव्यनिष्ठता और साहस।

४—स्वराष्ट्र प्रेम और राष्ट्र की कीर्ति की इच्छा।

५—लोकोत्तर कर्तव्यनिष्ठा।

इन गुणों के कारण ही प्रतिकूल परिस्थिति में भी वे इतना बड़ा साम्राज्य प्राप्त कर सके। यह बात नहीं है कि उनमें लोभ अन्याय की अपेक्षा, दगा, कपट, षड्यन्त्र आदि मुख्य दोष नहीं थे। उदाहरण के लिए देखिये कि मराठों पर जिन दूसरों का राज्य छीन लेने का आरोप किया जाता है, उस आरोप से अङ्गरेज भी मुक्त नहीं हैं। उन्होंने १७६४ में रुहेलों पर और अफगानिस्तान पर चढ़ाइयाँ की थीं उनका समर्थन अङ्गरेज ग्रंथकार भी नहीं करते।

इसी तरह रघुनाथराव का पक्ष लेकर अङ्गरेजों ने जो मराठों से युद्ध किया उसे भी स्वयं वारन हेस्टिंग्स ने भी अन्यायपूर्ण बतलाया है। इसमें अन्तर इतना ही था कि रुहेलों पर अन्याय करने का कलङ्क कलकत्ते वालों पर था और यह कलङ्क बम्बई वालों ने किया। इस कृत्य का वर्णन करते हुए अलफ्रेड लायल ने बम्बई वाले अङ्गरेजों को अर्थात् 'राज्य लेने की कीर्ति के भूखे' बतलाया है। मराठों को भी अङ्गरेज यही विशेषण लगाते हैं। आगरा के युद्ध में हारने पर अपनी सैनिक कीर्ति नष्ट होने के भय से अङ्गरेजों ने युद्ध जारी रक्खा और फिर कलकत्ते के अङ्गरेजों ने भी मराठों से युद्ध करने की मञ्जूरी अपने आप दी। उस समय कम्पनी में कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जो इस प्रकार के युद्ध के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि इस व्यवहार से भारतवर्ष के सब राजा महाराजा मिलकर हमें निकाल देंगे और हमारा व्यापार भी नष्ट हो जायगा। इस प्रकार का भय प्रगट करने वालों के कारण ही अङ्गरेजों ने भारत में जो काम किये हैं उनके सम्बन्ध में निंदात्मक और निषेधात्मक साहित्य देखने को मिलता है। धीरे धीरे विलायत के व्यक्तियों का यह भय भी दूर होने लगा। क्योंकि उस समय वे समझ गये थे कि हमारे राज्य लेने से भारत के राजा महाराजा भी अप्रसन्न नहीं हैं। किन्तु काम पड़ने पर हमसे मिलकर वे अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और हमारी सेना भारतवासियों की सेना से भी अच्छी है। ये बातें जब उनके ध्यान में आईं तब उन्होंने भी न्याय दृष्टि की उपेक्षा की। विलायत के न्यायप्रिय और स्वतन्त्रमतवादी पुरुषों ने भी मौन धारण कर लिया और कम्पनी के व्यापार तथा पूंजी के ब्याज को धक्का न पहुंचते हुए चाहे जो काम करो ऐसी नीति स्थिर हो गई। हेस्टिंग्स साहब पर जो

मुकदमा चला वह अन्तिम था अर्थात् उस मुकदमें के बाद फिर किसी ने कम्पनी के अन्यायपूर्ण कामों का विरोध नहीं किया। इसका कारण हेस्टिंग्स के निजी प्रतिस्पर्द्धियों की अधिकता थी। एक इसी कम्पनी को ही व्यापार करने का ठेका होने के कारण कम्पनी के भागीदारों की वृद्धि विलायतवासियों को नहीं सुहाती थी। आगे जाकर यह ठेका बन्द कर दिया गया और हर एक अङ्गरेज को भारत में जाकर व्यापार करने की आज्ञा दी गई। अतः गृह कलह भी नष्ट हो गई और इधर भारत में भारत के राजा महाराजाओं का जो भय था वह भी नहीं रहा। इस प्रकार कम्पनी सरकार के अन्याय पूर्ण कार्यों पर जो दुहरा दबाव था। उसके न रहने से लार्ड वेलेस्ली और लार्ड डलहौजी जैसे गवर्नर जनरलों ने आकर मनमाना शासन किया और मराठों को भी दबाया। उस समय अङ्गरेजों के विरुद्ध किसी ने चू तक नहीं की, यह कितना भारी आश्चर्य है।

यह कोई भी स्वीकार नहीं करेगा कि मराठों में अन्यायवादी दोष नहीं थे। अतएव मराठों और अङ्गरेजों के समान धर्मों की तुलना करने के कुछ प्रयोजन नहीं है। उन्हें तो समान समझ कर चलना ही उचित है। मराठों और अङ्गरेजों में यदि विषमता थी तो उन गुणों में थी और मराठों की अपेक्षा वे गुण अङ्गरेजों में अधिक थे। इसीलिए अङ्गरेज अपने अन्य दोषों से भी जितना लाभ उठा सके उतना मराठे न उठा सके। अंगरेजों के उक्त गुणों में से एक दो गुणों का अनुभव तो उस समय के मराठों को भी हो गया था। बाजीराव द्वितीय के समय में अव्यवस्था से स्वयं मराठी राज्य के लोगों को भी घृणा हो गई थी और इसीलिए जब बाजीरावशाही नष्ट हुई तब किसी मराठे ने उसके लिए अङ्गरेजों के विरुद्ध हाथ नहीं उठाया। यदि लोग अप्रसन्न न होते तो क्या उन्होंने पेशवा का इतना बड़ा खानदानी राज्य आँखों देखते, बात की बात में, नष्ट होने दिया होता। इससे विदित होता है कि बाजीराव के जाने के बाद अङ्गरेजों के आने पर लोगों ने इस राष्ट्रघातक राज्यक्रान्ति न समझ यही समझा होगा कि अयोग्य और अन्यायपूर्ण कृत्य करने वाले के पन्जे से भले छूट गये। जगत के इतिहास में राजा के नष्ट होने पर राजा के प्रेम से नहीं पर राष्ट्र प्रेम और स्वाभिमान के वश लड़कर राजधानी की रक्षा करने के उदाहरण कई मिलते हैं, परन्तु पूना के शनिवार-वाड़े के ऊपर से पेशवा का झण्डा उतार कर अङ्गरेजों की ध्वजा चढ़ाने वाले मनुष्य को, देशाभिमान की दृष्टि से अब अधम या नीच कुछ भी कहो पर उस समय के लोगों ने उसे अपना उपकार कर्ता ही समझा होगा, तभी अपनी छाती पर ऐसा कृत्य करने दिया। सुराज्य के उत्कृष्ट लाभों को भी हजम करने वाले स्वातन्त्र्य-नाश का परिणाम अब दिखने के कारण अङ्गरेजों के सम्बन्ध में हमारी कृतज्ञता बुद्धि में सहज कमी हो गई, परन्तु दंत कथा और कागज पत्रों पर से यही विदित होता है कि आज मर्यादित स्वराज्य माँगने के समय हमारी अङ्गरेजों के प्रति जितनी आदर बुद्धि है उसकी अपेक्षा

सौ वर्ष पहले हाथ के सम्पूर्ण स्वराज्य को खोने के समय महाराष्ट्र में अधिक आदर-बुद्धि थी। यद्यपि यह बात नहीं है कि अङ्गरेजों ने यदि बाजीराव का राज्य नहीं लिया होता तो स्वयम् पूना के लोगों ने अङ्गरेजों से राज्य लेने की प्रार्थना की होती। परन्तु यह बात सत्य है कि अङ्गरेजों के राज्य लेते समय मराठों ने युद्ध नहीं किया। सम्भाजी के बाद जब मुगलों ने महाराष्ट्र पर चढ़ाई की तब मराठों ने बीस वर्ष तक अपने जीवन को मिट्टी में मिलाकर स्वतन्त्र्य रक्षा के अर्थ युद्ध किया, परन्तु उन्हीं मराठों की चौथी पाँचवीं पीढ़ी आज के समान निःशस्त्र होने पर भी अङ्गरेजों के राज्य लेते समय कुछ न बोली। इसका कारण अवश्य वही होना चाहिए जो हम ऊपर बतला चुके हैं। उस समय अङ्गरेजों से लड़ने के लिए १८५७ की अपेक्षा भी अधिक अनुकूल परिस्थिति थी। फिर भी वे अपने घर पर चुपचाप ही बैठे रहे। इसका प्रयोजन और क्या हो सकता है। यह बात नहीं है कि यदि वे युद्ध करते तो उन्हें अवश्य सफलता मिलती ही परन्तु स्वातन्त्र्य रक्षा के लिए कोई राष्ट्र जब जान पर खेलकर लड़ने लगता है तब वह पहले सफलता असफलता का विचार नहीं करता। बोअर लोग अङ्गरेजों के विरुद्ध और बैलजियम के लोग जर्मनी के विरुद्ध लड़ने को जब तैयार हुए तब वे शत्रु को समान बली समझ कर या अपने को सफलता अवश्य मिलेगी इस भावना से तैयार नहीं हुए थे। प्रेसीडेंट क्रूगर ने कहा था कि "हम जगत को चकित कर देंगे" इसका प्रयोजन यह नहीं था कि अङ्गरेजों का नाश कर जगत को चकित करेंगे, किन्तु अपने स्वातन्त्र्य प्रेम मूलक आत्म यज्ञ से चकित करने का प्रयोजन था। परन्तु मराठे या तो स्वातन्त्र्य से घबड़ा गये होंगे या उन्हें अङ्गरेजों के आने से अधिक लाभ की आशा रही होगी इस लिये उन्होंने कुछ हलचल नहीं की।

। काम पड़ने पर उसे करने की शक्ति मनुष्य में अपने आप उत्पन्न होती है। मराठाशाही के इतिहास में इसके उदाहरण स्थान-स्थान पर दिखलाई पड़ते हैं। और न केवल पुरुषों ही के किन्तु स्त्रियों के भी उदाहरण मिलते हैं। शिवाजी की बाल्यावस्था का वृत्तान्त प्रसिद्ध ही है। पिता ने पुत्र का त्याग किया था। सिवा माता के किसी का आश्रय नहीं था। उनका हक तीन मुसलमानी राज्यों की कैंची में फंसा हुआ था और उनके विरुद्ध कार्य न करने का पिता का उद्देश्य था। ऐसी दशा में भी बाल्यावस्था में शिवाजी ने प्रशंसा के योग्य काम किये और वे अपने पर आ पड़ने के कारण नहीं, किन्तु स्वयं स्फूर्ति से और उस समय के लोकमत के विरुद्ध किये। शिवाजी ने सात आठ वर्ष की अवस्था में बीजापुर दरबार में जो स्वाभिमान का काम किया वह कम नहीं था। उसे यदि दंत कथा भी मान लें तो केवल उन्नीस वर्ष की अवस्था में शिवाजी का तोरण नामक किला लेकर राज्य पद की आकांक्षा का झण्डा गाड़ना कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। शिवाजी के समय में भी कृत्रिम शान्ति नहीं थी, अशांति ही थी। परन्तु वह तेजस्विता का पोषक थी। सम्भाजी दूसरे गुणों में कैसे ही रहे हों, परन्तु वे तेजस्वी

अवश्य थे। आठ वर्ष की अवस्था में बादशाह से मिली हुई पंचहजारी मनसबदारी का काम सरल नहीं था। परन्तु शिवाजी महाराज के साथ इतनी छोटी अवस्था मे वे दिल्ली गये और वहाँ सङ्कट पूर्वक उन्होंने बड़ी ढीठता से काम किये। केवल २५ वर्ष की अवस्था मे उन्होंने कितनी ही लड़ाइयाँ लड़ीं और लड़ाइयों पर जाकर शूरयोद्धा की कीर्ति प्राप्त की। राजाराम पर तो सम्भाजी की अपेक्षा और भी कठिन प्रसङ्ग आया था। सम्भाजी के वध हो जाने के बाद मराठो ने जो प्रचण्ड युद्ध किये उनमे राजाराम स्वयं नेता थे। और रायगढ़ से जिंजी तक जाकर उन्होंने अपनी कर्तव्यशीलता प्रकट की थी। पहले बाजीराव छोटी अवस्था से राजकीय उथल पुथल के झगड़ों मे पड़े थे। नाना साहब को केवल उन्नीस वर्ष की अवस्था मे पेशवाई मिली और उन्होंने पहले दिन से ही काम काज को देखा। नाना साहब के समान वैभवशालिनी कार्य कुशलता विरले ही स्थानो पर देखने को मिलती है और यह भी केवल ४० वर्ष की अवस्था तक। इसके बाद तो वे संसार ही छोड़ गये थे। बड़े माधवराव के सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या है? उन्होंने केवल ११ वर्ष की अवस्था मे राज्य प्राप्त किया और २७ वर्ष की अवस्था में उनकी यह लीला समाप्त हो गई। इतनी छोटी अवस्था मे इतनी कर्तव्यशक्ति चतुरता गम्भीर और प्रौढ़ बुद्धि क्वचित् ही दिखलाई पड़ती है। रघुनाथराव ने केवल २५ वर्ष की अवस्था मे दिल्ली लेकर अटक पर झण्डा उड़ाया था। नाना फडनवीस ने अर्थसचिव का काम सम्हाला था। सदाशिव राव भाऊ २५ वर्ष से कम की अवस्था में ही मण्डल मे प्रविष्ट हुए और ३० वर्ष की अवस्था मे उदयगिरि के युद्ध मे विजय प्राप्त की तथा इकतीसवें वर्ष मे पानीपत का युद्ध किया जिनमे उन्होंने अपने शौर्य की पराकाष्ठा दिखा दी। विश्वासराव उत्तर हिन्दुस्तान पर चढ़ाई करने १६ वर्ष की अवस्था मे गये थे। दौलतराव सिंधिया को पूर्ण तरुणावस्था मे सिंधिया की गद्दी मिली और उनके भले-बुरे पराक्रम केवल बीस ही में हुए। कर्तृत्व शक्ति का सम्बन्ध अवस्था से कुछ नहीं है। अतएव जो कार्य छोटी अवस्था मे किये जा सकते हैं वे बड़ी अवस्था मे नहीं किये जा सकते। ऊपर बतलाये हुए पुरुष तलवार बहादुरी राज्य कार्य कुशलता और राजनीति-शिक्षा सीखने को किसी पाठशाला मे नहीं गये थे। आधुनिक दृष्टि से देखा जाय तो उनकी शिक्षा काम चलाऊ ही थी। परन्तु किसी भी काम को करने की शिक्षा जिस तरह काम को प्रत्यक्ष करने से मिलती है वैसी अन्यत्र नहीं मिलती। आज भारत मे ३० वर्ष से कम अवस्था के तरुण यूरोपियनों को सिविलसर्विस की परीक्षा देते देख हम आश्चर्य करते हैं परन्तु जिस समय बड़े बड़े काम करने का अवसर था उस समय मराठाशाही में छोटी अवस्था वालों ने ही बड़े बड़े काम किये थे। जहाँ अवसर ही नहीं वहाँ बाल पक जाने पर भी पल्ले मे नालायकी ही पड़ती है।

एक दृष्टि से मराठाशाही को नष्ट हुए यद्यपि सौ वर्ष हो गये। परन्तु यह भी कहा जा सकता है कि दूसरी दृष्टि से वह अभी तक जीवित सी है। क्योंकि ग्वालियर

इन्दौर, धार, देवास, कोल्हापुर, अक्कलकोट, सावन्त वाड़ी, मुधोल आदि मराठों के राज्य और जाठ्ठसी, जमखंडी, राम दुर्ग प्रभृति ब्राह्मणों के राज्य अभी भी मौजूद हैं और पेशवा के वंशजों की भी छोटी सी जागीर है। नाम से बहुधा ये अङ्गरेज सरकार के साथ स्वतन्त्र सन्धि हुई है। इसलिये ये अपने को आपने की भाषा में अङ्गरेज सरकार के दोस्त कहते हैं। परन्तु दोस्त शब्द नाममात्र के लिये है। प्रत्यक्ष रीति से देखने पर उनसे स्वतन्त्र राजकीय सत्ता बहुत ही कम है। यद्यपि इनमें से कुछ नरेशों को अन्तर्व्यवस्था और न्यायादि करने का पूर्ण अधिकार है परन्तु उनका बाह्य स्वातन्त्र्य इतना सङ्कुचित है कि उन्हें, परराष्ट्र की बात तो अलग, अपने आपस के राजाओं के साथ भी बिना पोलिटिकल एजेन्ट की सम्मति के स्वतन्त्र रीति से कोई भी राजकीय व्यवहार करने की आज्ञा नहीं है। वे अपनी इच्छानुसार कुछ भी नहीं कर सकते, और यदि कर देते हैं तो उन्हें प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष कष्ट उठाना पड़ता है। कहलाते तो वे अंगरेज सरकार के बराबरी के स्नेही हैं, परन्तु स्वतन्त्रता उन्हें बृटिश प्रजा के समान भी नहीं है। अतः उनका होना न होना समान ही है। वास्तव में मराठों का स्वराज्य तो सौ वर्ष पहले ही मर चुका था।

मृत्यु के समान दूसरी हानि नहीं है। कम से कम स्वराज्य की मृत्यु के समान तो दूसरी है ही नहीं। यद्यपि यह तत्वज्ञान ठीक है कि गत वस्तु का शोक न किया जाय। परन्तु गत वस्तु की स्मृति कौन किस प्रकार नष्ट कर सकता है? सौ वर्ष का काल कुछ थोड़ा नहीं है। तो भी इतने काल में केवल चार पीढ़ियाँ ही हो सकती है और पेशवाई के स्मरण की बात तो दूर रहे चार पाँच पीढ़ियों की भी नहीं है। क्योंकि स्वयं बाजीराव बड़ी लम्बी आयु के थे। इसी तरह उनकी पुत्री बीयाबाई आपटे ने भी बड़ी आयु प्राप्त कर गत वर्ष ही (सन् १६१७) में सांसारिक लीला संवरण की है। इन बाई को हमने (मूल्य ग्रन्थकार ने) स्वयम् देखा है और उनसे बातचीत भी की है। भला जिसे स्वयं पेशवा की औरस सन्तान से बातचीत करने की और उसके द्वारा पेशवा (बाजीराव दूसरे) के सम्बन्ध में वह चाहे धुंधली स्मृति पर के ही क्यों न हो प्रत्यक्ष अनुभव का वर्णन सुनने का अवसर मिला हो, वह यदि पेशवाई को बहुत प्राचीन बात न समझे तो इसमें न तो कुछ आश्चर्य ही है और न उसका दोष ही।

केवल स्मरण से कोई भी घटना आँखों के सामने मूर्ति मन्त सी खड़ी की जा सकती है। स्वतः आँखों से न देखी हुई वस्तु के स्वरूप की कल्पना लोग अपने मन मुताबिक कर सकते हैं, पेशवाई में किसी भी पुरुष या स्त्री को हमने और पाठकों ने नहीं देखा है और न उनके कोई चित्र ही। परन्तु आँखें बन्द कर स्मरण करने से पेशवाई ही का क्या महाभारत और रामायण के पात्रों का भी हमें भिन्न स्वरूप से दर्शन प्राप्त हो सकेगा। मन वास्तव में एक दिव्य चित्रकार है और काल को भी जीत लेता है, परन्तु मन की कल्पना से निर्मित चित्रों के द्वारा किसी गत बात को प्रत्यक्ष

व्यवहार में लाना हो नहीं सकता । अत काल यहाँ पर अपना पूरा बदला लेता है ।

मनुष्य जो गत घटनाओं का स्मरण करता है वह उन्हें प्रत्यक्ष व्यवहार मे लाने ही के लिये नही करता । क्योकि हम अपने वन्दनीय पूर्वजो का स्मरण करते हैं । परन्तु उन्हें फिर जिलाने की नियत से नहीं । यदि हमारे स्मरण रूपी अमृत के सिन्चन से वे पुनर्जीवित हो सके तो फिर उन्हें ससार मे रहने को स्थान ही पूरा न हो और भविष्य की सन्तान के लिये भी रहने की चिन्ता का प्रश्न उपस्थित हो जाय । इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान मे रखनी चाहिए कि यदि मृत मनुष्यों को हम स्मृति से फिर जीवित कर सकें तो उनको दोष रहित जीवन करना हो हम चाहेंगे । दोषी व्यक्तियों को जिलाने से लाभ ही क्या ? गत काल का स्मरण करना कौतुकस्पद और अभिमानास्पद है और गत काल के चुने हुए उत्तम व्यक्तियो को यदि हम जीवित कर सकें तो हम उनकी भीड को सहय ही न कर सकेंगे, किन्तु यदि वे बदल के सिवा न मिल सकेंगी तो हम उनके बदले मे अपने प्राण भी देने को तैयार हो जावेंगे और उनके बदले में स्थान खाली कर देंगे । लेकिन गत काल के होने के कारण क्या हम सदोष व्यक्तियो को भी जिलाना चाहेंगे ? त्र्यम्बक जी डेङ्गले, दूसरे बाजीराव, चन्द्रराव मोरे, सर्जेराव घाटके आदि ऐतिहासिक हैं, पर क्या आज हम इन्हें स्वीकार कर सकते हैं ? नहीं, क्योंकि जब वे अपने ही समय के पुरुषों को अप्रिय थे तो हमें प्रिय कैसे हो सकते हैं ? केवल इतिहास प्रसिद्ध होना ही वास्तविक कीर्ति नहीं है । जो व्यक्ति अपने निजी सद्गुणों के कारण नामांकित और कीतिमान हो चुका है वह ही यदि फिर मिले तो हम प्राप्त करना चाहते हैं और जिसने अपने दुष्टाचरण से इतिहास को कलङ्कित किया और राष्ट्र की हानि की, उसका काल के उदर मे हजम हो जाना ही अच्छा है । उसकी दुरस्मति जो आज भी हमारे मन में शल्य के समान ठोंचा मारती है उतनी ही बहुत है ।

यह भी एक प्रश्न ही है कि स्वयम काल हमारे लिए योग्य व्यक्तियों को जीवित छोड़ेगा या नही । जिस तरह एक आध व्यवहार चतुर व्यापारी अच्छी और खराब चीजों का मिश्रण कर बेंचता है, उसमें से छाँटने नही देता उसी तरह काल ने कुशलता पूर्वक प्रत्येक पीढ़ी मे अच्छे और बुरे तरह के मनुष्यों का मिलाया है । अत वह हमे अच्छे अच्छे व्यक्तियो की ही कैसे लेने देगा ? यदि ऐसा नहीं होता तो एक पीढ़ी तो सुगुणी अच्छे मनुष्यों की और दूसरी सम्पूर्ण बुरे मनुष्यों की हो जायगी और इस तरह ईश्वर की लीला वैचित्र्य सिद्ध नहीं हो सकेगी ।

पूर्वजों के गत काल को हम दो दृष्टि के बिन्दुओं से देखते हैं । एक तो अभिमान की दृष्टि से, दूसरे इतिहास और विवेक की दृष्टि से । अभिमान की दृष्टि में अच्छे बुरे का भेद नहीं होता और कुछ सीमा तक गुण दोष भूल कर गत का अभिमान करना स्वाभाविक और योग्य भी दिखता है । अभिमान की दृष्टि से स्वकीयो के इतिहास रूपी पर्वत की शिखर कर्तृत्वरूपी शुभ हिम से ढकी हुई और कीर्तिरूपी

उज्ज्वल सूर्य के प्रकाश में चमकती हुई दिखाई पड़ती है जिसको अभिमान दूर से और कौतुक बुद्धि से देखता है। परन्तु ऐतिहासिक बुद्धि पास जाकर शोधक बुद्धि से देखती है। अतः उसे स्वकीयों के इतिहास पर्वत का गडबडखान, ऊंचा-नीचा भाग, उसकी भयंकर गुफाएं और उनमें के भयंकर जन्तु विषैले कृमि, कृमियों का क्षय आदि सब दिखाता है और इनकी शोध करनी पड़ती है।

श्रीयुत राजवाड़े के समान मराठाशाही का अभिमान करने वाला दूसरा मराठा शायद नहीं मिलेगा परन्तु इन्होंने भी अपने तीसरे खण्ड की प्रस्तावना में निम्न लिखित उद्गार प्रगट किये हैं —

सन् १७९६ से १८१८ ई० तक बाजीराव के शासन काल में, लड़ाई झगड़े, परस्पर द्वेष, द्रोह, स्वार्थी भ्रष्टाचार आदि सब कुछ हुआ और अन्त में भारत वर्ष से मराठों की सत्ता नष्ट होने का समय आ गया। दुष्ट, भ्रष्ट, डरपोक, अविश्वासी और अकर्मण्य बाजीराव से यदि सब सरदारों का द्वेष हो गया था, तो उसे निकाल कर दे अपनी संयुक्त सत्ता को बनाये रख सकते थे। सिंधिया, होलकर, गायकवाड़ पटवर्धन प्रभृति सरदार संयुक्त सत्ता को रखने में समर्थ नहीं थे। यह बात भी नहीं है, वे समर्थ अवश्य थे। महाराष्ट्र के शिलेदार, गुणी गृहस्थ साधु सन्त, भिक्षुक और शास्त्री भी कहीं भाग नहीं गये थे। अर्थात उस समय भी सब कुछ था, परन्तु यदि नहीं थे तो परस्पर विश्वास और देशाभिमान आदि राष्ट्रीय सत्ता के मुख्य अङ्ग, और इनके न होने से सब लोगों ने बाजीराव को बहाजाते हुए बड़ी खुशी से देखा। ब्रह्मेन्द्र स्वामी के पढ़ाये हुए चुगली करने, लड़ने, झगड़ने और विश्वासघात करने के पाठ को दो पीढ़ी तक न भूलने ही का यह परिणाम था। औरंगजेब के समय में जिस राष्ट्र के मनुष्यों ने स्वातन्त्र्य रक्षार्थ प्राण पन से चेष्टा की थी उसी राष्ट्र के लोग बाजीराव के समय में स्तब्ध और उदासीन होकर बैठ गये। रामदास और परशुराम के उपदेश के ये भिन्न परिणाम हुए। १७९५ में नाना फड़नवीस के जमाने में जो इमारत बड़ी मजबूत दिखती थी उसके पश्चात दस पाँच वर्षों में उसका धराशायी हो जाना लोगों को आश्चर्य चकित करता है। परन्तु इस राष्ट्रीय नीजिमत्ता, ब्रह्मेन्द्र स्वामी से लेकर दो तीन पीढ़ियों में गिरते गिरते बाजीराव के समय में पूर्ण तया नष्ट हो गई। इस बात पर यदि ध्यान दिया जाय तो फिर आश्चर्य करने का का कोई कारण ही न रहे। नाना फड़नवीस के समय में ही महादजी सिंधिया, तुकोजी, होलकर, फतेहसिंह, भोंसले पटवर्धन आदि महाराष्ट्र साम्राज्य के सरदारों ने पर राष्ट्रों से सन्धि कर अपने संयुक्त सत्ता को आघात कर दिया था। और नाना फड़नवीस सरीखे नीतिवान नीतिज्ञ के चले जाने पर यह अनीतिमत्ता अनियन्त्रित हो गई और इस तरह ब्रह्मेन्द्र स्वामी ने जो वृक्ष लगाया था उसमें कडुवा फल लगा।

राजवाड़े महाशय के लिखने में ब्रह्मेन्द्र स्वामी ही मुख्य हैं, परन्तु इसे यदि

एक उपलक्षण भी मान लें तो भी,मराठाशाही के बहुत अभिमान को भी ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर मराठा शाही के सम्बन्ध मे कितनी कठोरता से बोलना पड़ता है यह ऊपर के उद्धरण से विदित होगा।

हम लोग आज जो मराठाशाही का स्मरण कर रहे हैं वह जैसी की वैसी या सुधरी हुई मराठाशाही को पुन प्रतिष्ठित करने की इच्छा से नही कहते। और इच्छा हो भी तो हमारी आज शक्ति नहीं है यह हम अच्छी तरह समझते हैं। मराठाशाही रखने की शक्ति आज की अपेक्षा उस समय के लोगों मे सौ गुनी अधिक थी और आज की हमारी परिस्थिति इस काय की दृष्टि से उल्टी सौ गुनी कम है।

सन् १९११ में हम (मूल ग्रंथकार) बम्बई गवनर के एक कौंसिलर माननीय मारिसन से कुछ कारणों से मिलने के लिए गए थे। उनसे और जो बातचीत हुई थी उसका यहाँ हम स्मरण होता है। उस समय वे कुछ क्रोध के आवेश मे थे। वे बोलते बोलते उछलकर कहने लगे कि "तुम्हारे समाचार पत्र को हाथ म लेते ही बिना पढे मेरी ऐसी धारणा हो जाती है कि राजद्रोह लेख होना ही चाहिए। तुम्हारे मन में क्या विचार घुलते हैं वह मैं अच्छी तरह जानता हूँ।" इस पर हमने कहा कि "आप जब मन की बातें सब जानते है तो मेरे मन में क्या है उसे स्पष्ट ही कह दीजिए न जिसम मैं उसका स्पष्टीकरण कर सकूं।" साहब ने उत्तर दिया कि "तुम्हारे मन मे दो तरह क विचार हैं, एक तो तुम्हारा स्वत का जो मराठी राज्य नष्ट हुआ है उस विषय म तुम्हें दुख होता है। दूसरे तुम अङ्ग्रेजो का बोरिया बसना बाँधकर भगा देना चाहते हो।" इस पर मैंने (मूलग्रन्थकार ने) फिर उत्तर दिया कि—"आपने मुझ पर दो आरोप किये हैं। उनमे स पहले को तो मैं स्वीकार करता हूँ कि सौ वर्ष पहले इसी शहर म हमारा मराठी राज्य था इसका मुझे अभिमान है और उसके नष्ट होने से हम हृदय स दु ख है। पेशवाई देखे हुए मनुष्यो से जिन्होंने बातचीत की है ऐसे मनुष्यो से जब कि हम आज प्रत्यक्ष म बातचीत करते हैं तब इतने नजदीक की घटना को हम भूलना चाहे तो नहीं भूल सकते। उसका स्मरण कर खेद होना मनुष्य स्वभाव के अनुकूल ही है, परन्तु मुझ पर जो आप दूसरा दोषारोपण करते हैं, वह सत्य नहीं है क्योंकि पेशवाई के गुणो के साथ साथ दोष भी हम जानते हैं। इसके सिवा यदि यह मान भी लिया जाय कि हम पेशवाई को पुन प्रस्थापित करना चाहते हैं तो इष्टानिष्ट, शक्यता, अशक्यता का विवेचन करने की बुद्धि मुझ मे और मेरे मत के अन्य मनुष्यो मे ईश्वर ने नहीं दी, यह आप कैसे मानते हैं?

अस्तु, मराठे अपने गत नाम के अभिमान को कभी नही भूलेंगे यह हमे आशा है। इसी तरह इतने मूख भी नही बनगे कि नवीन परिस्थिति न पहिचाने। आज जो उनकी सम्पूर्ण भारत मे प्रतिष्ठा है उसका उनके देशाभिमान के साथ साथ समयज्ञता भी एक कारण है। पहले जिस तरह मराठे दिल्ली तक दौडकर जाते थे उसी तरह

उज्ज्वल सूर्य के प्रकाश में चमकती हुई दिखाई पड़ती है क्योंकि अभिमान दूर से और कौतुक बुद्धि से देखता है। परन्तु ऐतिहासिक बुद्धि पास जाकर शोधक बुद्धि से देखती है। अत उन स्वर्णों के इतिहास पर्वत का गड़बड़स्थान, ऊँचा-नीचा भाग, उसकी भयंकर गुफाएँ और उसमें के भयंकर जन्तु, विषैले वृक्ष, कंटीली घास आदि सब दिखता है और इनकी खोज करनी पड़ती है।

श्रीयुक्त राजवाडे के समान मराठाशाही का अभिमान करने वाला दूसरा मराठा शायद नहीं मिलेगा परन्तु इन्होंने भी अपने तीसरे खण्ड की प्रस्तावना में निम्न लिखित उद्गार प्रगट किये हैं —

सन् १७९६ से १८१८ ई० तक बाजीराव के शासन काल म, लड़ाई झगड़े, परस्पर द्वेष, डाह, यादवी भ्रष्टाचार आदि सब कुछ हुआ और अन्त म भारत वर्ष से मराठों की सत्ता नष्ट होने का समय आ गया। दुष्ट, भ्रष्ट, डरपोक, अविश्वासी और अकर्मण्य बाजीराव से यदि सब सरदारों का द्वेष हो गया था, तो उसे निकाल कर दे अपनी संयुक्त सत्ता को बनाये रख सकते थे। सिंधिया, होलकर, गायकवाड़ पटवर्धन प्रभृति सरदार संयुक्त सत्ता को रखने म समर्थ नहीं थे। यह बात भी नहीं है, वे समर्थ अवश्य थे। महाराष्ट्र के शिलेदार, सुखी गृहस्थ साधु, सन्त, भिक्षुक और शास्त्री भी कहीं भाग नहीं गये थे। अर्थात उस समय भी सब कुछ था, परन्तु यदि नहीं थे तो परस्पर विश्वास और देशाभिमान आदि राष्ट्रीय सत्ता के मुख्य अङ्ग, और इनके न होने से सब लोगों ने बाजीराव को ब्रह्मावर्त जाते हुए बड़ी खुशी से देखा। ब्रह्मेन्द्र स्वामी के पढ़ाये हुए, चुगली करने, लड़ने, झगड़ने और विश्वासघात करने के पाठ को दो पीढ़ी तक न भूलने ही का यह परिणाम था। औरंगजेब के समय में जिस राष्ट्र के मनुष्यों ने स्वातन्त्र्य रक्षार्थ प्राण पन से चेष्टा की थी उसी राष्ट्र के लोग बाजीराव के समय मे स्तब्ध और उदासीन होकर बैठ गये। रामदास और परशुराम के उपदेश के ये भिन्न परिणाम हुए। १७९५ मे नाना फड़नवीस के जमाने में जो इमारत बड़ी मजबूत दिखती थी उसके पश्चात दस पाँच वर्षों म उसका धराशायी हो जाना लोगों को आश्चर्य चकित करता है। परन्तु इस राष्ट्रीय नीतिमत्ता, ब्रह्मेन्द्र स्वामी से लेकर दो तीन पढ़ियों मे गिरते गिरते बाजीराव के समय मे पूर्ण तया नष्ट हो गई। इस बात पर यदि ध्यान दिया जाय तो फिर आश्चर्य करने का का कोई कारण ही न रहे। नाना फड़नवीस के समय म ही महादजी सिंधिया, तुकोजी, होलकर, फतेहसिंह, भोंसले पटवर्धन आदि महाराष्ट्र साम्राज्य के सरदारों ने पर राष्ट्रों से संधिकर अपने संयुक्त सत्ता को आधा कर दिया था। और नाना फड़नवीस सरीखे नीतिवान नीतिज्ञ के चले जाने पर यह अनीतिमत्ता अनियन्त्रित हो गई और इस तरह ब्रह्मेन्द्र स्वामी ने जो वृक्ष लगाया था उसमें कड़ुवा फल लगा।

राजवाडे महाशय के लिखने मे ब्रह्मेन्द्र स्वामी ही मुख्य हैं, परन्तु इसे यदि

एक उपलक्षण भी मान लें तो भी मराठाशाही के कट्टर अभिमान को भी ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर मराठा शाही के सम्बन्ध में कितनी कठोरता से बोलना पड़ता है यह ऊपर के उद्धरण से विदित होगा।

हम लोग आज जो मराठाशाही का स्मरण कर रहे हैं वह जैसी की वैसी या सुधरी हुई मराठाशाही को पुनः प्रतिष्ठित करने की इच्छा से नहीं कहते। और इच्छा हो भी तो हमारा आज शक्ति नहीं है, यह हम अच्छी तरह समझते हैं। मराठाशाही रखने की शक्ति आज की अपेक्षा उस समय के लोगों में सौ गुनी अधिक थी और आज की हमारी परिस्थिति इस कार्य की दृष्टि से उल्टी सौ गुनी कम है।

सन् १९११ में हम (मूल ग्रंथकार) बम्बई गवर्नर के एक कौंसिलर माननीय मारिसन से कुछ कारणों से मिलने के लिए गए थे। उनसे और जो बातचीत हुई थी उसका यहाँ हम स्मरण होता है। उस समय वे कुछ क्रोध के आवेश में थे। वे बोलते बोलते उछलकर कहने लगे कि "तुम्हारे समाचार पत्र को हाथ में लेते ही बिना पढ़े मेरी ऐसी धारणा हो जाती है कि राजद्रोही लेख होना ही चाहिए। तुम्हारे मन में क्या विचार घुलते हैं यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ। इस पर हमने कहा कि "आप जब मन की बातें सब जानते हैं तो मेरे मन में क्या है उसे स्पष्ट ही कह दीजिए न जिसमें मैं उसका स्पष्टीकरण कर सकूं। साहब ने उत्तर दिया कि "तुम्हारे मन में दो तरह के विचार हैं, एक तो तुम्हारा स्वत का जो मराठी राज्य नष्ट हुआ है उस विषय में तुम्हें दुख होता है। दूसरे तुम अंग्रेजों को बोरिया बसना बांधकर भगा देना चाहते हो। इस पर मैंने (मूलग्रन्थकार ने) फिर उत्तर दिया कि—"आपने मुझ पर दो आरोप किये हैं। उनमें से पहले को तो मैं स्वीकार करता हूं कि सौ वर्ष पहले इसी शहर में हमारा मराठी राज्य था इसका मुझे अभिमान है और उसके नष्ट होने से हम हृदय से दुःख है। पेशवाई देखे हुए मनुष्यों से जिन्होंने बातचीत की है ऐसे मनुष्यों से जब कि हम आज प्रत्यक्ष में बातचीत करते हैं तब इतने नजदीक की घटना को हम भूलना चाहें तो नहीं भूल सकते। उसका स्मरण कर खेद होना मनुष्य स्वभाव के अनुकूल ही है, परन्तु मुझ पर जो आप दूसरा दोषारोपण करते हैं, वह सत्य नहीं है क्योंकि पेशवाई के गुणों के साथ साथ दोष भी हम जानते हैं। इसके सिवा यदि यह मान भी लिया जाय कि हम पेशवाई को पुनः प्रस्थापित करना चाहते हैं तो इष्टानिष्ट, शक्यता, अशक्यता का विवेचन करने की बुद्धि मुझ में और मेरे मत के अन्य मनुष्यों में ईश्वर ने नहीं दी, यह आप कैसे मानते हैं?"

अस्तु, मराठे अपने गत नाम के अभिमान को कभी नहीं भूलेंगे यह हमें आशा है। इसी तरह इतने मूर्ख भी नहीं बनेंगे कि नवीन परिवर्तन न पहिचाने। अब जो उनकी सम्पूर्ण भारत में प्रतिष्ठा है उसका उनके देशाभिमान के साथ साथ दक्षता भी एक कारण है। पहले जिस तरह मराठे दिल्ली तक दौड़कर जाते थे

आज भी जाते हैं और उस समय का तथा आज का कारण भी वही राजकीय महत्वाकांक्षा है। परन्तु पहले की अपेक्षा आज एक दूसरे ही अर्थ से वे सारे भारत को अपना देश समझने लगे हैं। इसी तरह देश के दूसरे भागों के निवासी भी पहले जो मराठों से द्वेष रखते थे अब नहीं रखते। प्रत्युत बन्धुत्व के नाते से व्यवहार करते हैं। कलकत्ते की सीमा पर मराठा डिच अर्थात् मराठा खाई नामक जो स्थान आज भी मौजूद है उसे बङ्गाली और मराठे दोनों नहीं भूले हैं और मराठों का नाम जो वहाँ (बङ्गाल में) अपकीर्ति का कारण हो गया था वह अपकीर्ति भी नष्ट हो गई है। पालने में सोये हुए अज्ञान बङ्गाली बालकों को डराने में जिस शब्द का उपयोग किया जाता था उस नाम का आज तरुण और प्रौढ़ बङ्गाली भी प्रेम और कौतुक से आदर करते हैं।

अभिमान का विषय जिस तरह बढ़ता है उसी तरह स्वयं अभिमान भी बढ़ता है। इस लिये मराठों को, 'मराठा' नाम की अपेक्षा 'हिन्दवासी' यह नाम अधिक प्रिय होने लगा है। स्काच लोग स्काच नाम का उपयोग वर्ष में एक दिन अर्थात् सेंट एन्ड्रूज़ नामक साधु पुरुष का पुण्य तिथि के दिन करते हैं और इसी नाम से जयघोष करते हैं। परन्तु शेष ३६४ दिनों में वे अपने को ब्रिटिश ही कहलाने में प्रसन्न होते हैं। उसी प्रकार मराठों में भी स्थिति के अनुसार अन्तर हो गया है और जब कि वे सारे भारतवर्ष को अपना देश मानने लगे हैं तब स्वतः को मराठे कहलाने की अपेक्षा 'भारतीय' कहलाने में उन्हें अधिक अभिमान होना स्वाभाविक है। पूर्व काल में मराठों ने युद्ध में विजय प्राप्त की थी, आज वे शान्ति में विजय प्राप्त कर रहे हैं, और भविष्य की विजय किस प्रकार की होगी यह परमेश्वर ही जाने।

* समाप्त *